Digitized by eGangotri

गुरु गोबिन्द सिंह
और
खालसा पंथ की स्थापना

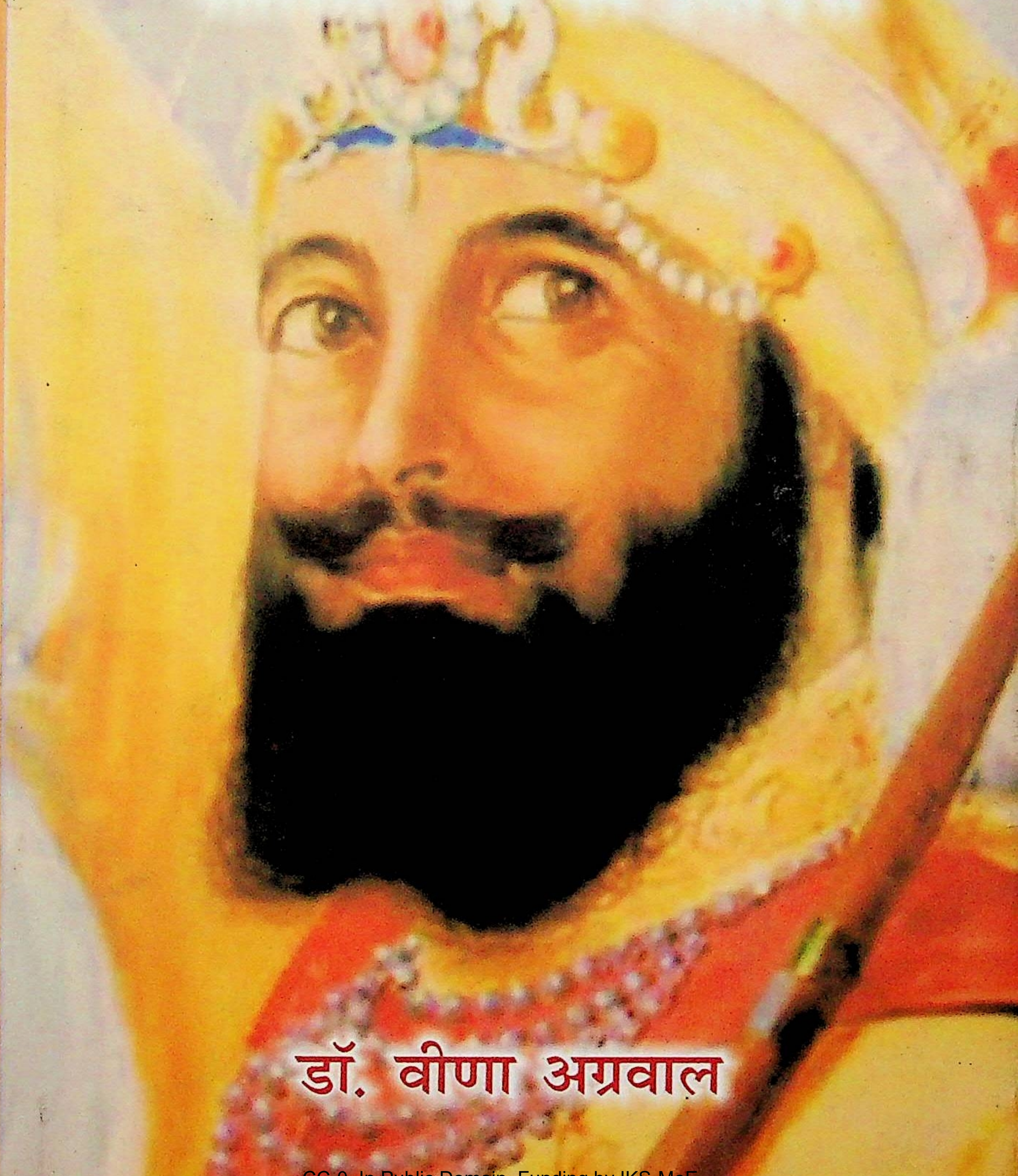

डॉ. वीणा अग्रवाल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

2+L
A153

गुरु गोबिन्द सिंह के विराट व्यक्तित्व में विरोधी धाराएँ और अवधारणाएँ एक साथ दिखती हैं। इस दृष्टि से देखें तो उनके व्यक्तित्व और रचनाओं में 'विरुद्धों के सामंजस्य' की अपूर्व छटा नज़र आती है। एक तरफ वे संत हैं तो दूसरी तरफ योद्धा, एक तरफ वे गुरू हैं तो दूसरी तरफ समाज सुधारक। दुष्ट-दलन के लिए यदि वे हाथ में तलवार उठा लेते हैं, तो निपट-निरीह जनता के लिए उनकी आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बह निकलती है। इस व्यापक फलक पर उन्होनें अपनी साधना, कार्यक्षेत्र, संगठन और वाणी को संयोजित किया है।

'गुरु गोबिन्द सिंह और खालसा पंथ की स्थापना' पुस्तक में गुरु जी के बहुआयामी व्यक्तित्व के इन्हीं विविध पक्षों को खालसा पंथ की स्थापना के विशेष संदर्भ में उद्घाटित किया गया है। गुरु जी के लिए खालसा पंथ की स्थापना महज़ एक संगठन का निर्माण नहीं था, संगठन के साथ-साथ वह एक मानवीय परिकल्पना थी--अन्याय और अत्याचार के विरोध में विद्रोह, शहादत और क्राँति की एक नयी सकर्मक कार्यवाही थी। निश्चय ही यह एक नयी जीवन-शैली और जीवन-दर्शन है। इस पुस्तक की लेखिका डॉ. वीणा अग्रवाल ने इस 'शैली' और 'दर्शन' को उनके साहित्य के संदर्भ में व्यख्यायित करते हुए उसे मानवीय बिन्दु पर एकाग्र किया है। निःसंदेह यह पुस्तक अध्ययन के इस क्षेत्र की एक विशेष उपलब्धि है।

शेष अगले फ्लैप पर...

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Acc No. 60641

Digitized by eGangotri

24/4/26

स्कैन्ड/ Scanned

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गुरु गोबिन्द सिंह
और
खालसा पंथ की स्थापना

C. No ↓
34074
20-9-13

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

Guru Gobind Singh Aur Khalsa
Panth Ki Sathapna -
272
A1S3

गुरु गोबिन्द सिंह
और
खालसा पंथ की स्थापना

डॉ. वीणा अग्रवाल

स्कैन्ड/ Scanned

SPS
294.663 A 11 G
60641

KBD

कल्पना बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स
दिल्ली - 110033

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अपनी ओर से

कुछ वर्ष पूर्व गुरु गोबिन्द सिंह जी की जन्मभूमि, पटना साहिब गुरुद्वारे के पावन-पुनीत वातावरण में गुरुबाणी पाठ का आस्वादन करते हुए, गुरु जी की ये पंक्तियाँ सुनने को मिलीं–**''देहु सिवा वर मोहे इहै/सुभकर्मन ते कबहुं न डरौं/न डरौं अरि से जब जाय लरौं निसचै कर अपनी जीत करौं।''** यों बचपन से अब तक अनेक बार ये बोल मेरे कानों में गूँजे थे, समय-समय पर मैंने इन्हें दोहराया भी था, किंतु गुरुद्वारे में रागी बंधुओं ने जब भाव-विभोर होकर इन शब्दों में निहित मंतव्य की गंभीर व्याख्या की, तो इनमें छिपे मानवीय सरोकार की सघनता ने मेरे हृदय को अभिभूत कर लिया। सामूहिक अवचेतन पर पड़ने वाले इन के सार्थक प्रभाव की कल्पना करते-करते मैं स्वयं अपने बचपन में खो गई। मुझे स्मरण हो आये, उस गीत के बोल, जो घर के पास वाले गुरुद्वारे से अक्सर सुनाई दिया करते थे–

''माछीवाड़े विच बैठा, शहंशाह जहान दा,
हथ विच खंडा पिछे, ढासणा कमान दा।''

''पिताजी, हथ विच खंडा क्यों? ढासणा कमान दा ही क्यों?'' पुत्री की इन बाल-सुलभ जिज्ञासाओं का पिता ने तब क्या उत्तर दिया, यह मुझे ठीक-ठीक याद नहीं है, हाँ इतना याद है कि ये पंक्तियाँ एक अनुगूँज की तरह मेरा पीछा करती रहती थीं।

गुरु गोबिन्द सिंह तो गुरु हैं, संत हैं, फिर हाथ में तलवार और तीर-कमान क्यों? मुझे तो आज तक उन गुरुओं का ही पता था, जिनसे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अभिभूत होकर शिष्य उन्हें नमन किया करते थे या फ़िर मैंने उन सैनिकों के बारे में सुना था, जो देश की स्वाधीनता को बनाए रखने के लिए शस्त्र धारण कर सीमाओं पर लड़ते हैं। मेरे बाल-मन पर अंकित ये दोनों बिम्ब अलग-अलग तरह के थे, एक दूसरे में मिला कर देखने से जो गड्ढमड्ढ हो जाते थे। गुरु गोबिन्द सिंह जी का जो चित्र मैंने देखा था, वह संत का बाना पहने आँखों के सामने तैरने लगता, किन्तु अगले ही क्षण संत के हाथ में कृपाण आ जाती, पीठ पीछे कमान दिखाई देती और वेशभूषा भी सैनिक की हो जाती।

संत और सिपाही वाले इन दोनों रूपों में से कौन सा रूप वास्तविक है, यह सोच-सोचकर दुविधा होती थी। इस उधेड़बुन ने गुरु जी के बारे में और अधिक जानने की आतुरता को जन्म दिया और बड़े होते-होते इन दोनों रूपों के साथ-साथ गुरु जी के बहुआयामी व्यक्तित्व के अन्य अनेक पहलू भी धीरे-धीरे मेरे सामने खुलते गये। वे सब आयाम कैसे मेरे भीतर एक पाठ की तरह गूँजते रहे और मुझे प्रेरित करते रहे, यह कार्य करने के लिए, मैं ठीक से आज तक नहीं जान सकी। हाँ, कुछ था ज़रूर जो मुझे उस तरफ़ धकेलता था, उद्वेलित करता था कि अपने भीतर बजते उस पाठ के भीतर से मैं एक आलोचनात्मक पाठ तैयार करूँ, जो एक सुपरिचित वाणी को मेरे वर्तमान से जोड़ दे। यह एक भीतरी पुकार थी, जिसे रोकना मेरे लिए संभव नहीं था। प्रारंभ में उलझन सी महसूस हुई, लेकिन जैसे-जैसे काम करती गई और गुरु जी की रचनाओं को विधिवत अध्ययन करती गई, मेरे लिए रास्ता सरल होता गया। अध्ययन के इस क्रम में, अन्याय के विरुद्ध संघर्षशील गुरु का 'संत उबारन', 'दुसट उपारन' वाला जुझारू रूप मेरे मन-मस्तिष्क में बस गया और बचपन से पिता द्वारा घुट्टी में पिलाए गुरु तेग बहादुर के सिद्धान्त–**'भै काहू को देत नाही, न भै मानत आनि'** में मेरी जो आस्था थी, वह और अधिक सुदृढ़ होती चली गई। और अब तो गुरु गोबिन्द सिंह की यह उक्ति–**'चूंकार अज़ हमह हीलते दरगुज़श्त, हलालस्तु बुर्दन बशमशीर दस्त**[1]–मेरी जीवन दृष्टि में कुछ इस प्रकार रच बस गई है कि आज किसी भी क्षेत्र में अन्याय को

1. समस्या के समाधान के लिए सभी उपाय निःशेष हो जाने पर अत्याचार और अधर्म के विरुद्ध खड्ग धारण करना सर्वथा श्रेयस्कर है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बर्दाश्त करना तो दूर, उसके प्रति मेरे मन में तीव्र विद्रोह की भावना जाग उठती है।

गुरु गोबिन्द सिंह के साहित्य के अध्ययन के दौरान मैंने पाया कि एक केन्द्रीय मानवीय सूत्र है, जो गुरु जी के व्यक्तित्व और रचनाओं के लगभग सभी पहलुओं में बड़े सूक्ष्म और संशिलष्ट रूप में आदि से अंत तक पिरोया हुआ है। यही मानवीय सूत्र उनके कृतित्व से होता हुआ हमारे वर्तमान से आ जुड़ता है। अपने अध्ययन में मैंने इसी सूत्र के सहारे उनके सृजन और कार्यक्षेत्र के सभी पक्षों, उनसे लिपटे विभिन्न धरातलों को समझने और उनमें एक तारतम्य बिठाने का विनम्र प्रयास किया है। प्रस्तुत पुस्तक इस अध्ययन शृँखला की पहली कड़ी है। अध्ययन के इस क्रम की अगली कड़ी गुरु गोबिन्द सिंह की वाणी में निहित मानवीय चेतना से संबद्ध होगी।

आभारी हूँ–

उन विद्वानों, साहित्यकारों एवं सहकर्मियों के प्रति, जिनके सत्परामर्श एवं मार्ग-दर्शन से यह कार्य संभव हुआ।

उन विद्वान लेखकों के प्रति, जिनके मौलिक अथवा अनूदित ग्रंथों का मैंने इस पुस्तक में उपयोग किया है।

उन शुभचिंतक मित्रों की, जिन्होंने इस कार्य को प्रारंभ करने की प्रेरणा दी तथा पुस्तक के परिष्कार के संबंध में उपयुक्त सुझाव दिए।

उन आत्मीयजनों के प्रति, जिनके स्नेह एवं आशीर्वाद से मैं विपरीत परिस्थितियों में भी, सदा आगे बढ़ते रहने की ऊर्जा प्राप्त करती हूँ।

परिवार के सभी सदस्यों, खास तौर पर पति श्री बृजपाल के प्रति, असुविधाएँ झेल कर भी जो पारिवारिक वातावरण को मेरे शैक्षिक कार्यों के अनुकूल बनाए रखते हैं।

कालेज के प्राचार्य डॉ. दलजीत सिंह कलेर के प्रति, जिनके सहयोग एवं प्रोत्साहन से अध्ययन की प्रक्रिया निर्विघ्न चलती रही।

कालेज के पुस्तकालय विभाग के सभी सदस्यों, विशेष तौर पर पुस्तकालय अध्यक्ष स. वरयाम सिंह के प्रति, जिनका सहयोग मेरे अध्ययन-अध्यापन एवं लेखन के लिए सदा महत्त्वपूर्ण रहा है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उन पुस्तकालयों एवं गुरुद्वारों की भी, जिन्होंने अपने मुद्रित-अमुद्रित ग्रंथों तथा पत्र-पत्रिकाओं को मेरे लिए सुलभ कराया।
मै. हिमाँशु प्रिंटर्स की, जिन्होंने तत्परता से पुस्तक का टंकण किया तथा मै. के.के. पब्लिकेशन्स की, जिन्होंने अत्यंत लग्न से इसे इस रूप में प्रकाशित किया।
गुरु गोबिन्द सिंह की वाणी का अध्ययन करने, (ऐसा कोई भी अध्ययन संपूर्ण नहीं हो सकता) तथा उनके व्यक्तित्व की विविध छवियों का साक्षात्कार करने की दिशा में मैं प्रयासरत हूँ। पूरी विनम्रता से किये गये इस अध्ययन के प्रति प्रबुद्ध पाठकों एवं विद्वानों के विचारों और सुझावों की मुझे प्रतीक्षा रहेगी।

–वीणा अग्रवाल
श्री गुरु तेग बहादुर खालसा कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अनुक्रम

(1) गुरु गोबिन्द सिंह : एक विराट व्यक्तित्व	13-38
(2) गुरु गोबिन्द सिंह : विरासत का संदर्भ	39-62
(3) गुरु गोबिन्द सिंह : परिस्थितियाँ और युगबोध	63-78
(4) देखन आयो जगत तमासा	79-94
(5) सवा लाख से एक लड़ाऊँ	95-120
(6) खालसा पंथ : एक नवीन सामाजिक बोध	121-168
(7) एक युगपुरुष का संदेश	169-182
● शब्दानुक्रमणी	183-192

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गुरु गोविन्द सिंह : एक विराट व्यक्तित्व

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

''इस हस्ती ने हिन्दू धर्म की नाव को तूफ़ान से निकाला ही नहीं, प्रत्युत उसे किनारे पर जा लगाया। हिन्दू धर्म के मुरझा और सूख चुके उपवन के लिए वह अनुकम्पा की वर्षा, उजड़ चुकी फुलवाड़ी का माली और दुःख-दर्द का साझीदार था। परन्तु वह था कौन? हाँ, वे थे गुरु गोबिन्द सिंह जी, जिनके नाम से सारा संसार परिचित है। जिस पौधे को गुरु नानक देव जी ने लगाया था-आखिर वह फल लाया। वे फल क्या थे? राष्ट्रीयता, भ्रातृयता, भक्ति और प्रेम तथा ऐसे फल, जिस का छिलका अकाल पुरुष की पूजा, जिस का गूदा राष्ट्र प्रेम और जिसके परदे देशभक्ति, जिसकी गुठली भक्ति भाव और जिस का मीठा रस राष्ट्रीयता थी।''

-दौलत राए, साहिबे कमाल गुरु गोबिन्द सिंह, पृ. 42.

''बड़े सौभाग्य से देश को ऐसा लोकनायक प्राप्त होता है। भारतवर्ष ऐसा ही गौरवशाली देश है, जिसने गुरु गोबिन्द सिंह जैसे सच्चे वीर को जन्म दिया। पवित्र चरित्र, अडिग उत्साह, अकुण्ठ साहस, अकृत्रिम औदार्य, अकुतोमय मनोबल, दीन-दुखियों का निश्चित सहाय, अत्याचार का असंदिग्ध प्रतिरोध, विद्या और तपस्या का नियत संरक्षण और मनोबल का अक्षय भंडार ही वीर है। गुरु गोबिन्द सिंह इन सब गुणों के मूर्तिमान रूप थे।''

-हजारी प्रसाद द्विवेदी, सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण, पृ. 74.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गुरु गोबिन्द सिंह : एक विराट व्यक्तित्व

मानवता के इतिहास में ऐसे पुरुष कम होते हैं, जो इतिहास की समग्र चेतना को आत्मसात् करते हुए भी इतिहास की दिशा बदल देते हैं। वे इतिहास के एक ऐसे बिन्दु पर उदित होते हैं, जहाँ विभिन्न परस्पर विरोधी दिखने वाली प्रवृत्तियों और परिस्थितियों में से उन्हें समाज के लिए एक नए मार्ग का अन्वेषण करना होता है। ये ऐसे पुरुष होते हैं, जो युगीन परिस्थितियों की माँग को समझकर न केवल पूरे युग का प्रतिनिधित्व करते हैं, बल्कि युग को संजीवनी शक्ति प्रदान करते हैं। ऐसी महान विभूतियों में पूरा युग साकार होता दिखाई देता है। गुरु गोबिन्द सिंह ऐसे ही युग पुरुष थे, जो मध्ययुगीन भारतीय इतिहास में एक ऐसे लोकनायक के रूप में उदित हुए, जिन्होंने लोक मंगल के नियामक और लोकहित के संरक्षक बनकर, संत्रस्त मानवता को त्राण देकर, जनमानस पर एक ऐसी अमिट छाप छोड़ी, परवर्ती पीढ़ियाँ जिसका पुण्य स्मरण युगों-युगों तक करती रहेंगी।

मध्ययुगीन इतिहास में साहित्य के क्षेत्र में कबीर, सूर, तुलसी आदि महाकवियों के नाम आदरपूर्वक लिए जा सकते हैं। दार्शनिक इतिहास के क्षेत्र में शंकर और रामानुजाचार्य आदि महापुरुष दिखाई देते हैं। राजनीतिक दृष्टि से यह काल बाबर, हुमाँयू, अकबर और औरंगज़ेब सरीखे शासकों का काल है, तो सांस्कृतिक दृष्टि से इसे परिचालित करने वालों में कबीर और तुलसी अग्रणी हैं, किन्तु विशेष बात तो यह दिखाई देती है कि यदि उपर्युक्त सभी दृष्टियों से युग के किसी एक व्यक्तित्व को प्रत्येक क्षेत्र में दिग्विजयी माना जा सकता है, तो वह गुरु गोबिन्द सिंह का ही व्यक्तित्व है, जिसमें भक्ति और शक्ति, प्रवृत्ति और निवृत्ति का अद्भुत सामंजस्य प्राप्त होता है, जो कि मानव को राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, मानसिक—सभी प्रकार की निरंकुशता से मुक्ति दिलाने के लिए कटिबद्ध रहा। यह गुरु गोबिन्द सिंह का ही विराट व्यक्तित्व था, जिसने पीड़ित-प्रताड़ित मानवता की माँग को पहचाना, अपनी वाणी द्वारा उसे समुचित अभिव्यक्ति दी और इससे भी आगे बढ़कर उसे कर्म का मणिकांचन संयोग भी प्रदान किया। उन्होंने अपने युग की आवश्यकता को न केवल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भली-भाँति समझा, अपितु अपने उद्देश्य के अनुरूप मार्ग के चुनाव में उसका समुचित नियोजन भी किया और मानवीय मूल्यों से युक्त नवीन क्षेत्र का निर्माण किया। एक व्यक्तित्व में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक—सभी दृष्टियों से ऐसी अपूर्व प्रखरता के दर्शन प्राप्त होना अपने आप में कम आश्चर्यजनक नहीं है। गुरु गोबिन्द सिंह ऐसे ही अद्वितीय व्यक्तित्व के स्वामी थे, अपने अदम्य साहस और अपराजेय पौरुष के बल पर जिन्होंने इतिहास को नया मोड़ दिया, एक मंगलमय उन्मेष की अभिव्यक्ति की, जिसके लिए आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की ये पंक्तियाँ अत्यंत समीचीन प्रतीत होती हैं। उन्हीं के शब्दों में—

"बड़े सौभाग्य से देश को ऐसा लोकनायक प्राप्त होता है। भारतवर्ष ऐसा ही गौरवशाली देश है, जिसने गुरु गोबिन्द सिंह जैसे सच्चे वीर को जन्म दिया। पवित्र चरित्र, अडिग उत्साह, अकुण्ठ साहस, अकृत्रिम औदार्य, अकुतोमय मनोबल, दीन-दुखियों का निश्चित सहाय, अत्याचार का असंदिग्ध प्रतिरोध, विद्या और तपस्या का नियत संरक्षण और मनोबल का अक्षय भंडार ही वीर है। गुरु गोबिन्द सिंह इन सब गुणों के मूर्तिमान रूप थे।"[१] उनके हृदय में मानवीय करुणा एवं संवेदनशीलता का अथाह सागर हिलोरें लेता था। हिन्दू समाज की दयनीय एवं असहाय दशा से द्रवीभूत हो, उन्होंने अन्याय, अनीति, अनाचार और अनास्था को ललकारने का दृढ़ निश्चय ही नहीं किया, उसे प्राण-पण से पूरा भी किया। हिन्दू धर्म का अस्तित्व आज उसी के परिणामस्वरूप दिखाई दे रहा है।

राजनीतिक दृष्टि से यह औरंगज़ेब का शासनकाल था, जिसमें मानवता पैरों तले रौंदी जा रही थी, मानवीय मूल्यों का गला घोंटा जा रहा था, सत्य, अहिंसा, समानता, स्वतंत्रता आदि का नामोनिशां भी मिटा दिया गया था। राजनीतिक पराधीनता के इस काल में धार्मिक-सांस्कृतिक परिवेश के बेहतर होने की उम्मीद भी कैसे की जा सकती थी। समाज विभिन्न संप्रदायों, वादों, जातियों, उपजातियों आदि के आधार पर बँटा हुआ था। अपने-अपने मत को दृढ़ता से मानने तथा उसे ही श्रेष्ठ समझने के कारण जनता किसी भी अन्य मतावलंबी के धार्मिक विश्वास अथवा पूजा-विधि का सम्मान करने में असमर्थ थी। वह बाह्याडंबरों तथा निरर्थक रीति-रिवाज़ों में उलझी हुई थी, राजनीतिक दासता सहते-सहते उसकी अवरोध शक्ति का भी दीवाला निकल चुका था।[२] चुपचाप अत्याचारों के सहने को ही उसने अपनी नियति मान लिया था। इन स्थितियों में चेतनाशून्य एवं निष्प्राण प्रतीत होने वाले जनसमुदाय के हृदय में मानवीय उद्‌गारों को पुनर्जीवित करने, उनमें एकता एवं भाईचारे का भाव उत्पन्न करने तथा उन्हें स्वातंत्र्य के प्रति सजग करने की आवश्यकता सबसे बड़ी थी। जिसकी पूर्ति किसी महापुरुष की असाधारण प्रतिभा, निष्काम कर्म-भावना तथा कठिन साधना ही से संभव थी।

---

१. सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण, पृ. ७४

२. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए इसी पुस्तक का अध्याय—'गुरु गोबिन्द सिंह : परिस्थितियाँ और युगबोध', पृ. ५४-५८।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ऐसे समाज में गुरु गोबिन्द सिंह एक ऐसे महामानव के रूप में उभरे, जिन्होंने अपने अद्‌भुत त्याग, संयम एवं साधना के बल पर विशृंखलित समाज को एक समान धरातल पर एकत्र ही नहीं किया, उनके मनप्राण को आंदोलित कर, उनकी चित्तवृत्तियों का रूपांतरण कर दिया। उनका विचार था कि जब तक लोग अपने भीतर एक प्रकार के ध्येय की अनुभूति नहीं करेंगे, उनमें एकता का भाव उत्पन्न करना कठिन है। अतः उन्होंने केवल हिन्दुओं को ही नहीं, अपितु मुसलमानों को भी तत्कालीन परिस्थितियों से अवगत कराया तथा उनमें अन्याय एवं दमन के विरुद्ध प्रतिरोध का भाव उत्पन्न किया। इस संबंध में स्वामी विवेकानंद का कथन अत्यंत प्रासंगिक है कि "उन्होंने क्या हिन्दू क्या मुसलमान, सभी को समझा दिया कि सब लोग कैसे घोर अत्याचार और अविचार के राज्य में बस रहे हैं। उन्होंने किसी नये प्रकार के ध्येय की सृष्टि स्वयं नहीं की। केवल सर्वसाधारण जनता का ध्यान इस की ओर आकर्षित कर दिया। इसीलिए हिन्दू-मुसलमान सब उनको मानते थे।[३] यह सत्य है कि उन्होंने किसी विशेष धर्म अथवा संप्रदाय के अनुयायियों को ही नहीं बल्कि प्रत्येक दीन-हीन व्यक्ति को अपने अधिकारों के प्रति सचेत किया तथा उनकी माँग करने का साहस उत्पन्न किया। वर्षों तक किए गये तप, ध्यान आचरण और धर्मग्रंथों के अध्ययन एवं विश्लेषण के परिणामस्वरूप पाये गये ज्ञान और अनुभव से अर्जित मानवीय दृष्टिकोण को उन्होंने धर्म विशेष के लिए नहीं अपितु संपूर्ण मानवता के हिंत के लिए नियोजित किया। गुरुओं से पाई विरासत से वे अतः प्रेरणा द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर समस्त भारत में मानवतावादी चेतना का संचार करने के लिए जुट गये।[४] मध्ययुगीन भारत के महान धर्म गुरु, गुरु नानक ने भी मानव के सहज धर्म में आस्था और विश्वास को अभिव्यक्त किया था तथा हिन्दू-मुसलमान सब को एक ही ब्रह्म का अंश मानकर मानवतावाद का प्रचार किया था। गुरु गोबिन्द सिंह ने भी मानव धर्म को सर्वोपरि मानते हुए गुरु नानक के उद्‌घोष—'न को हिन्दू न को मुसलमान' एवं 'न को बैरी न बेगाना' को आत्मसात् कर शब्दशः अपने आचरण में उतारा। यह आकस्मिक नहीं है कि गुरु नानक के धार्मिक चिन्तन की भाँति गुरु गोबिन्द सिंह की चेतना में भी धर्म मज़हब का पर्याय न होकर कर्तव्य और जीवन मूल्यों का पर्याय बना—

एक ही की सेव सब ही को गुरु देव एक,
एक ही सरूप सबै एकै जोति जानिबो।

(अकाल उस्तत, १५/८५)

का सिद्धांत गुरु गोबिन्द सिंह को गुरु नानक से ही विरासत में प्राप्त हुआ था। पिता ने अपने बलिदान

---

३. विवेकानंद साहित्य, षष्ठ खंड, पृ. ६८।

४. But to decribe him as Guru of a single community would be to ignore his many sided personality and his splendid all round achievements, for he was truly a practical democrat, a benefactor of the entire nation:"
—R.M. Nair, (Editor) The Tribune, 18.1.67

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

से मानव धर्म की पुनर्परिभाषा एवं पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की ही थी, गुरु गोबिन्द सिंह जी ने प्राण पण से उसे समझा और उससे आगे बढ़कर अपने रक्त की अंतिम बूँद तक, यहां तक कि अपने चारों पुत्रों तक को पिता द्वारा दिखाए मानव कल्याण के पथ पर समर्पित कर दिया। उन्होंने पिता द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर धर्म की परिभाषा को फिर से आख्यात ही नहीं किया, बल्कि उस परिभाषा को विस्तारित भी किया। पूर्व गुरुओं से विरासत में पाई विस्तृत जीवन दृष्टि ने उनके धर्म की अवधारणा को व्यापक रूप प्रदान करने में सहायता दी। वह सांप्रदायिक परिकल्पना तक सीमित नहीं रही, बल्कि संपूर्ण मानव जगत को उसने अपने दायरे में समेट लिया। धर्म, जाति, कुल, गोत्र, ऊँच-नीच आदि किसी भी प्रकार के आधार से परे, संपूर्ण मानव जाति का संरक्षण उसके लिए महत्त्वपूर्ण हो गया। उनका यह कथन कि उनका जन्म धर्म की संस्थापना के लिए हुआ है, स्पष्ट करता है कि धर्म से उनका तात्पर्य मज़हब से न होकर मानव धर्म से रहा—

हम इह काज जगत मों आये, धरम हेत गुरु देव पठाए।
जहां तहां तुम धरम बिथारो दुसट दोखियन पकरि पछारो।

× × ×

इह कारनि प्रभु मोहि पठायो।
तब मैं जगत जनम धर आयो।
जिमि तिन कहीं तिने तिमि कहिहौं।
और किसू ते बैर न गहिहौं।

(विचित्र नाटक, ६/४२, ६/३१)

गुरु गोबिन्द सिंह के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि उनका किसी भी धर्म से विरोध भाव नहीं है। ईश्वर ने उन्हें वास्तविक धर्म की दीक्षा देने, नेकी का प्रचार करने और अधर्म का नाश करने के लिए भेजा है। उन के अस्तित्व में आने का उद्देश्य सत्य पर आधारित ऐसे सार्वभौम धर्म की स्थापना करना है, जो अपनी सामर्थ्य भर मानव जाति की सेवा कर। उनका धर्म ऐसा मानव धर्म है, जिसमें मानव को मानव की भाँति रहने के अधिकार को विशेष महत्त्व प्राप्त है। अतः यह आकस्मिक नहीं है कि हिन्दू, सिख, मुस्लिम, ईसाई आदि धर्मों के स्थान पर मानव धर्म के प्रचार-प्रसार को ही उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। चूँकि ईश्वर ने उन्हें 'दुष्टों को पछारने' अर्थात् दुष्टों को कुकर्म से विमुख कर सत्य रूपी मानवतावादी पंथ की सज्जा करने के लिए पृथ्वी पर भेजा था, दुर्जनों का नाश कर सृष्टि को सज्जनों के रहने लायक स्थान बनाना और संतों की परित्राण करना ही उन के जीवन का उद्देश्य बन गया। यहाँ 'दुष्ट' शब्द से भी तात्पर्य उन लोगों से है, जो निःसंकोच भाव से नृशंसतापूर्वक दूसरों पर अत्याचार करते हैं। उनकी कोई विशेष जाति अथवा नस्ल हो, ऐसा नहीं। प्रत्येक दुराचारी, अन्यायी, असहिष्णु व अनीतिपरक आचरण करने वाला, मानव को मानव न समझने वाला, जाति, धर्म, रूप, रंग, धन अथवा अन्य किसी भी आधार पर भेदभावयुक्त रवैया अपनाने वाला, गुरु गोबिन्द सिंह की दृष्टि में अधर्मी एवं दुष्ट था। भले ही, वह किसी भी धर्म अथवा संप्रदाय का अनुयायी हो। गुरु गोबिन्द सिंह ने ऐसे सभी दुष्टों का दमन करने की प्रतिज्ञा की। ऐसे सभी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

विधर्मियों से उनका विरोध भाव बना रहा । वे निडरता से उनकी आलोचना करते रहे और ऐसे मानव धर्म का प्रचार-प्रसार करते रहे, जो सांप्रदायिक सीमा से परे हैं, जो समस्त विश्व मानवता का पंथ है, जिस में हिन्दू, सिख अथवा मुस्लिम की भिन्नता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । मात्र व्यक्ति की आध्यात्मिक अथवा नैतिक शुद्धता इसमें उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना संपूर्ण मानवता को विनाश के मार्ग से बचाकर उद्धारोन्मुख और अज्ञान के मार्ग से बचाकर सत्य की ओर उन्मुख करने का भाव । यह मानव धर्म है, जिसमें सामाजिक उत्तरदायित्त्व की चेतना का स्वीकार है ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि गोबिन्द सिंह जी की दृष्टि में मानव मानव के रूप में समादृत था और वह केवल दुष्टों और संतों की श्रेणी में विभाजित था । संत का हित ही उनके लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन गया था । उन्होंने दीनों के हेतु 'सिपाही गोबिन्द सिंह' का बाना पहना तथा मुख में हरि नाम और हाथ में कृपाण लेकर सज्जनों की रक्षा, दुर्जनों के नाश और मानव धर्म की रक्षा की प्रतिज्ञा की । इतिहास साक्षी है कि पीड़ित-प्रताड़ित जनता को मानवीय अधिकार दिलाने के लिए उन्होंने पुरजा-पुरजा कटना तो मंजूर किया किन्तु जीवनपर्यन्त खेत छोड़ना उन्हें स्वीकार नहीं हुआ–

गगन दमामा बाजिओ, परिओ नीसाने घाव ।
खेत जु मांडयो सूरमा, अब जूझन को चाव ।

× × ×

सूरा सो पहचानियो, जो लरै दीन के हेत ।
पुरजा-पुरजा कट मरे, कबहूं न छांडे खेत ।

कहना न होगा कि संत कबीर की उपर्युक्त वाणी संत सिपाही गोबिन्द सिंह के आचरण में शब्दशः चरितार्थ होती दिखाई देती है । स्वयं तो आजीवन शस्त्र धारण कर उन्होंने दीनों की प्रतिपालना की ही, किसी पावन-पुनीत अनुष्ठान की सी आस्था के साथ उन्होंने एक ऐसे समाज का गठन भी किया, जो संत भी था और सिपाही भी, जो मुख में प्रभुनाम का उच्चारण कर हृदय में न्याय की स्थापना के लिए प्राणों का उत्सर्ग कर देने का भाव लिए हुए था । ऐसे ही व्यक्तियों को गुरु जी ने वास्तविक शूरवीर की संज्ञा दी, जो ईश्वर का नाम लेकर धर्मयुद्ध में कूद पड़ें, फिर भले ही वे विजयी हों अथवा उच्च आदर्श के पालन के लिए युद्ध-क्षेत्र में उन्हें अपने प्राण ही क्यों न विसर्जित करने पड़ें । उनके अनुसार दोनों ही परिस्थितियाँ काम्य थीं, क्योंकि और किसी भी प्रकार पाई गई मृत्यु आततायी से किये गये युद्ध जैसे शुभ कार्य के लिए दिये गये बलिदान से बढ़ कर वरेण्य नहीं हो सकती थी । इसलिए उन्होंने स्वयं भी ईश्वर से यही वरदान माँगा कि कठिन से कठिन परिस्थिति में भी वे शुभ कर्मों से विचलित न हों और जब 'आयु की अवध निदान बने' तब बिना संशय के शीघ्र ही रण-क्षेत्र में कूद पड़ें और शत्रु से निडरतापूर्वक युद्ध करें ।[५]

बलिदान का यह भाव मात्र उनकी निजी पूँजी बनकर रह गया हो, ऐसा नहीं था, उन्होंने संपूर्ण

---

५. चंडी चरित्र उक्ति विलास, १०६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

निष्ठा, अटूट परिश्रम एवं अनवरत साधना से इसे अपने शिष्य-समाज में भी संक्रमित किया और बलिदानियों की एक बड़ी जमात तैयार की। बलिदान की जिस परंपरा को आदि गुरु, गुरु नानक ने यह कहकर प्रारम्भ किया था–

जो तउ प्रेम खेलन का चाउ। सिर धरि तली गली मेरी आउ।
इत मारग पैर धरीजै। सिर दीजै काणि न कीजै ॥

अर्थात् जिसे अन्याय और शोषण की व्यवस्था के विरुद्ध बगावत करनी है, उसे अपने शीश को हथेली पर रख कर और बिना किसी व्यक्तिगत स्वार्थ, लोभ, मोह अथवा फल की आशा लिए मात्र बलिदान दे देने के भाव से आगे बढ़ना चाहिए। कबीर ने भी कहा था–

कबिरा खड़ा बजार में, लिए लुकाठी हाथ।
जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ।

गुरु गोबिन्द सिंह ने भी हथेली पर सिर रखकर और मशाल से अपना घर फूँककर बलिदान के इस मार्ग पर चलने में जरा संकोच नहीं किया और आदि गुरु की वाणी को मन, वचन और कर्म से चरितार्थ कर अपने मानवीय सरोकार का परिचय दिया।

गुरु गोबिन्द सिंह सन्त भी थे, सिपाही भी। किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि दुष्ट-दलन के लिए यदि उन्होंने हाथ में तलवार उठाई, तो निपट निरीह जनता के लिए उनकी आँखों में आँसुओं की अविरल धारा विद्यमान थी। उनके अंतराल में ममता का अलौकिक स्रोत फूट रहा था। खड्ग का प्रयोग भी उन्हें तभी श्रेयस्कर प्रतीत हुआ जब धर्म स्थापना के सभी उपाय शेष हो चुके थे—

'चूकार अज़ मह हीलते दर गुज़ुश्त। हलालस्तु बुर्दन ब शमशीर दस्त'

(जफ़रनामा, २२)

शेष सभी उपाय जब कारगर न हों, ऐसी स्थिति में अन्याय एवं अत्याचार के विरोध में शस्त्र उठाने को उन्होंने धर्मसम्मत बताया तथा ऐसी स्थिति आ पड़ने पर स्वयं अपने आचरण द्वारा भी इसका उदाहरण प्रस्तुत किया। पाउंटा से छह कोस के फासले पर भंगाणी नामक स्थान पर भीम चन्द की सेना से किया गया युद्ध हो या जज़िया के विरोध में मित्र भीमचंद द्वारा आलिफ़ खाँ के साथ नादौन में किए गये युद्ध में उसका साथ देना हो, दिलावर खाँ के पुत्र के समक्ष युद्ध करने के लिए सेना को सुसज्जित करना हो अथवा हुसैन खाँ के आक्रमण के समय राजा गोपाल की सहायता करना हो, सभी युद्धों में गुरु जी तथा उनके सिंहों ने अनीति का विरोध करते हुए अद्भुत वीरता का परिचय दिया तथा सफलता प्राप्त की। गुरु जी द्वारा लड़े गये युद्ध व्यक्तिगत लाभ, निहित स्वार्थ, राज्य-विस्तार, अहं की तृप्ति अथवा ऐसी ही किसी क्षुद्र भावना द्वारा परिचालित नहीं थे, अपितु वे उच्चतम मूल्यों की रक्षार्थ लड़े गये थे। इन युद्धों में गुरु जी द्वारा दिखाये गये शौर्य-प्रदर्शन एवं सैन्य- संचालन दक्षता का इतिहास विलक्षण तो है ही, इस बात का प्रमाण भी है कि गुरु जी आजीवन अन्याय की खिलाफ़त करते रहे और अपने पिता द्वारा प्रदत्त शिक्षा—'न भै मानत आन' को अपने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आचरण से चरितार्थ करते रहे।

सीमित शक्ति एवं अत्यल्प सैनिक होने के बावजूद निरंतर विशाल शत्रुवाहिनी के संवर्द्धमान आक्रमणों को झेलना और साथ ही निरंतर प्रबोधन देकर अपने पक्षधरों के उत्साह को भी बनाये रखना अत्यंत कठिन कार्य था। गुरु जी ने प्रत्येक युद्ध में इसे एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया और सदैव विजय प्राप्त की। उनकी अद्‌भुत वीरता, अतुलनीय साहस, अपूर्व युद्ध-कौशल एवं सैन्य-संचालन दक्षता प्रत्येक स्थिति में उनका संबल बनी। चाहे वह शत्रु द्वारा योजनाबद्ध तरीके से किया गया आक्रमण हो, अथवा अचानक घेर लिया जाना हो, या पीछे से किया गया वार हो, विद्युत तरंगों की भाँति गुरु के मस्तिष्क में कौंधने वाली युक्तियाँ प्रत्येक स्थिति में दुश्मन की ईंट से ईंट बजा देने के लिए पर्याप्त होती थीं। कभी सैनिकों को रात्रि के समय शत्रु सेना में घुसकर खलबली मचाकर स्वयं बचकर निकल आने का आदेश देना, जिससे वे आपस में ही एक-दूसरे को दुश्मन समझकर मारने लगें, कभी पेड़ों पर चादरें डलवाकर अपने सैनिकों की विस्तृत संख्या की भ्रांति उत्पन्न करना, कभी अत्यल्प सैनिक होने पर भ्रम उत्पन्न करने के लिए छोटे-छोटे जत्थे बनाकर विभिन्न दिशाओं से आक्रमण करना तो कभी दीवारों की ओट को ही निरापद स्थान की तरह चुनकर, वहीं से दुश्मन पर प्रहार करना आदि अवसरानुकूल प्रयोग में लाई गई अनेक युक्तियाँ गुरु की उस सूझ-बूझ की परिचायक हैं, जिनके बल पर उन्होंने 'चिड़ियों से मैं बाज तुड़ाऊँ' के अपने कथन को अमिट बना दिया। गुरु और उनके खालसा ने प्रत्येक स्थिति में वीरता की ऐसी मिसाल कायम की, विश्व इतिहास में जिसका दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है। भूख, प्यास, ठंड, थकान से निढाल होते हुए भी यदि वे दुश्मन पर टूट पड़ते, तो उन्हें नाकों चने चबाने के लिए विवश कर देते। 'धर्म युद्ध का चाव' उनके हृदय में दिन-रात हिलोरें लेता रहता था, जिसके समक्ष भूख, प्यास आदि स्थितियाँ नगण्य हो जाती थीं। दृष्टि के दायरे में यदि कुछ आता था तो वह केवल शत्रु था और मस्तिष्क में केवल प्रभु का नाम लेकर उस पर टूट पड़ने का विचार। ऐसा विचार कौंधते ही शरीर का प्रत्येक अंग मस्तिष्क के आदेश का पालन करने के लिए तत्पर हो जाता।

जिनके गुरु माछीवाड़ा के काँटों भरे जंगलों में नंगे पांव चलते हों, लगातार कई दिनों तक आक के पत्ते खाकर तथा आक के दूध से होंठ तर करके अपनी भूख, प्यास मिटाते हों और शीतकालीन रात्रि में खुले आकाश के नीचे सोने में भी न हिचकिचाते हों, ऐसे गुरु के शिष्यों की सहिष्णुता और धैर्य पर किसे न विश्वास होगा ?

युद्धों के दौरान, बड़े से बड़े ऐसे संकट में भी गुरु जी ने अत्यंत धैर्यशालिनी मनस्विता का परिचय दिया जब किसी भी महान योद्धा का हतोत्साहित हो जाना स्वाभाविक था। मुट्ठीभर सैनिकों को लेकर बार-बार शक्तिशाली सत्ता को चुनौती देना और आदर्श समाज की परिकल्पना को साकार रूप देने का उत्साह बरकरार रखना ऐसे ही अद्‌भुत गुणों से संपन्न व्यक्ति का कार्य हो सकता था। शत्रुओं की धार्मिक शपथ से भरी चालें हों या कूटनीतिक कुचालें, तीरों की बौछार हो या तलवारों के प्रहार, गुरु गोबिन्द सिंह जी का आत्मविश्वास अटूट रहा और उन का योद्धा रूप सदा अपराजेय रहा, उसने कभी किसी से मात नहीं खाई। न कभी विपक्ष पर घात लगाई, न उदात्त मूल्यों से ही पीछे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हटे। उन्हें आजीवन इस बात का विश्वास रहा कि वास्तविक योद्धा वही है, जिसमें आत्मिक बल है, जो निर्भय है, जिसका प्रभु पर विश्वास है और जो सदैव ऊँचे आदर्शों से जुड़ा रहता है। उन्होंने अपने शिष्यों को केवल सैनिक प्रशिक्षण ही प्रदान नहीं किया, उनके आध्यात्मिक गुरु भी बनकर अपने गुरुत्व से उन्हें गौरवान्वित भी किया। उन्होंने शस्त्र-संचालन, शस्त्र-प्रशिक्षण, युद्धनीतिशिक्षण आदि से तो उनकी कायापलट की ही उनके हृदय में प्रभु-प्रेम का संचार कर, उनके आध्यात्मिक विकास में भी योगदान दिया। गुरु जी केवल योद्धा ही नहीं, महान-आध्यात्मिक पुरुष भी थे। अतः मात्र राजनीतिक स्वाधीनता से ही उनका सरोकार नहीं था, अपितु अपनी सांस्कृतिक विरासत को दासता से बचाने तथा मानव को मानव के रूप में समादृत करने की चिन्ता उन्हें अधिक थी। वे ऐसे संत थे, जिन्होंने संत परंपरा के उत्तराधिकारी बन कर आध्यात्मिक चिंतन के क्षेत्र में स्वानुभूति के आधार पर मानव समाज के कल्याण हेतु नवीन मान प्रस्थापित किये। उन्होंने अपनी आध्यात्मिकता को सैनिक शक्ति का संरक्षण अवश्य प्रदान किया, क्योंकि वे जानते थे कि किसी भी जाति के लिए आध्यात्मिक शांति की प्राप्ति तभी संभव है, जब वह सैनिक दृष्टि से सुरक्षित है। इसी कारण वे कभी भक्त का बाना पहनते हैं तो कभी योद्धा का वेश धारण करते हैं। एक उच्चकोटि के साधक की तरह अकाल पुरुष की वंदना करते-करते वे उसे शस्त्र से संबद्ध कर युद्ध का अद्‌भुत दर्शन प्रदान करते हैं, समाज के रूपांतरण में जिसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका को नकारा नहीं जा सकता।

उस युग की माँग भक्ति के प्रचार, अवतारों के खंडन-मंडन अथवा ब्रह्म के सगुण-निर्गुण रूप की स्थापना की नहीं थी और न गुरु गोबिन्द सिंह कोरे भक्त ही थे, उनका एक कदम यदि भक्ति की ओर बढ़ा था तो जनता की दयनीय दशा से द्रवीभूत हो दूसरा कदम राजनीति की ओर बढ़ गया था। और इन दोनों में उन्होंने जो संतुलन कायम किया, उसका उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है। इस संबंध में डा. महीप सिंह का कथन अत्यंत उपयुक्त जान पड़ता है। उनके अनुसार गुरु गोबिन्द सिंह केवल भक्त या भक्ति के प्रचारक मात्र नहीं थे। भक्त होते हुए भी वे एक राजपुरुष थे, अपने युग के आततायी शासन के विरुद्ध उभरते हुए जन आंदोलन के नेता थे। गुरु गोबिन्द सिंह के सहस्त्रों वर्ष पूर्व 'गीता' में साधुओं के परित्राण एवं दुष्टों के विनाश की उक्ति जन-मन में अवतार की कल्पना को सजीव बनाये हुए थी। भारतीय जनता में यह अटूट विश्वास था कि जब-जब धर्म की हानि होती है, और आततायियों का प्रभाव बढ़ जाता है, उस समय ईश्वर का अवतार होता है, गुरु गोबिन्द सिंह ने स्वयं अपने आपको इसी परंपरा में स्वीकार किया है, यद्यपि वे अपने आपको अवतार नहीं कहते, परम पुरुष का दास कहते हैं, फिर भी उनके जन्म धारण का उद्देश्य वही अवतार वाला ही है।[६] उनकी अवतार कथाओं पर 'गीता' की निम्नलिखित उक्ति चरितार्थ होती है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतं।
अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।

किन्तु साथ ही उनकी अवतारविषयक धारणा में परंपरागत धारणा से भिन्नता भी दिखाई देती

---

६. महीपसिंह, गुरु गोबिन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता, पृ. २२४

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

है। वह भिन्नता इस प्रकार है कि गुरु जी धर्म की हानि के समय ईश्वर द्वारा देह धारण करके अवतार लेने की बात तो स्वीकार करते हैं, किंतु यह भी मानते हैं कि अंत में सभी अवतार अकाल पुरुष के एक रूप में मिल जाते है।[७] उनके अनुसार अकाल पुरुष अवतारों से श्रेष्ठ है, अंत में वही अवतारों को नष्ट कर देने वाला है—

'जब जब होत अनिष्ट अपारा, तब तब देह धरत अवतारा[८] –' के साथ-साथ जब वे—

'काल सभन को देख तमासा, अंत काल करत है नासा'[९]

तथा

'काल सभन का करत पसारा' अंत काल सोई खापन हारा'[१०]

भी कहते हैं, तब समाज में प्रचलित अवतारविषयक दृष्टिकोण से उनके दृष्टिकोण की भिन्नता स्वतः उजागर हो जाती है। मानव मन को समझने की गुरु जी की सामर्थ्य एक कुशल मनोवैज्ञानिक से कम नहीं। वे जानते हैं कि उस समाज में, धर्म ही जिसका आधार रहा हो, अन्य किसी भी माध्यम से दिये गये संदेश की ग्राह्यता उतनी निष्ठा से संभव न होगी, जितनी धर्म के माध्यम से दिये गये संदेश की। अतः वे अपने अवतारविषयक भिन्न दृष्टिकोण के बावजूद पूरी तन्मयता के साथ अपनी रचनाओं में अवतारों का चित्रण करते हैं और उन्हें असुरों से युद्ध करते हुए दिखाते हैं ताकि उनके माध्यम से हिन्दू समाज में व्याप्त दानवी शक्तियों के प्रति तिरस्कार के भाव को युगानरूप मोड़ देकर, उसे तत्कालीन अत्याचारी शासकों के साथ जोड़ा जा सके। इस प्रकार उनके प्रति विरोधभाव उत्पन्न किया जा सके। वस्तुतः गुरु जी के व्यक्तित्व एवं उनके दृष्टिकोण में कहीं-कहीं सतही तौर पर दिखाई देने वाला विरोधाभास गुरु जी की सामाजिक प्रतिबद्धता की सघनता ही के परिणामस्वरूप है। वास्तव में यह विरोध का आभास मात्र ही है, विरोध नहीं। चूँकि गुरु के सरोकार का केन्द्र पीड़ित-त्रस्त समाज है, येन-केन-प्रकारेण उसे मुक्ति दिलाना ही उनका लक्ष्य है, अतः मुख्य लक्ष्य का संधान ही उनकी चिन्ता का विषय है, उनके जीवन का एक-एक क्षण और रक्त की एक-एक बूँद तक जिसे समर्पित है। इस स्थिति में अपनी मान्यताओं को व्यवस्थित रूप से दृढ़तापूर्वक जनता के समक्ष रखना उनके लिए महत्त्व नहीं रखता। कोई बात यदि महत्त्वपूर्ण है तो वह है—मानवता की मुक्ति, उनका प्रत्येक प्रयास उसी दिशा में अग्रसर है। यों भी वे महापुरुष जिन्हें महान कार्य संपादित करने होते हैं, लीक-लीक चलने की चिन्ता से घिरे नहीं रहते। आवश्यकता आन पड़े तो लक्ष्य की महानता को मद्देनज़र रखकर, अपनी मान्यताओं से थोड़े-बहुत विचलन पर भी उन्हें आपत्ति नहीं होती। गुरु

---

७. भिन्न-भिन्न जिमु देह धराए, तिमु तिमु कर अवतार कहाए।
परम रूप जो एक कहायो। अति सभी एक मिलायो।
—चौबीस अवतार, ३३

८. चौबीस अवतार, २

९. वही, २.

१०. वही, ३.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जी का तो स्पष्ट कथन था कि आपात्कालीन स्थिति में साधन संबंधी नैतिकता की कसौटी को उस रूप में नहीं अपनाया जा सकता,जिस रूप में सामान्य स्थिति में उसका पालन किया जाता है। अतः युग के परिवेश को पूरी तरह समझे बिना यदि हम गुरु गोबिन्द सिंह के साहित्य में,उनकी मान्यताओं में निहित विरोधाभासों को तलाशने लगें,तो दोष हमारी समझ का ही होगा। इन मान्यताओं को अलग-अलग न जाँचकर,उन्हें यदि युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में तथा गुरु जी के मानवतावादी दृष्टिकोण से जोड़कर देखा जाये तो किसी प्रकार के संशय की गुंजाइश ही नहीं रहती।

जब व्यक्ति मानवता के हित साधन का संकल्प कर लेता है,तो उस राह पर बढ़ते हुए भीतर से एक जुनून उत्पन्न होता है,यही जुनून मनुष्यता के विकास का प्रथम चरण है। मानव होने का अर्थ भी यही है। यही गुरु गोबिन्द सिंह के साथ हुआ। यह उनका भीतरी जुनून ही था,जो अत्याचारी की ललकार सुनते ही रणजीत नगाड़े की कर्णभेदी ध्वनि से आकाश को कँपा देता था, और संख्या, शक्ति और सामर्थ्य में अनेक गुना अधिक बलशाली शत्रु के भी छक्के छुड़ा देता था। यह भी जुनून ही था जो अवकाश मिलते ही हाथ में कलम पकड़वा कर कभी ईशस्तुति में मग्न साधक की तरह 'जापु साहब' की रचना की ओर प्रवृत्त करता था,कभी अनन्य योद्धा की तरह 'कृष्णावतार' अथवा 'चंडी चरित्र उक्ति विलास' की। युद्ध में की गई व्यूह रचना हो,काव्य के क्षेत्र में दिखाई देने वाली सर्जनात्मक प्रतिभा हो,प्रभु नाम का जाप हो अथवा उस से की गई शत्रुओं के संहार की प्रार्थनाएँ हों—गुरु जी के प्रत्येक कार्य का उद्देश्य मानवता की मुक्ति ही रहा। मानव कल्याण का बीड़ा उठाकर उसे पूर्ण करने के लिए किए गये उनके ऐसे प्रयास मानवता के चिह्न हैं। ऐसे प्रयासों को तपस्या कहा जा सकता है। यह तपस्या असंभव को भी संभव बना देती है। ऐसे कार्य के प्रत्येक चरण पर अलग-अलग संभावनायें प्रकट होती हैं,यदि इनमें असफलता भी प्राप्त हो तो वह भी सफलता के रास्ते पर एक चरण होता है। एक अनुभव होता है,जो आगे बढ़ने के इच्छुक राही के लिए मार्गदर्शक सिद्धांत तय कर देता है,अन्ततः सफलता प्राप्त होती ही है,क्योंकि दुनिया में सफलताएँ सदा धर्म से मिलती हैं। अधर्म द्वारा कभी-कभी छोटे-छोटे स्वार्थ अवश्य पूर्ण होते हैं किंतु,ऐसी सफलताएँ बहुत शीघ्र समाप्त हो जाती हैं। वह मनुष्य की मानवता को समूल नष्ट कर देती हैं। धर्म से पाई गई सिद्धि ही स्थायी होती है,यह गुरु गोबिन्द सिंह अच्छी प्रकार जानते थे। अतः वे स्वयं भी धर्म के मार्ग पर चले और अपने अनुयायियों को भी उन्होंने धर्म की ओर प्रेरित किया और अंततः अद्भुत सफलता हासिल की। धर्म-प्राप्ति के लिए निःस्वार्थ भाव,दृढ़प्रतिज्ञा और साहस के साथ-साथ जिस उच्च भावभूमि और दृढ़ चरित्र की आवश्यकता होती है, गुरु गोबिन्द सिंह उनके स्वामी थे। इन सबके साथ-साथ यदि प्रभु का नाम और आत्म-विश्वास भी जुड़ जाये तो असफल होने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। ऐसा ही था गुरु जी का व्यक्तित्व।

यह वह समय था जब साहित्यकार,जिस पर समाज को दिशा दिखाने का दायित्व समझा जाता है, अपने कर्त्तव्य को भूलकर कृष्ण और राधा के नाम की ओट में लौकिक शृंगार को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे थे। रूपरसिक देव, नागरी दास, चाचाहित वृन्दावन दास, कृष्णदास, ब्रजवासी दास, गुमानमिश्र आदि कवि प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों रूपों में माधुर्यभाव से ओतप्रोत कृष्णकाव्य की रचना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कर रहे थे। ऐसे में गुरु गोबिन्द सिंह ने भगवान राम, कृष्ण, देवी दुर्गा आदि से संबंधित वीर काव्य की रचना कर वैष्णव भक्तों के हृदय में उनके योद्धा रूप के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने का प्रयास किया। वात्सल्य, रति, भक्ति आदि मनोभावों को अवलंब बनाकर चलनेवाली कथाओं को भी उन्होंने शौर्य के नवीन आयाम से जोड़ कर अपनी उर्वरक कल्पना शक्ति एवं मौलिक उद्‌भावना क्षमता का परिचय तो दिया ही, उनसे वांछित प्रभाव की सृष्टि भी की। पौराणिक और ऐतिहासिक सामग्री को आवश्यकता के अनुरूप मोड़ देकर गुरु जी ने साहित्य में उनका जैसा सार्थक प्रयोग किया, वैसा दूसरा उदाहरण खोजना कठिन है।

यह गुरु जी का मानवीय सरोकार ही था कि धर्म, जाति, संप्रदाय आदि के आधार पर विभिन्न भेदभावों से ग्रस्त समाज में उन्होंने सर्वोच्च शक्ति के नवीन रूप की परिकल्पना की आवश्यकता को समझा तथा अपनी रचनाओं में वे ईश्वर के ऐसे नवीन, विशिष्ट गुणों से युक्त रूप की आराधना की ओर उन्मुख हुए, जहाँ विभिन्न वर्गों, एवं समुदायों में बंटी हुई अलग-अलग अवतारों और देवी-देवताओं आदि को मानने वाली जनता की चित्तवृत्ति को एक शक्ति की ओर मोड़ा जा सके। इसलिए उन्होंने सर्वोच्च शक्ति के ऐसे रूप की परिकल्पना की जो निराकार के साथ-साथ साकार भी जान पड़ता है, निर्गुण के साथ-साथ सगुण भी दिखाई देता है, माया रहित होकर भी सांसारिक प्रपंचों में उलझा जान पड़ता है, अजन्मा अनादि होकर भी सर्वकालों में विद्यमान दिखाई देता है। मानवीय सरोकारों से जुड़े व्यक्ति के लिए प्रस्तुत परिकल्पना के पीछे छिपे मानवता की सेवा में समर्पित विशिष्ट आशय को पहचानना कठिन नहीं रहता। ईश्वर की ऐसी परिकल्पना के संबंध में दिखाई देने वाली गुरु की समन्वयवृत्ति वास्तव में मानवता की ही परिभाषा है। इसमें विविध धर्मावलंबी जनता के अपने-अपने आराध्य देवों से भिन्नता भी है और साम्य भी। साम्य की आवश्यकता इसलिए अनुभव की गई ताकि ईश्वर का नवीन रूप संस्कारों से चित्त में बसी ईश्वर की प्रतिमूर्ति जैसा प्रतीत होने पर आसानी से अपनाया जा सके, भक्त उस आध्यात्मिक शक्ति रूप को पूर्ववर्ती रेखाओं से युक्त पाकर उसके प्रति वैसी ही भक्ति एवं समर्पण भाव की अनुभूति कर पाये, जैसी वह अपने धर्म अथवा जाति के अनुसार अपने हृदय अवस्थित ईश्वर की प्रतिमूर्ति की ओर करते हैं। और भिन्नता इसलिए ताकि पूर्वाग्रहों से घिरे भक्तजन इस भाव की प्रतीति न करें कि वे किसी अन्य जाति अथवा संप्रदाय के आराध्य देव को अपनी भक्ति का आधार बना रहे हैं। अपनी विलक्षण सूझ-बूझ के बल पर गुरु जी ने यह समझ लिया था कि ईश्वर के ऐसे ही नवीन रूप की आराधना की ओर उन्मुख करके सभी आराधकों को धर्म, संप्रदाय एवं जातिगत भेदभाव भुलाकर एक ऐसे समान धरातल पर पहुँचाया जा सकेगा, जहाँ से उनकी ईश्वर भक्ति को युद्ध की ओर मोड़ना सरल होगा, और ऐसा उन्होंने किया भी।

यही कारण है कि गुरु गोबिन्द सिंह का 'ईश्वर' निर्गुण, सगुण आदि विचारधाराओं की कतिपय विशेषताओं से युक्त अवश्य है, किन्तु इस विरासत के साथ-साथ वह अपने समय की चुनौती के अनुरूप नवीन आभा से मंडित भी है। उसका कालरहित, अनकाल स्वरूप निरुपाधि, निर्विकार रूप अद्वैतवादियों के बह्म रूप से साम्य रखता है। उसका अवर्ण, अभूत, अमरन, अनादि एवं बेअंत रूप

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वेदों की परिकल्पना का स्मरण कराता है, तो उसकी सरूप और सर्वरूप आदि विशेषताएँ उसे वेदों की सीमाओं की बद्धता से मुक्त भी करती हैं । गुरु गोबिन्द सिंह के अकाल पुरुष की एकता के साथ अनेकता, प्रकाश के साथ अन्धकार, शत्रुता के साथ मित्रता आदि विपरीत गुणों का एकसाथ वर्णन उसके महनीय पक्ष का द्योतक है ।

गुरु अर्जुन देव ने **'सुरगुन निरगुन निराकार, सुन्न समाधि आपु'** जैसे शब्दों से इसी विरोधाभास को व्यंजित किया था । किंतु गुरु गोबिन्द सिंह ने ब्रह्म के स्वरूप में निर्गुण परिकल्पना को आधार रूप में स्वीकार करते हुए भी गुरुओं की दार्शनिक परंपरा को एक निश्चित अर्थ में आगे बढ़ाने का प्रयास तो किया किन्तु ईश्वर के सगुण रूप का विरोध भी नहीं किया । जब वे उसे राम, गोबिन्द, चतुर्भुज, सारंगपाणि, आजानुबाहु, बनवारी, मुरारी आदि नामों से विभूषित करते हैं, तब राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुरूप परिकल्पित ईश्वर के इस रूप में हिन्दू को अपने आराध्य देव के दर्शन होते हैं, मुस्लिम को अपना खुदा दिखाई देता है, वैष्णव को उसमें विष्णु का पालक रूप दिखाई देता है तो शाक्त उसमें अपने आराध्य देव के स्वरूप के दर्शन कर आनंदित होता है । विशिष्ट उद्देश्य को ध्यान में रखकर की गई अकाल पुरुष की उस संकल्पना में एक ओर यदि परंपरा का पालन किया गया है तो दूसरी ओर मौलिकता की स्थापना भी की गई है । यह भी कहा जा सकता है कि परंपरा की तुलना में मौलिकता अधिक है । ब्रह्म, जीव, माया आदि सभी दार्शनिक प्रत्यय गुरु जी के काव्य में आकर एक ऐसी नवीन आभा मंडित हुए हैं, जिनकी उस युग को आवश्यकता थी । यह आकस्मिक नहीं है कि गुरुजी की रचनाओं में दर्शन और अध्यात्म को जीवन के कठोर सत्यों के संदर्भ में देखा गया है । वे दर्शन और अध्यात्म की अमूर्त और निर्वैकल्पिक अवस्था से सीधे भौतिक और सांसारिक धरातल पर आ जाते हैं । दर्शन और भौतिक संसार के बीच के अंतराल को इतने कौशल से नाप लेना उनके मानव के प्रति सरोकार का परिचायक है । ऐसे ही सरोकारों ने उन्हें दर्शन को रोजमर्रा की जिन्दगी तक ले आने के लिए प्रेरित किया । यह उनके व्यक्तित्व में निहित सामंजस्य का ही परिणाम है ।

उनकी प्रस्तुत संकल्पना का वैशिष्ठट्य इस बात में है कि इसमें निहित विभिन्न संकल्पनाएं अन्ततः एक ही अन्तःसूत्र में अटूट रूप से जुड़ी हुई हैं । वह अन्तः सूत्र है—जीवन के प्रति समंजित दृष्टि । इस सूत्र ने भारतीय धर्म और दर्शन के विविध विचार-सूत्रों को समन्वयात्मक चिन्तन की लड़ी में पिरोने का कार्य तो किया ही, शृंखलाओं में जकड़ी मानवता के हृदय में उन्मुक्त एवं आध्यात्मिक जीवन के अंकुरों का सृजन भी किया । विभिन्न धार्मिक मतभेदों को भुलाकर जनता को भ्रातृत्व के सूत्र में पिरोने में प्रस्तुत संकल्पना ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की । गुरु गोबिन्द सिंह के व्यक्तित्व में निहित समन्वय के इस गुण को तब भी रेखांकित किया जा सकता है, जब वे नयनाभिराम, अमृतमय ईश्वर को 'क्रूरकर्म' एवं 'रौद्र स्वरूप', 'असुर संहारक', 'गरब गंजन', 'अघोडंडन', 'दुसट खंडन'[११] जैसे विपरीत-धर्मी तत्त्वों से युक्त करके भक्ति में शक्ति का अपूर्व

११ अकाल उस्तत, १४/१९४-५

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

समन्वय करते हैं। यही कारण है कि परंमात्मा के तीनों रूपों—सौन्दर्य, अनुग्रह और शक्ति—में बारम्बार शक्ति रूप की ही स्तुति उन्हें प्रिय प्रतीत हुई, जिससे भक्तों के हृदय में परमात्मा के उन गुणों को धारण करने की इच्छा उत्पन्न हो। इसी कारण उनका अकाल पुरुष कहीं असिपाणी है[१२] तो कहीं ससत्रपाणे, असत्रपाणे,[१३] कहीं वह खड्गधारी खड्गपाणे[१४] है तो कहीं बाण पाणं।[१५] वह असुर संहारक, दुष्टविदारक, पाप विनाशक है। अन्य संतों की वाणियों में भी खोजने पर कुछेक ऐसे स्थल मिल सकते हैं, जहाँ ईश्वर को दुष्ट विदारक कहा गया हो, किन्तु इतना बल देकर कालातीत तत्त्व की असुर विखंडनी शक्ति का पुनः-पुनः स्मरण गुरु गोबिन्द सिंह के काव्य में ही मिलता है, जोकि सोद्देश्य है।

यह उस सामंजस्य का ही परिणाम है कि उनके ईश्वर का दयाशील, अनुकंपास्वरूप तथा करुणामय रूप उसके शस्त्रधारी, अस्त्रों के स्वामी, अजेय और अभय रूप के साथ एकीकृत रूप में दिखाई देता है। शांति रूप प्रभु शत्रुओं का शत्रु बन कर रौद्र रूप धारण कर खड्ग एवं बाणों से जब दुष्टों के नाश में सन्नद्ध दिखाई देता है, तब भला उनके भक्त कैसे चुप बैठ सकते हैं। प्रभु के ऐसे 'खल खंडन, महिमंडन', 'खल घाइक', 'दुशटहरता'[१६] रूप के दर्शन कर भक्त के हृदय में प्रभु के उन्हीं गुणों को धारण करने की इच्छा जागृत होना स्वाभाविक है। गुरु गोबिन्द सिंह के ईश्वर का यह रूप निश्चय ही ईश्वर के अन्य प्रतिरूपों से भिन्न तो दिखाई देता ही है, यह इस बात का परिचायक भी है कि ईश्वर के परंपरागत रूपों और धारणाओं को उसी रूप में स्वीकारने के स्थान पर गुरु गोबिन्द सिंह जी उसे तत्कालीन परिवेश और उससे निर्मित अपनी मानसिक दृष्टि की सापेक्षता में ही ग्रहण करने के इच्छुक थे। अपने युग की विभीषिकाओं और नैतिक दुर्बलताओं से आतंकित समाज में वीरता का संचार करने के लिए उन्होंने प्रकारान्तर से जिस सर्वोच्च शक्ति की आराधना का संदेश देना उचित समझा, उसकी शक्तिमत्ता में समाज की अडिग आस्था भी प्रतिष्ठित करना आवश्यक था। इसलिए परम्परा ग्रहण में भी उनकी दृष्टि सर्वत्र नवीन बनी रही। उन्होंने संस्कृति के सार तत्त्व को ग्रहण तो किया, किन्तु उसमें समयानुकूल नवीन तत्त्वों को स्थान देकर उसे समृद्ध भी किया और उसका सार्थक सदुपयोग भी किया।

ईश्वर की परिकल्पना को लोक-जीवन की यथार्थ भूमि पर उतार कर उसे इस भाँति प्रतिष्ठित करने का प्रयास पहली बार गुरु जी द्वारा ही संभव हुआ। ऐसी आध्यात्मिक शक्ति को जब काल, मृत्यु और जरा को भी हर लेने की सामर्थ्य से युक्त कर दिया, तो मृत्यु- भय से त्रस्त जनता के हृदय में मृत्यु को भी पराजित करने वाली आध्यात्मिक शक्ति का संरक्षण प्राप्त कर, निर्भय होकर अत्याचारी के नाश की ओर उन्मुख करने के लिए आवश्यक भावभूमि के निर्माण में सफलता प्राप्त हुई। ऐसी

---

१२. रामावतार, ८६३

१३. जापु साहिब, ५३

१४. विचित्र नाटक, १/८५, २/३

१५. विचित्र नाटक, १/८८

१६. अकाल उस्तत, १४/१९४-५

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

परम शक्ति के अधिनायक अकाल पुरुष की शरण पाकर किसी भी मनुष्य का सांसारिक विभीषिकाओं और जागतिक विपदाओं से परित्राण पाने की ओर प्रवृत्त होना स्वाभाविक था। यही गुरु जी का उद्देश्य था।

इतना ही नही, संत कवि की मौलिक उद्भावना क्षमता इससे भी कहीं आगे बढ़ जाती है और वह अकाल पुरुष को 'सर्वलौह'[१७] और तलवार[१८] आदि शस्त्रों के रूप में प्रतिष्ठित करती है, जोकि इससे पूर्व कभी नहीं किया गया था। गुरु जी जब युद्ध को आध्यात्मिक मूल्यों के साथ जोड़ते हुए शस्त्रों को ईश्वर का प्रतिरूप मानकर उनकी वंदना करने की प्रेरणा देते हैं, तब उनकी कल्पनाशीलता की अपूर्वता से अचम्भित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। ऐसा करने का उद्देश्य शिष्यों के हृदय में शस्त्रों के प्रति सम्मान के साथ-साथ अपनत्व का भाव जागृत करना है, ताकि उनके उपयोग के प्रति एक संकोच अथवा भय का जो भाव व्याप्त है, वह दूर हो सके। तेग की स्तुति करना और उससे सृष्टि का उद्धार करने की प्रार्थना करना गुरु गोबिन्द सिंह की ही मौलिक अवधारणा थी। 'तेग' को ईश्वर का रूप देकर ईश्वर के प्रति महसूस किए जाने वाले भाव की उन्होंने शस्त्र की ओर स्थानांतरित करने का प्रयास किया ताकि युद्ध क्षेत्र में उसका उपयोग किया जा सके। इसलिए तेग को वे सृष्टि की प्रतिपालना करने वाली, दुष्टों के दलों को नष्ट करने वाली, दुर्मति का दलन करने वाली, युद्ध का मंडन करने वाली, संतों को सुख देने वाली और विषय विकार को नष्ट करने वाली शक्ति मानकर नमन करते हैं–

सुख संता करणं दुरमति दरणं किलबिख हरणं असि सरणं।
जय जय कारण सृष्टि उबारण मम प्रतिपारण जय तेगं ।

(विचित्र नाटक, १/२)

अपने सभी अनुयायियों को उन्होंने तेग का जाप करने की शिक्षा दी। कहने की आवश्यकता नहीं कि ईश्वर को तेग, तलवार, खंडा आदि नवीन नामों से संबोधित करते हुए उन्होंने तलवार के जिस नवीन रूपक की सर्जना की, आततायी शासकों द्वारा कुचली जा रही मानवता को सुरक्षित रखने में उसकी एक विशिष्ट भूमिका रही है।

तेग ही नहीं, प्रत्येक अस्त्र-शस्त्र में गुरु जी ने काल शक्ति का निवास माना और उसे ही अपनी रक्षा एवं शत्रुओं के संहार में समर्थ बताया तथा ऐसी ही प्रार्थनाएँ भी कीं–

हमरे दुष्ट सभै तुम धावहु। आपु हाथ दे मोहि बचावहु।
सुखी बसै मेरो परिवारा। सेवक सिख सबै करतारा।

---

१७. (क) अकाल पुरख की रच्छा हमने। सरब लौह दी रच्छिआ हमनै।
—अकाल उस्तत।
(ख) कहूं अद्र सारं कहूं भद्र रूपं।
— अकाल उस्तत, २२/११२

१८. शस्त्रनाम माला, ४/७।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

यहाँ परिवार से तात्पर्य केवल गुरु गोबिन्द सिंह का परिवार ही नहीं, अपितु उनके भक्तों, अनुयायियों, सैनिकों आदि उन सभी के परिवार से है जो अकाल पुरुष में आस्था रखते हैं। ईश्वर से की जाने वाली ऐसी प्रार्थनाएँ भी सोद्देश्य हैं। स्वाभाविक है, ऐसी प्रार्थनाओं से सैनिकों के हृदय में यह विश्वास उत्पन्न होगा कि स्वतंत्रता, समानता, न्याय आदि उच्च मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए लड़े जाने वाले धर्म-युद्ध में जिन आततायियों का संहार करने के लिए हम प्रतिज्ञाबद्ध हैं, वे इन मूल्यों को न मानने के कारण मानवता के ही नहीं, ईश्वर के भी विरोधी हैं। चूँकि युद्ध उच्चतम मूल्यों की रक्षा के लिए किये जा रहे हैं, अतः उन्हें ईश्वर का समर्थन प्राप्त है। दूसरे, ईश्वर स्वयं ऐसे मानवता विरोधी दुष्टों का संहार कर सज्जनों का उद्धार करेगा एवं धर्म और न्याय का प्रसार करेगा, इस विश्वास से सैनिकों का युद्धोत्साह द्विगुणित होना भी आवश्यक है क्योंकि उनमें निरंतर यह आस्था बनी रहेगी कि इस युद्ध के माध्यम से वे ईश्वर के चरणों में अपनी सेवाएँ समर्पित कर रहे हैं और ईश्वर भी सदैव उनके संग-संग है।

जब गुरु जी युद्ध को ही परमात्मा का रूप मान लेते हैं[१९] और युद्ध क्षेत्र में जूझने वाले योद्धा को परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करने में समर्थ बताते हैं, तब प्रत्येक ईश्वर-भक्त ईश्वर प्राप्ति के ऐसे सुअवसर को हाथ से न जाने देने के लिए लालायित हो उठता है। युद्ध के अधिष्ठाता कालरूप महाकाल को भय का विषय-बनाकर भी, भक्त को उसे प्रेम से प्राप्त करने की प्रेरणा देना, शस्त्रों की पूजा करना, युद्ध के माध्यम से प्रभु चरणों में अपनी भेंट प्रस्तुत करने की विधि सिखाना ऐसी ही मौलिक उद्‌भावनाएँ हैं, जिनसे गुरु भक्ति की राह से गुज़रते हुए कब शक्ति की ओर बढ़ जाते हैं जानना कठिन है, संग संग शिष्यों को भी वे धर्म साधना के पथ पर चलाते हुए कब युद्ध क्षेत्र में ले जाते हैं, पता ही नहीं चलता। कण-कण में ईश्वरीय सत्ता के दर्शन कर विमुग्ध हो, जब गुरु जी 'जलस तुही, थलस तुही, नदिस तुही, नदस तुही' कहते-कहते 'तुही-तुही, तुही-तुही, तुही-तुही,[२०] कहते हुए आत्मविस्मृति की स्थिति में पहुँच जाते हैं, तो एक अद्वितीय साधक की साधना से हमारा परिचय होता है। जब वे ईश्वर के बिस्वपाल, जगत काल, दीनदयाल, दीनन के प्रतिपाल' रूप की स्तुति करते हुए 'चुनि-चुनि सत्रु हमारे मरिए'[२१] जैसी प्रार्थनाएँ करते हैं, तब ऐसी प्रार्थनाओं से उस भक्त साधक के एक ऐसे योद्धा रूप का परिचय प्राप्त होता है, जो केवल संत नहीं, संत सिपाही है, जिसमें एक भक्त की एक निष्ठता, समर्पण, प्रेम, करुणा, दीनता एवं निवेदन के साथ-साथ एक योद्धा की सर दे देने की प्रवृत्ति और वीरता का भाव भी विद्यमान है। उनके काव्य में प्रवाहित भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की त्रिवेणी जहाँ सहृदय के हृदय को आनंदित करती है, वहीं उनकी वाणी में करुणा एवं पीड़ा के तीव्रतम रूप की मार्मिक अभिव्यक्ति उसे भाव-विह्वल कर देती है, तो खड्‌ग एवं अन्य अस्त्र-शस्त्रों

---

१९. नमो जुद्ध जुद्धे नमो गेआन, गिआने, नमो भोज भोजे नमो पान पाने।
नमो कलह करता नमो संत रूपे, नमो इन्द्र इन्द्रे अनाद विभूते।
—जापु साहब, १८७

२०. अकाल उस्तत, १३/६३—२०-७०.

२१. कृष्णावतार, ४५६.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

की अनूठी टंकार उसे नख से शिख तक वीर रस में सराबोर कर देती है। वस्तुतः गुरु गोबिन्द सिंह जी के सम्मुख व्यक्ति के आत्मपरिष्कार एवं आत्मोद्धार का प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण न था, जितना छटपटाती मानवता को मुक्त करने का सामाजिक उत्तरदायित्व। ऐसे भक्त गुरु का ईश्वर भी सामाजिक प्रतिबद्धता से मुक्त भला कैसे हो सकता है ? गुरु ने स्वयं पापियों के संहार तथा मानवता के संरक्षण के लिए जिन धर्म-युद्धों का आयोजन किया था, उनके लिए प्रेरणा अपने आराध्य अकाल पुरुष से ही ग्रहण की थी, जो सदैव मानवता को सुरक्षित रखने के लिए किसी न किसी प्रकार का विधान करते आये हैं—

सभै संत पर होत सहाई । ता ते संख्या संत सहाई ।
निरख दीन पर होत दिआरा । दीन बंध हम तबै बिचारा ।
संतन पर करुणा रस ढरई । करुणानिधि जग तबै उचरई ।

(चौबीस अवतार,८,९,०)

यदि व्यक्ति अथवा समाज द्वारा दंड विधान की अवज्ञा कर नैतिक नियमों को तोड़ा गया है, तो ईश्वर ने भिन्न-भिन्न प्रकार से उसके विनाश की परिस्थितियाँ भी उत्पन्न की हैं। कभी किसी जीव विशेष की रचना करके, कभी अवतारों की सर्जना करके, तो कभी कोई अन्य उपाय करके ईश्वर मानव को अत्याचार से मुक्त समाज उपलब्ध कराता रहा है। उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता, पीड़ित एवं शोषित मानव के प्रति उसका सरोकार उससे और कुछ करवा ही नहीं सकता।

मानव के प्रति उसी सरोकार के कारण गुरु जी ने ईश्वर की प्राप्ति के लिए शुद्धता, नैतिकता अपरिग्रह, समानता आदि गुणों को धारण करना आवश्यक बताया। उनके अनुसार नैतिक एवं आध्यात्मिक शुद्धता से व्यक्ति के हृदय में उत्पीड़ित मनुष्य के प्रति सहानुभूति का भाव उत्पन्न होगा तथा मानव सही अर्थों में मानव को पहचानने की राह पर बढ़ेगा। व्यक्ति के 'मैं' का विस्तार 'हम' तक होगा और लोकमंगल की भावना से प्रेरित होकर उसका आत्मविस्तार विश्व विस्तार का रूप धारण कर लेगा। उसके लिए प्रेम मार्ग पर चलकर अपनी हृदयगत वासनाओं का उदात्तीकरण कर उस स्थिति तक पहुँचना संभव हो जायेगा, जहाँ संपूर्ण विश्व की पीड़ा अपनी पीड़ा प्रतीत होती है और उसका सुख अपना सुख। ऐसी स्थिति में पहुँचकर वह क्षुद्रभावों से ऊपर उठ जायेगा तथा भेदभाव भूलकर मानवता की स्थापना के लिए अपना बलिदान देने में भी संकोच नहीं करेगा क्योंकि प्रेम त्याग और बलिदान की ओर ले जाता है। प्रेम और त्याग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। 'श्रीमद्‌भगवद् गीता' में श्रीकृष्ण ने विशुद्ध प्रेम और त्याग की व्याख्या करते हुए अपने मित्रों से कहा था–

एतावज्जन्यसाफल्यं देहिनामिह देहिषु । प्राणैर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत सदा ।

साकारी आत्माओं के जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य अपने जीवन, धन, बुद्धि और वचन से अन्य साकारी आत्माओं का हर संभव कल्याण करना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि गुरु जी के जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य भी यही रहा। मन, वचन और कर्म से उन्होंने प्रेम और त्याग का अन्यतम उदाहरण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

प्रस्तुत किया। मानवता की रक्षा के लिए अपने चारों पुत्रों को कुर्बान करने के बाद भी जिस पिता को शोकानुभूति नहीं, अपितु परम शांति की अनुभूति होती है, उसके त्याग की मिसाल अन्यत्र कहाँ खोजी जा सकती है ? शांति की अनुभूति करने वाला अप्रसन्न कैसे रह सकता है क्योंकि शांति और प्रसन्नता समानार्थी हैं। हमारे समस्त उपनिषदों एवं धार्मिक ग्रन्थों का अंत इसी पर होता है–

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

ऐसी प्रसन्नता का भागी—'इन पुत्रन के सीस पे, वार दिए सुत चार'–कहकर, अपनी आनंदानुभूति के केवल अल्पांश को ही अभिव्यक्त कर पाता है। यदि आज की स्वार्थकेन्द्रित पीढ़ी गुरु के ऐसे अपूर्व त्याग एवं बलिदान के भाव का शतांश भी धारण करने का प्रयास करे, तो नष्ट होते मानवीय मूल्यों को बचाना कठिन नहीं। वस्तुतः जो लोग मनस्वी होते हैं, संपूर्ण मानवता के प्रति प्रतिबद्ध होते हैं, वे न दुख की चिन्ता करते हैं, न सुख ही उन्हें अपने लक्ष्य से हटा सकता है। अपना व्यक्तिगत हानि-लाभ उनकी दृष्टि में अत्यंत गौण स्थान रखता है, सामूहिक कल्याण की जो भावना उनके हृदय में हिलोरें लेती रहती है, उसके समक्ष प्रत्येक सांसारिक सुख-दुख उन्हें अत्यंत तुच्छ प्रतीत होता है—

'मनस्वी कायार्थी गणपति न दुखः न च सुखः'

संघर्ष ही में उन्हें वह शक्ति दिखाई देती है, जो मानवता से संबद्ध अभिप्रेत की प्राप्ति की ओर ले जा सकती है और गुरुजी का प्रत्येक कार्य उस की ओर अभिमुख होने के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। गुरु गोबिन्द सिंह की तथा उनके ईश्वर की सामाजिक प्रतिबद्धता विषयक यही विशेषता उन्हें प्रत्येक युग में प्रासंगिक बनाती है। यही कारण है कि नाम-स्मरण एवं जाप आदि को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी उन्होंने आत्मशुद्धि के व्यक्तिगत साधनों यथा—जप-तप, ध्यान, समाधि, योग-साधना आदि के स्थान पर सम्मिलित प्रयास एवं निरंतर कर्मरत रहने के मार्ग पर बल दिया। शिष्यों को सामूहिक रूप से कर्म की ओर उन्मुख करने का कारण स्पष्ट है। गुरु जी जानते थे कि जनता को धर्म युद्ध के लिए तत्पर करने के लिए वे शक्ति के रूप में जिन शस्त्रों की आराधना की ओर प्रेरित कर रहे हैं, वह निर्जन अथवा एकाकी स्थान पर संभव नहीं। उसके लिए सामूहिक प्रयास, प्रशिक्षण और निरंतर अभ्यास की आवश्यकता है। स्वाभाविक है, व्यक्तिगत साधना उसके अनुकूल नहीं हो सकती थी। अतः समाज में सामूहिकता की चेतना उत्पन्न करने के लिए उन्होंने अत्यंत मनोवैज्ञानिक ढंग से शिष्यों को एकजुट होकर सामूहिक कर्म-पद्धति के माध्यम से अकाल पुरुष को प्राप्त करने का मार्ग सुझाया। यही कारण है कि अकाल पुरुष को विशिष्ट गुणों से संपन्न करने के बाद उस तक पहुँचने के मार्ग को भी गोबिन्द सिंह ने वैशिष्ट्य से युक्त बना दिया।

चूँकि उनकी भक्ति भावना युद्ध भावना से असंपृक्त नहीं है, इसी कारण प्रभु तक पहुंचने का उनका मार्ग भी युद्ध क्षेत्र से होकर निकलता है। उनकी धर्म साधना की यह विलक्षणता उन्हें अन्य संत कवियों से भिन्न श्रेणी में ला खड़ा करती है। संत कवियों की तरह इहलौकिक और पारलौकिक जीवन विषयक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए भी उससे भिन्न दिखाई देती है, और सिख गुरुओं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

की धर्म साधना से साम्य रखती हुई भी यह विशिष्ट जान पड़ती है। उनकी भक्ति-भावना का युद्ध-भावना से मणिकांचन संयोग के कारण उनके काव्य में आध्यात्मिक मूल्यों से सर दे देने की क्रांतिकारी चेतना उत्पन्न करने की अपूर्व यात्रा दिखाई देती है जो उसे विशिष्ट सौन्दर्य से मंडित कर देती है। ज्ञान और भक्ति की लम्बी विरासत को समझते हुए उसे आत्मसात करके समय के अनुकूल एक नये और क्रांतिकारी अर्थ से युक्त करने का विलक्षण कार्य गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा ही सम्पन्न हो सकता था। इसी के परिणामस्वरूप ऐसा समाज जिसे राजनीति युद्ध आदि से कोई सरोकार न था, अस्त्र-शस्त्र से जिसका दूर तक कोई वास्ता न था, "कोऊ नृप भये हमें का हानी" जिसकी रग-रग में समाया था, धन, सुविधाओं, शस्त्र-अस्त्र आदि के अभाव में भी सवा लाख से अकेले लड़ने की स्थिति तक पहुंच गया। ऐसा आश्चर्यजनक परिवर्तन लाने की सामर्थ्य गुरु गोबिन्द जैसे महामानव में ही हो सकती थी। अत्याचार के विरोध में युद्ध को एक नवीन संकल्पना के रूप में उभारने का ऐसा अभूतपूर्व कार्य पहली बार गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा ही संपन्न हुआ। युद्ध को दर्शन के साथ संबद्ध कर उसे जीवनधारा का अंग बनाकर दर्शन, चिन्तनधारा एवं जीवनधारा– तीनों की त्रिवेणी का अनोखा संबंध निःसंदेह भारतीय चिन्तन ने गुरु गोबिन्द सिंह से ही प्राप्त किया। इससे प्रत्येक भारतीय ने अपने पूर्वजों द्वारा प्रदत्त सांस्कृतिक विरासत एवं मानवीय मूल्यों की रक्षा कर पाने की समझ हासिल की ।

युद्ध की देवी चंडिका पर आधारित उनकी तीनों रचनाओं 'चंडी चरित्र उक्ति विलास', 'चंडी चरित्र (द्वितीय)' और 'चंडी दी वार' में भी यह दर्शाया गया है कि असुरों के संहार के लिए देवी चंडिका देवताओं से अस्त्र, शस्त्र एवं तेज प्राप्त कर गण-प्रतिनिधि हो जाती है और असुर संहार के जिस कार्य को अलग-अलग देवता नहीं कर पाते, उसे वह विश्वासपूर्वक कर लेती है। गुरु जी यह अच्छी तरह समझ चुके थे कि जनता के पास धर्म तो है किन्तु सच्ची राष्ट्रीयता की, सामूहिक चेतना की भावना नहीं है, जिसके बिना उसे एकता के सूत्र में नहीं बाँधा जा सकता। अतः इन कथाओं के माध्यम से उन्होंने यह समझाने का प्रयास किया कि इसी प्रकार यदि सभी देशवासी संगठित होकर अपने हृदय में मुगलों के दमन का दृढ़ संकल्प धारण कर, एक शक्ति के नेतृत्व से संचालित होकर सम्मिलित प्रयास करें तो अत्यंत शक्तिशाली अत्याचारी शासक का भी अंत संभव है। उन्होंने जनता को यह चेतना दी कि संकल्प, आत्मविश्वास, साहस एवं एकता से अन्यायी का दमन किया जा सकता है और साथ ही अत्याचारों, दुष्प्रवृत्तियों एवं अनीति से अपने धर्म, जाति और देश के सम्मान को बचा कर मानवता की स्थापना की जा सकती है। तद्युगीन समाज की सबसे बड़ी आवश्यकता को पहचान कर उसकी स्वाधीनता के लिए धर्म ही का आधार बना कर, उसे सार्वजनिक समाज प्रदान करने का गुरु का यह प्रयास अपने-आप में अद्भुत है, आज भी जिसकी प्रासंगिकता को नकारा नहीं जा सकता। एक कुशल मनोविज्ञानवेत्ता की भाँति गुरु जी ने न केवल युग की नब्ज को पहचानने में, अपितु उसका समुचित उपचार करने में भी समर्थ हुए। अपने-आप में यह बात कितनी आश्चर्यजनक है कि अपनी संवेदनशीलता एवं तीव्र भावप्रवणता के बल पर कोई व्यक्ति भिन्न-भिन्न जाति, धर्म एवं संप्रदायों के मानने वालों, विभिन्न रीति-रिवाज़ों, वेशभूषा एवं पोशाकों को धारण करने वाले लोगों के हृदय में पैठकर, उनके भीतर छिपी हुई स्वाधीनता की आकांक्षा के पहचानने में समर्थ हो जाता है और केवल पहचानता ही नहीं, मानवता की मुक्ति की दिशा में उसका कुशलतापूर्वक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नियोजन भी करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'एक ही सरूप सबै एक जोति जानिबो' जिस व्यक्ति के व्यक्तित्व में रच-बस गया हो, वही ऐसे अद्भुत कार्य करने में समर्थ हो सकता है और अपनी समतावादी दृष्टि से समाज में युगांतरकारी परिवर्तन ला सकता है। गुरु गोबिन्द सिंह ऐसे ही महापुरुष थे। आज जबकि समाज में अराजकता, जीवन में भटकाव, निराशा आदि फैली हुई है। धर्म, न्याय, सदाचार, सत्य और अहिंसा लुप्त हो गई है। मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा के लिए इसी प्रकार के अद्भुत विशेषताओं से सामंजसित आदर्श मानवों की आवश्यकता है। भले ही आदर्श आधुनिक चेहरों वाली सभ्यता द्वारा इन मूल्यों को नकार दिया गया हो, किन्तु समाज की स्थिति के लिए तथा संस्कृति की सुरक्षा के लिए इन आदर्शों की सदियों से आवश्यकता रही है ओर आगे भी रहेगी। गुरु गोबिन्द सिंह के व्यक्तित्व में ऐसी ही विविध किन्तु अद्भुत प्रतीत होने वाली विशेषताओं का समन्वय दिखाई देता है, जिनके अभाव में मानवता के संरक्षण का कार्य संपादित होना संभव न था। 'खालसा' पीड़ित मानवता की मुक्ति के ऐसे ही निमित्त के रूप में उभरा था, जिसकी स्थापना के पीछे गुरु जी के संपूर्ण जीवन की अनवरत साधना और एकाग्रता निहित थी। आज से तीन सौ वर्ष पूर्व 'खालसा' के रूप में गुरु जी ने हिन्दू समाज को एक ऐसी अपूर्व देन प्रदान की, जिसका पुण्य स्मरण आगामी शताब्दियों में भी उसी आदर के साथ किया जायेगा।[२२]

समाज में इतना बड़ा क्रांतिकारी परिवर्तन लाना आसान काम न था। यह परिवर्तन लाने की गुरु जी की अद्भुत सामर्थ्य का ही परिणाम था कि सामान्य धर्म-भीरु हिन्दुओं में ही नई चेतना का संचार कर, उन्हें वीर सैनिक बनाने तथा उन्हीं में राजा उत्पन्न करने, उन्हें राज्य करने की रीति सिखाकर सरदार बनाने का जो निश्चय उन्होंने किया था, अपने अडिग उत्साह, दृढ़ता एवं आत्मबलिदान की भावना से वे उसे साकार रूप देने में समर्थ हुए। हिन्दू समाज के गुरु एवं मार्गदर्शक दोनों बनकर उन्होंने परिवेश के प्रति उदासीन शांतिप्रिय, निरुत्साह धार्मिक समूह की चित्तवृत्ति में परिवर्तन लाकर उन्हें असाधारण योद्धाओं में बदल दिया तथा उनमें एकता, संगठन, वीरत्व एवं क्षत्रियत्व की भावना प्रदीप्त करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की। उन्होंने उनकी धमनियों में बहते ठंडे लहू को पुनः उष्णता प्रदान की और उन्हें सामाजिक, धार्मिक, मानसिक, राजनीतिक, सब प्रकार की स्वतंत्रता के लिए मर-मिटने को तत्पर किया। उन्होंने अपने निश्चय के अनुरूप अपने प्रत्येक अनुयायी को स्वयं निर्णय लेने में समर्थ बनाया। गुरु की दृष्टि में वे ही सच्चे सूरमा थे जो अन्याय के प्रतिकारस्वरूप किये गये धर्म-युद्ध में भाग लेने को धर्म की दृष्टि से अनिवार्य समझे, जिनमें वीरता भी हो, आत्मिक बल भी। साथ ही जिन्हें प्रभु की शक्ति पर विश्वास हो—

> **धन जीओ तिह को जग मैं, मुख ते हरि चित्त में जुध बिचारै ॥**
> **देह अनित्त न नित्त रहै, जसु नाव चढ़ै भव सागर तारै ॥**
> **धीरज धाम बनाइ इहै तन, बुधि सु दीपक जिउं उजीआरै ॥**
> **गिआनहि की बढ़नी मनहू हाथ लै, कातरता कुतवार बुहारै ॥**

(कृष्णावतार, २४९२)

---

२२. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए इसी पुस्तक का अध्याय—'खालसा पंथ : एक नवीन सामाजिक बोध' पृ. १२१-१६८.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गुरु के संस्पर्श ने उन कापुरुषों को भी महान योद्धाओं में परिवर्तित कर दिया, जिन्होंने कभी अस्त्र-शस्त्र का स्पर्श भी न किया था। निम्न जातियों के लोग भी ऐसे शूरवीर बन गये, जिनसे बड़े-बड़े राजा भी भयभीत होने लगे। हृदय में ईश्वर का नाम धारण कर, हाथ में हथियार लेकर, जब ये शूरवीर अत्याचारियों पर टूट पड़ते तो उन्हें नाकों चने चबाने पर विवश कर देते—

महाकाल का करयो ध्याना। घट में निरख हरि भगवाना।
तुर्क म्लेच्छन सों नहीं मिलना। लै हथियार सामने पिलना।

परिवर्तन की यह असाधारण प्रक्रिया परिस्थितियों के आकलन और उनके समुचित संयोजन की सामर्थ्य से युक्त महामानव ही की देन हो सकती है। गुरु गोबिन्द सिंह ऐसे ही महामानव थे, समाज में युगांतरकारी परिवर्तन लाकर जिन्होंने मानव मात्र के कल्याण का प्रथ प्रशस्त किया। कभी वीर योद्धा का बाना पहनकर, कभी धर्म-गुरु एवं समाज सुधारक तो कभी साहित्यकार बन कर—जब जैसी आवश्यकता आन पड़ी, उन्होंने उसी के अनुरूप रूप धारण कर लिया। संत साधक गुरु के व्यक्तित्व के इस रूप से परिचित व्यक्ति भी इस बात पर आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहता कि किस प्रकार प्रभु-नाम-स्मरण करने वाला भक्त आवश्यकता पड़ने पर एक हाथ में तलवार ले कर युद्ध क्षेत्र में कूद पड़ता है तो दूसरे हाथ में लेखनी ग्रहण कर भावों एवं विचारों को भाषिक जामा पहनाता रहता है। जरा कल्पना की जाये युद्ध की मानसिकता और साहित्य रचना के लिए अपेक्षित वातावरण की। दोनों में परस्पर कितना विरोध है, किन्तु ऐसे गुरु की अनुशंसा करने में संभवतः वाणी भी असमर्थ प्रतीत होती है, जो युद्ध में भी उतनी तल्लीनता दिखाते हैं, जितनी एकाग्रता साहित्य लेखन में। एक योद्धा के रूप में तो वे अपने शिष्यों के लिए अनुकरणीय आदर्श साबित हुए ही, अपनी समर्थ लेखनी के द्वारा प्रजापति का रूप धारण कर जनता की रुचि का संस्कार करने में भी समर्थ हुए। उनकी लेखनी की सामर्थ्य को देखते हुए संस्कृत की निम्नलिखित उक्ति उन पर चरितार्थ होती है—

अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापति
यथे दं रोचते विश्वं तथे द परिवर्तते।

जहाँ उन्होंने सवा लाख से अकेले जूझने वाले सूरमा उत्पन्न किये वहीं साहित्यिक क्षेत्र में भी अन्यतम कृतियों की रचना की। 'विचित्र नाटक' आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई है तो 'जापु साहब' एवं 'अकाल उस्तत' भक्ति भावना से ओतप्रोत रचनाएँ हैं, 'रामावतार', 'चंडी चरित्र', 'चंडी चरित्र उक्ति विलास' एवं 'चंडी दी वार' आदि वीर काव्य हैं तो 'जफ़रनामा' शाही पत्र है। कहने का तात्पर्य यह कि विद्रोह के विषम वातावरण में गुरु जी ने अपनी जीवन-यात्रा को भी आगे बढ़ाया और अपनी साहित्य-साधना को भी। उसी यात्रा के दौरान उन्होंने जीवन-दर्शन सम्बन्धी मान्यताएं स्थिर कीं। यह आकस्मिक नहीं है कि उनके साहित्य में राजनीति, समाजनीति और धर्मनीति को परिवर्तित करने में उनकी क्रियाशीलता दृष्टिगत होती है। 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' में से शिवत्व उनके साहित्य में निरंतर प्रतिफलित होता दिखाई देता है। लोक संग्रह एवं लोक कल्याण पर से क्षण-भर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के लिए भी उनकी दृष्टि नहीं हटती।

राष्ट्र के संकट की उन घड़ियों में गुरु जी का साहित्य अग्निपुंज के समान प्रज्वलित हुआ और जन-सामान्य में वीरता, उत्साह, चरित्र-बल एवं ईश्वरीय-प्रेम की ज्योति जगाने में समर्थ हुआ। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक स्थिति के अनुरूप, जब जैसी आवश्यकता आन पड़ी, बहुआयामी व्यक्तित्व के स्वामी गुरु की वाणी से उसी प्रकार वैविध्यपूर्ण भावों का प्रस्फुटन होता गया। शत्रुओं के आक्रमणों से घिरे रहने पर भी उनका अन्तक़रण काव्य की तरंगों से जिस प्रकार आंदोलित रहता था, उसे देखकर आश्चर्य होता है। इस सम्बन्ध में मैकालिफ़ ने लिखा है कि "वे प्रातक़ाल बहुत सबेरे उठते, स्नान करते और दूर तक टहलने निकल जाते थे और निर्बाध एकान्त में बैठकर तीन घंटे तक काव्य-रचना किया करते थे।— बीच-बीच में नदी की बल खाती हुई धारा को देखते रहते थे और चमकती हुई फेन-राशि और नील धाराओं की सुन्दरता से मुग्ध हो जाया करते थे।" कभी प्रकृति उनके काव्य का विषय बनती तो कभी प्रेम और शृंगार। कभी वे अकाल पुरुष की भक्ति में अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति करते हुए उसे काव्य का आधार बनाते तो कभी साधना की स्थिति से बाहर निकल कर यकायक योद्धा का रूप धारण कर लेते और वीरतापूर्ण भावों से ओतप्रोत काव्य की रचना करते। काव्य के विषय अथवा रूपों की दृष्टि से ही नहीं, भाषा की दृष्टि से भी मानव मात्र की एकता के अभिलाषी कवि की समन्वयशीलता ध्यान देने योग्य है। मुख्यत: ब्रजभाषा में काव्य रचना के साथ-साथ उन्होंने पंजाबी एवं फ़ारसी को भी अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया तथा स्वाभाविक क्रम में अरबी आदि भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग किया। मौज़ूदा स्थितियों में प्रत्येक प्रकार के भाषायी विवाद सुलझाने की दृष्टि से गुरु जी का साहित्य अनुकरण का विषय हो सकता है।

गुरु जी स्वयं ब्रज, संस्कृत, अरबी, फ़ारसी आदि भाषाओं के ज्ञाता थे। अतीत की जानकारी प्राप्त करने के लिए तथा परंपरा से जुड़ने के लिए गुरु जी ने स्वयं प्राचीन भारत के साहित्य का अवगाहन किया। संस्कृत ग्रंथों, पौराणिक काव्यों तथा पूर्व गुरुओं की वाणियों आदि का उन्होंने भली-भाँति अध्ययन किया हुआ था। वे उन पर चिन्तन-मनन किया करते थे। वे स्वयं तो काव्य रचना करते ही थे, उन्होंने अनेक कवियों, ब्राह्मणों तथा शास्त्रज्ञों को भी अपने यहाँ निमंत्रित कर उन से अपने शिष्यों को शस्त्रज्ञान करवाया। संस्कृत से उन्हें अत्यधिक प्रेम था, वे इसके अध्ययन को प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुलभ कराना चाहते थे। उन्होंने रघुनाथ नामक एक ब्राह्मण पंडित को अपने प्रिय शिष्यों के संस्कृत पठन हेतु नियुक्त करना चाहा।— उसने अपने अहंभाव के कारण गुरु जी के उन शिष्यों को संस्कृत पढ़ाने से इंकार कर दिया— कहा कि आपके शिष्य अधिकांश छोटी जातियों के हैं और शास्त्रों में शूद्रों के लिए विद्या का निषेध है। प्रस्तुत प्रसंग से शिष्यों को अधिकाधिक ज्ञान प्रदान करने के गुरु के सरोकार से भी हमारा परिचय होता है। श्री गुरु ने उसे मीठी भर्त्सना से युक्त शब्दों से कहा कि क्या संस्कृत केवल ब्राहणों की दासी है? क्या दूसरों का उस पर कोई अधिकार नहीं है? याद रखें, जिन्हें आप इतना छोटा समझते हैं, वही अब महान पंडित बनकर चमकेंगे और आपका यह दंभ टूटेगा—। अपनी प्रतिज्ञा निभाने के लिए उन्होंने अपने पाँच

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शिष्यों को काशी भेजा_उन्होंने संस्कृत अध्ययन किया और महान विद्वान बनकर श्री गुरु देव का कार्य संपादन करने में सहयोग दिया। फिर तो परंपरा चल पड़ी और श्री गुरु महाराज के शिष्य संस्कृतज्ञ होने लगे। इन्हीं बावन शिष्यों के सहयोग से उन्होंने कई संस्कृत-ग्रंथों का भाषानुवाद भी करवाया था।[२३] जिन में से 'महाभारत,' 'रामायण', 'योगवासिष्ठ', 'श्रीमद्‌भागवद्‌गीता', 'उपनिषद', 'पुराण', 'चाणक्य-नीति' आदि प्रमुख हैं।

उपर्युक्त शीर्षक यह दर्शाते हैं कि युद्धोत्साह उत्पन्न करने तथा आध्यात्मिक संस्कार प्रदान करने के साथ-साथ 'चाणक्य नीति' जैसी पुस्तकों से गुरु जी राजकाज के प्रति उदासीन जन सामान्य को राजनीति का ज्ञान दिलाने के लिए भी प्रयासरत हैं। उनके दरबार में बावन कवियों को आश्रय प्राप्त था,ऐसा अन्य विद्वानों एवं आलोचकों द्वारा भी माना गया है।गुरु जी के दरबार के कवियों में से कवि अमृतराय ने 'महाभारत' के 'सभा पर्व' का तथा कवि हंसाराज ने 'कर्णपर्व' का भाषानुवाद किया था,जिससे प्रसन्न होकर गुरु जी ने उन्हें साठ-साठ हजार रूपये देकर पुरस्कृत किया था। कवि कुवरेश ने गुरु जी की आज्ञा से 'महाभारत' के 'द्रोण पर्व' का अनुवाद किया था तथा मंगल कवि ने 'शल्यपर्व' का। इन कवियों की समन्वित देन 'विद्याधर' अथवा 'विद्यासागर' नाम से प्रसिद्ध वह ग्रंथ माना जाता है, जिसका भार नौ मन बताया जाता है।[२४] दुर्भाग्यवश आंनदपुर छोड़ते समय सरसा नदी पार करते हुए देश की दुर्लभ साहित्यिक निधि को संजोने के गुरु जी के प्रयासों के बावजूद इस अमूल्य खज़ाने का एक बड़ा भाग नदी में डूब गया था। 'विद्यासागर' ग्रंथ नष्ट न हुआ होता तो गुरु जी के जीवनकाल की कतिपय घटनाओं की अन्त: साक्ष्य अथवा बहिर्साक्ष्य द्वारा पुष्टि तो होती ही, साहित्य के प्रचार-प्रसार सम्बन्धी किए गये उनके महत्त्वपूर्ण योगदान से हिन्दी साहित्य भंडार की श्रीवृद्धि हुई होती।

गुरु जी के काव्य का भली-भाँति किया गया अवगाहन उनके विविधताओं और महानताओं से भरे हुए व्यक्तित्व के अनेकानेक आयामों को समझने में सहायक हो सकता है। बहुआयामी व्यक्तित्व के स्वामी गुरु कभी सत्य, न्याय, नैतिकता आदि मूल्यों की शिक्षा देते हुए शिष्यों का आध्यात्मिक संस्कार करने वाले धर्म-गुरु का रूप धारण कर लेते हैं,कभी शस्त्रास्त्र का प्रशिक्षण देते हुए अथवा स्वयं शिष्यों के साथ युद्ध करते हुए उनके सैनिक प्रशिक्षक बने हुए दिखाई देते हैं। कहीं वे प्रभुनाम का जाप करते हुए आत्मसाधक के रूप में दिखाई देते हैं,कहीं शिष्यों में वीरकाव्य द्वारा युद्धोत्साह जागृत करते हुए साहित्यकार हैं,तो कहीं सन्मार्ग दिखाते हुए गुरु हैं। कहीं स्वयं शिष्यों के शिष्य बन उनसे आदेश माँगते हैं,कहीं जंग़लों में नंगे पांव जंगली पौधों से क्षुधा शांत करते किंतु मानवता की सेवा के अपने लक्ष्य से विमुख न होते त्यागी पुरुष के रूप में सामने आते हैं। अपना

---

२३. संत इंद्रसिंह चक्रवर्ती (सं) : 'गोबिन्द रामायण', भूमिका, ओम प्रकाश आनंद, पृ. ७-८.

२४. बावन कवि हजूर गुर रहित सदा ही पास, आवें जाहिं अनेक ही कहव जस लें धन रास।
तिन कवि मन बानी रची·लिखि कागद तुलवाय, नौ मण होय तोल महिं सूखम लिखित लिखाय॥
—भाई संतोख सिंह, गुरु प्रताप सूरज, पृ. ५७२३

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तन, मन, धन-समस्त संपत्ति और यहाँ तक कि अपने परिवार को भी जो मानव सेवा में अर्पित कर दे, उससे बढ़कर त्याग का दूसरा उदारहण कौन सा मिलेगा ? वे जानते थे कि धन और राजनीतिक शक्ति का अपने सुख और काम तृप्ति के लिए किया गया उपभोग अन्ततः निराशाजनक परिणामों को ही जन्म देता है । समस्त सुख भोगोपरान्त प्रसिद्ध राजा भर्तृहरि ने भी यह स्वीकार किया था—

'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता, आशा न जीर्ण । वयमेव जीर्णा'

अर्थात् मैं भोगों को समाप्त नहीं कर सकता अपितु भोग ही मुझे समाप्त कर सकते हैं । इच्छाओं और कामनाओं का अंत नहीं होता अपितु वे ही मुझे जीर्ण कर देती हैं । गुरु गोबिन्द सिंह ने जैसे उसे अपने जीवन में आत्मसात् किया हुआ था । समस्त सांसारिक भोगों के बीच भी वे वैरागी पुरुष की भाँति इस प्रकार रहे, ज्यों जल में कमल । न उन्हें धन-वैभव की कामना थी, न सांसारिक अस्तित्व से मुक्ति ही पाने की । संसार में रहकर, प्राणियों के अन्तःकरण में प्रवेश कर, उन्हें उनके कष्ट से छुटकारा दिलाने की कामना उनके प्रत्येक कार्य के पीछे काम करती रही और वे ऐसी स्थितियों का निर्माण करते रहे, जिनमें बिना किसी प्रतिदान की अपेक्षा के स्वयं आघात सहकर भी दूसरों का रक्षण किया जा सके ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आज बिखरते मानव मूल्यों बीच के गुरु जी का जीवन-वृत्त, दर्शन एवं साहित्य धर्म या जाति विशेष के लिए ही नहीं, संपूर्ण मानव जाति के लिए नवीन आशा का संचार करने में सक्षम हो सकता है । गुरु जी की जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, वे हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं । वे धर्म विशेष के लिए ही अध्ययन का विषय नहीं हैं, अपितु समस्त मानवता के लिए प्रशस्ति का मार्ग हैं । मानवतावाद एक अन्तःसूत्र की भाँति उनकी रचनाओं में एक सिरे से लेकर दूसरे तक पिरोया हुआ है । भक्तिपरक रचना हो, वीर काव्य अथवा किसी अन्य भाव पर आधारित रचना हो, मानवता की धारा उनमें अक्षुण्ण बहती दिखाई देती है । आज मानवीय मूल्यों के संकट के इस काल में, छटपटाती मानवता की समस्या जब मुँहबाये खड़ी है, इस बात की अत्यधिक आवश्यकता है कि गुरु जी के साहित्य को शोध का विषय बनाया जाये तथा उनके काव्य सागर की विविध मुक्ति-तरंगों से मानवता को विभूषित किया जाये ।

हीगल का कथन है "युग का महान पुरुष वह है जो युग की इच्छा को अपने शब्दों में अभिव्यक्त कर सके, जो अपने युग को उसकी इच्छा से परिचित करा सके तथा उसे पूरा कर सके । उसके द्वारा किये गये कार्य उसके युग का सार तत्त्व होते हैं । अपने कार्यों द्वारा वह युग को यथार्थ रूप प्रदान करता है । निःसंदेह गुरु गोबिन्द सिंह ने युग को यथार्थ रूप प्रदान करने के लिए अपनी समर्थ वाणी, ज्ञान, बल, बुद्धि, विद्या– सब का सार्थक उपयोग किया । वे मानवता की डूबती नौका को भव-सागर से पार लगाने वाली महत् विभूति थे । मानवता के भूले-भटके बिखरे मोतियों को पहचान कर, चुन-चुन कर उन्हें सँवार कर एक सुन्दर माला का रूप देने और उससे संपूर्ण जगत् को सुशोभित करने के लिए उन्होंने अपना जीवन बलिदान कर दिया । आश्चर्य नहीं कि पिता गुरु तेग बहादुर के बलिदान के पश्चात् अपने समाजिक परिवेश के प्रति जिस गंभीर उत्तरदायित्व को निभाने का संकल्प

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उन्होंने धारण किया था, उसके लिए बड़े से बड़ा बलिदान देने में भी वे पीछे नहीं हटे और अपने अथक प्रयासों से विशृंखलित समाज को एक सुंदर संतुलित समाज में परिवर्तित कर पाने में समर्थ हुए। आज के विघटनकारी युग में, जब हमारा देश संकट के दौर से गुज़र रहा है, हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई सब अपनी शक्तियों को ईश्वरीय नैकट्य प्राप्त करने के स्थान पर परस्पर एक-दूसरे को हानि पहुँचाने में अपव्यय कर रहे हैं, सांप्रदायिक शक्तियां पूरी ताकत से देश को विघटित करने में लगी हुई हैं, ऐसे में सांस्कृतिक एकता एवं धार्मिक अखंडता के लिए गुरु गोबिन्द सिंह की भाँति अत्यंत तत्परता से किए गये निःस्वार्थ एवं अनवरत प्रयत्न ही देश के पुनर्निर्माण और पुनर्संगठन तथा मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना की दिशा में प्रभावी सिद्ध हो सकते हैं। स्वामी विवेकानंद के शब्दों में, "यदि हम देश की भलाई चाहते हैं तो हम में से प्रत्येक को गुरु गोबिन्द सिंह बनना पड़ेगा।" जिस प्रकार गुरु गोबिन्द सिंह ने विकट परिस्थितियों में भी विचलित हुए बिना, अत्यंत धैर्यपूर्वक एक-एक हिन्दू में प्रेम, भ्रातृत्व, कर्मठता, वीरता और बलिदान की ज्योति जगाकर, दीप से दीप जलाते हुए तिमिराच्छादित राष्ट्र को एक नवीन आलोक से मंडित कर दिया, आज पुनः ऐसे ही युगपुरुष की आवश्यकता है, जो गुरु गोबिन्द सिंह की भाँति मन, वचन और कर्म से संपूर्ण राष्ट्र को जीवन के उच्चतम आदर्शों से संचालित कर सके। जो अपने संतुलित व्यक्तित्व द्वारा आज की युवा पीढ़ी को नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों से समन्वित कर एक सुसंगठित राष्ट्र की ओर उन्मुख कर सके।

■ ■ ■

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गुरु गोविन्द सिंह :
विरासत का संदर्भ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

''इक जोति उदोतक रूप दशों शुभ होति अंधेर गुबार उदारा।
जग सु प्रकाश चह्यो करिबे उपदेश दियो सिक्ख भे नर दारा।
परलोक सहाइ अशोक करे इस लोक मैं रांक करे सिर दारा।
गुर ब्रिंदन के पग सुन्दर को अरविंद मनो अभिवंद हमारा।''

—संतोख सिंह, गुरु प्रताप सूरज, 19.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गुरु गोबिन्द सिंह : विरासत का संदर्भ

प्रथम गुरु, गुरु नानक देव (संवत् १५२६—१५९५) ने 'जो तउ प्रेम खेलन का चाउ, सिर धर तली गली मेरी आउ'— कहकर बलिदान की जिस परंपरा का सूत्रपात किया था, उसे उनके परवर्ती गुरुओं ने आत्मसात् किया और मानवता के उद्धार के लिए अपना सर्वस्व त्यागने में भी संकोच नहीं किया। गुरु गोबिन्द सिंह ने अन्याय के विरुद्ध विद्रोह के इस भाव को आगे बढ़ाने का काम किया। उन्होंने मन, वचन, कर्म से इस संदेश को चरितार्थ कर दो शताब्दियों से भी अधिक पुरानी गुरु परंपरा को उत्कर्ष प्रदान करने का अपूर्व कार्य संपन्न किया। मानवता की रक्षा के लिए उन्होंने अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया।

बलिदान में सृजन की अद्‌भुत शक्ति है— ऐसा सभी धार्मिक परंपराओं में माना जाता है। ईश्वर ने भी अपनी बलि देकर ही सृष्टि को उत्पन्न किया था। ऋग्वेद में कहा गया है कि पुरुष रूपी पशु ने सृष्टि की रचना के लिए अपनी बलि दी।[१] भगवान शिव ने देवों अथवा मानवों की सुरक्षा के लिए विषपान किया था। पुराणों में भी कहा गया है कि न केवल सृष्टि की उत्पत्ति के लिए, अपितु सृष्टि की रक्षा के लिए भी बलि अनिवार्य है। ईसाई धर्म में भी यह माना जाता है कि सृष्टि की उत्पत्ति के लिए भेड़ की बलि दी गई। भेड़ यहाँ ईश्वरीय शक्ति का प्रतीक है। ईसा मसीह के बलिदान की घटना ने ईसाई-जगत को आलोकित किया है, तो हज़रत इमाम हुसैन की शहादत ने मुस्लिम संप्रदाय को उत्प्रेरित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसी संदर्भ में हमारे देश में सामूहिक-सामाजिक आदर्श की रक्षा के लिए महर्षि दधीचि द्वारा दिया गया बलिदान उल्लेखनीय है। प्राचीन काल में जनहित के उद्देश्य को सामने रखकर वृत्रासुर के वध के लिए अपनी अस्थियाँ विसर्जित करके महर्षि दधीचि ने आत्माहुति की जिस पवित्र परंपरा का प्रारंभ किया था, मध्यकाल में उसे सिख गुरुओं ने आगे बढ़ाया।

---

१. ऋग्वेद, १०, १५

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सिख गुरुओं द्वारा दिये गए बलिदान भी वैयक्तिक अथवा निजी कारणों से संबद्ध नहीं थे। महर्षि दधीचि के बलिदान की भाँति इनमें भी लोकहित का ऐसा उद्देश्य निहित था, जिसमें व्यक्ति की अपेक्षा समाज की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। इनका सम्बन्ध संपूर्ण मानव जाति की पीड़ा, यातना, समता एवं स्वाधीनता की कामना से था। बलिदान की इस परंपरा में एक ओर निरीह एवं निरुपाय लोगों की विवशता के प्रति करुणा का भाव था तो दूसरी ओर रूढ़ियों, अंधविश्वासों, सांप्रदायिकता, अन्याय एवं अत्याचार के प्रति विद्रोह का भाव।

गुरु नानक देव ही पहले महापुरुष थे जिन्होंने क्रूर एवं असहिष्णु मुगल शासक जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर के शासनकाल में 'हुकम करे मूरख गँवार' और 'राजे सींह मुकदम कुत्ते'— कहकर उस समय शासक और राज्याधिकारियों की भर्त्सना करने का साहस किया था, जब अन्य कोई उनके खिलाफ़ एक शब्द भी बोलने की हिम्मत नहीं जुटा सकता था। उनकी रचनाओं में ही बाबर के काल के शासकों एवं अधिकारियों द्वारा किए गये अत्याचारों का चित्रण देखा जा सकता है।[२] उनके जीवन का अधिकांश समय सुल्तान इब्राहीम लोदी के शासनकाल में व्यतीत हुआ था और अंतिम दस वर्ष बाबर के शासन काल में। दोनों ही शासकों के शासन में देश का राजनीतिक परिवेश पूरी तरह से अव्यवस्थित एवं पतनोन्मुख ही रहा। सिकन्दर लोदी ने तो भारतीयों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया ही था, बाबर ने भी स्वयं हिन्दू कैदियों को अपने सामने ही कत्ल करवाया था, इसका पता 'तुज़क-ए-बाबरी' से चलता है।[३] बाबर के काल की शोचनीय परिस्थितियों का यथार्थपरक चित्रण और शासक एवं उनके कर्मचारियों के अमानवीय व्यवहार के लिए उनकी खुलेआम भर्त्सना सर्वप्रथम गुरु नानक के काव्य में ही मिलती है, जबकि अन्य समकालीन कवि ईश्वर की स्तुति में लीन थे और जनता में भक्ति भावना का प्रचार कर रहे थे। विदेशियों को देश से निकालने की चिन्ता न इन कवियों को थी, न जनता को।[४] ऐसे समय में गुरु नानक ने ही निर्भयतापूर्वक शासकीय अत्याचारों के विरुद्ध क्षोभ प्रकट किया।

बाबर युगीन समाज का चित्रण करते हुए गुरु नानक स्पष्ट कहते हैं कि कलियुग कटार के समान है, राजा कसाई है और धर्म ऐसे विलुप्त हो गया है, मानो पंख लगाकर उड़ गया हो। चारों ओर असत्य की अमावस छाई हुई है, जिसमें सत्य का चन्द्रमा अदृश्य है। इस अंधकार में जीव सत्य की

२. "Guru Nanak had political ideals in some of his hymns wherein he deplores the barbarities practised by Baber's soldiers in connection with the capture of Sayyidpirs and the innhumanities prepetrated by the Mohammadan rulers of the day." — Indu Bhushan Bannerjee, Evolution of Khalsa, P. 9.

३. W.H. Moreland & A.C. Chatterjee, A short History of India, P. 250.

४. "इस काल के सन्तों और कवियों को यह जानने की तनिक भी उत्सुकता नहीं थी कि देश में राज्य किसका चल रहा है। वे हरि भजन में व्यस्त हैं और जनता में भक्ति-भावना का प्रचार कर रहे हैं। सदियों का संचित ज्ञान और धार्मिक अनुभूति जनता को देशी भाषाओं में उपलब्ध की जा रही है और जनता भी धार्मिक आवेश में मग्न है। उसमें भक्ति के लिए तो उत्साह है किन्तु विदेशियों को भगाने की तनिक भी चिन्ता नहीं।"
—रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. २७६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

खोज करता हुआ भ्रमित घूम रहा है।[५] जब सैयद पुर में बाबर द्वारा जारी किये गये फ़रमान के फलस्वरूप चारों ओर हिंसा फैल गई, आगजनी और लूटपाट की घटनाएँ होने लगीं, तब गुरु नानक के हृदय को इतना जबर्दस्त आघात पहुँचा कि वे वेदना में ईश्वर की भी आलोचना कर उठे– 'हे सर्वशक्तिमान परमात्मा, तूने यमदूतों की तरह मुगलों को भारत पर अत्याचार करने के लिए भेज दिया। उन्होंने चारों ओर मारकाट प्रारंभ कर दी। निर्दोषों को भी जो मार पड़ी, उनकी चीख-पुकार सुन कर भी क्या तुम्हारा हृदय द्रवित नहीं हुआ ? यदि एक शक्तिशाली दूसरे शक्तिशाली को युद्ध में मार देता है तो क्रोध का कारण नहीं है। किन्तु यदि भेड़ों के समूह में शेर आ जाये तो भेड़ों के स्वामी से पूछना होता है कि वह उनकी रक्षा क्यों न कर सका ? गुरु नानक के आक्रोश का कारण यह है कि यह हीरे जैसा देश कुत्तों द्वारा नष्ट किया गया और इसका मूल्य न समझा गया—

"खुरासान-खसमाना कीआ, हिन्दुस्तान डराइआ ॥
आपै दोसु न देई करता, जमु करि मुगलु चढाइआ ॥
एती मार पई करलाणे, तैं कि दरदु न आइआ ॥
करता तू सभना का सोई ॥
जे सकता सकते कउ मारे ता मनि रोसु न होई ॥रहाउ ॥
सकता सीहु मारे पै वगै खसमै सा पुरसाई ॥
रतन बिगाड़ि बिगोए कुती मुइआ सार न काई

(आसा महला १, गुरु ग्रंथ साहिब, पृ. ३६०)

प्रस्तुत पद गुरु नानक जैसी पवित्रात्मा के हृदय की पीड़ा और वेदना की तीव्रता का साक्षात्कार तो कराता ही है, संपूर्ण राष्ट्र एवं समूची हिन्दू जाति के प्रति उनके सरोकार को भी दर्शाता है। राज्याधिकारियों को कुत्तों की भाँति लोगों के अधिकार का हनन करते देख कर गुरु जी तड़प उठते हैं। वे अत्यंत तीव्रता से उनकी भर्त्सना करते हैं—

राजे सींह मुकदम कुत्ते, जाइ जगाइन बैठे सुते ॥
चाकर नहदा पाइन्हि घाउ, रतु पितु कुतिहो चटि जाहु ॥

(रागु मलार, वार, महला १, गुरु ग्रंथ साहब, पृ. १२८८)

गुरु नानक ने केवल शासकीय अत्याचारों की ही आलोचना की हो, ऐसा नहीं है। तद्युगीन अन्धविश्वासों, रूढ़ियों एवं बाह्याडंबरों के साथ-साथ समाज में व्याप्त धर्म, संप्रदाय एवं जातिगत भेदभाव पर भी उन्होंने प्रहार किए। उस समय में हिन्दू, इस्लाम, बौद्ध, जैन, नाथ-संप्रदाय आदि धर्म नाना प्रकार की विकृतियों के शिकार हो चुके थे। काज़ी, पंडित, नाथ-योगी आदि निहित स्वार्थों के

---

५. कालि काती, राजे कसाइ, धरमु पंख लगा कर उडरिया ॥
कूड़ू अमावस, सचु चंद्रमा दीसै नाही, कह चड़िआ ।
हउ भाल बिकुँनी होई, आधैरै राहु न कोई
विचि हअमे करि दुखरोई । कहु नानक किनी विधि गति होई ॥
—वार मांझ की, महला । पृ. १४५

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लिए लोगों को अन्धविश्वासों की ओर उन्मुख करते थे तथा उनका शोषण करते थे। गुरु नानक ने जनता को सजग और सचेत करने के लिए यह कहकर उनकी भर्त्सना की कि ये जनता के साथ घुन की तरह चिपके हुए हैं। काज़ी झूठ बोलकर हराम की कमाई खाता है, ब्राह्मण लोगों को नाना प्रकार से त्रास देते हैं, किन्तु दिखाने के लिए तीर्थ स्नान करते हैं। नाथ योगी ज्ञान-विहीन हैं और मोक्ष की युक्ति बताकर जनता को भ्रमित करते हैं। इस प्रकार काज़ी, ब्राह्मण और नाथ-योगी—तीनों भारतीय धर्म और समाज में विकृति उत्पन्न कर रहे हैं—

कादी कूड़ु बोलि मल खाई ।। ब्राह्मण नावै जीआ घाइ ।।
जोगी जुगति न जाणै अंधु ।। तीने ओजाड़े का बंधु ।।

(राग धनासरी, पृ. ४६६)

गुरु नानक देव जी ने सभी धर्मों के रीति-रिवाजों की व्यर्थता उद्घाटित की तथा सभी को सच्चाई के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया। समकालीन धार्मिक संप्रदायों में प्रचलित कट्टरता का विरोध करने के पीछे उनका कोई व्यक्तिगत वैमनस्य अथवा कोई अन्य व्यक्तिगत कारण या द्वेषभाव न था। इसके पीछे उनकी मानवतावादी चेतना ही कार्यरत थी। विभिन्न धर्मों के आपसी मतभेद, ईर्ष्या एवं शत्रुता की भावना को दूर कर, उन्हें प्रेम, सद्भावना एवं मैत्री की राह दिखाने के पीछे उनकी मानवता को एक सूत्र में पिरोने की इच्छा स्पष्ट दिखाई देती है। उन्होंने विभिन्न धर्मों के अनुयायियों को उन्हीं के धर्म-ग्रंथों से चुन-चुनकर ऐसे उपदेश दिए जो उन्हें अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु बनने एवं उदारता का दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित करें। **'जाणहु जोति न पूछहु जाती आगै जाति न हे' तथा 'न को बैरी न बेगाना' कहकर उन्होंने जाति-जाति के भेद का उन्मूलन तथा धर्म-निरपेक्ष समाज की स्थापना करने का प्रयास किया। उनकी वाणी में दिखाई देने वाला तत्कालीन धार्मिक दृष्टिकोणों का समन्वयात्मक रूप उनके इसी सरोकार का परिचय है।**

गुरु नानक ने विभिन्न धर्मों, संप्रदायों आदि में ही नहीं, स्त्री और पुरुष में भी समानता स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने तद्युगीन समाज में गँवार, शूद्र और पशु की भाँति समझी जाने वाली स्त्री को समादृत किया। उन्होंने स्त्री का दर्जा तथा उसका उत्तरदायित्व पुरुष के समान माना तथा उसे महान राजाओं और महापुरुषों की जननी होने के नाते गौरव की अधिकारिणी बताया। गुरु नानक के ऐसे उपदेशों का दलित, भ्रष्ट तथा अन्धविश्वास से परिपूर्ण वर्गों को जागृत करने की दिशा में अतुलनीय योगदान रहा है। गुरुवाणी का मूल स्वर चाहे आध्यात्मिक है, किन्तु उसमें नैतिक, धार्मिक, सामाजिक और यहाँ तक कि राजनीतिक स्वरों को भी स्थान प्राप्त हुआ है। गुरु नानक पहले ऐसे कवि हैं, जिन्होंने अपनी वाणी में राजनीतिक परिवेश से संबद्ध अपनी प्रतिक्रियाएँ प्रस्तुत कीं और तद्युगीन मुगल शासकों एवं उनके अधिकारियों द्वारा किए जा रहे अत्याचारों का निर्भीकतापूर्वक चित्रण किया। उनका बहुआयामी काव्य उनके बहुमुखी व्यक्तित्व का परिचायक तो है ही, सार्वकालिक, सार्वभौमिक एवं सार्वदेशिक विचारों से युक्त होने के कारण आधुनिक संदर्भों में भी अत्यंत प्रासंगिक है। आज के आपाधापी के युग में, जहाँ चारों ओर वैयक्तिक मूल्यों का साम्राज्य दिखाई देता है, गुरु जी के मानवतावादी विचार निःसंदेह निहित-स्वार्थों एवं भौतिकता की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

संकीर्ण गलियों में भटके मानव को सही दिशा दिखाने में उपयोगी साबित हो सकते हैं।

यह गुरु नानक के व्यक्तित्व की विराटता एवं समूची मानवता के प्रति उनका सरोकार ही था कि १८ वर्षों तक देश-देशान्तर का भ्रमण कर लाखों लोगों को अपनी अमृतवाणी से लाभान्वित कर वे जब करतारपुर लौटे,तब उन्होंने अपने सुपुत्रों को सुपात्र न जानकर उन्हें गुरु-गद्दी न सौंपने का निश्चय कर लिया। उन्होंने देवी भगवती के अनन्य उपासक, अपने परम शिष्य, भाई लहना (संवत् १५६१—१६०९) को गुरु-गद्दी का उत्तराधिकारी नियुक्त किया क्योंकि उन्होंने यह महसूस कर लिया था कि लहना के व्यक्तित्व की निर्मित उन मानवीय मूल्यों से हुई है,जो मानवता की पीड़ा की प्रतीति कराने में समर्थ हैं। गुरु नानक का अंग स्वरूप बनकर स्वयं नानक स्वरूप हो जाने के कारण लहना बाद में गुरु अंगद कहलाये। इस प्रकार गुरु नानक ने शिष्य-परंपरा के रूप में जो विशिष्ट देन समाज को दी,परवर्ती समय में अपने प्रजातांत्रिक मानदंडों के कारण वह अनुकरणीय बनी।

गुरु अंगद देव ने विनम्रता, कर्तव्यपरायणता एवं ईश्वर की सत्ता में दृढ़ विश्वास प्रकट किया।ईश्वर से निकटता अथवा दूरी का मानदंड उन्होंने अपने कर्म को माना। उनका कथन था कि कर्म मनुष्य को इधर-उधर चलाते हैं,तथापि नकेल ईश्वर के हाथ में रहती है। ईश्वर हमारे कर्मों को ध्यान से देखता है और हमारी आवश्यकताओं के लिए स्वयं ही चिन्तित रहता है।

गुरु अंगद देव जी के बाबर के पुत्र हुमायूँ के साथ अच्छे संबंध बने रहे। इन्होंने गुरु नानक द्वारा प्रचलित लंगर प्रणाली को बनाये रखा। इन्होंने सिख धर्म को एक पृथक् एवं विशिष्ट धर्म के रूप में विकसित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अनुयायियों को शारीरिक रूप से हृष्ट-पुष्ट रखने के उद्देश्य से धर्म मंदिर के साथ मल्लअखाड़ा की रचना भी की। इनका सबसे बड़ा कार्य गुरुमुखी वर्णमाला को एक निश्चित रूप देकर लोकप्रिय बनाने का है,जिससे गुरुभक्तों में शिक्षितों की संख्या भी बढ़ी और साहित्य आदि उन्हें सरलता से सुलभ हो सका। इन्होंने गुरु नानक जी के पदों और उनके जीवन संबंधी जानकारी को लेखनीबद्ध करने का कार्य किया। गुरु अंगद स्वयं भी कवि थे। इनके लिखे ६२ श्लोक 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संकलित हैं जिनमें प्रेम और गुरु भक्ति की प्रधानता है। प्रभु-प्रेम का व्याख्यान करते हुए गुरु जी ने जीवन के अन्य अनेक विषयों के बारे में भी अपने विचारों को प्रकट किया है,जिनमें नम्रता,श्रद्धा,गुरु-भक्ति आदि प्रमुख हैं। अपनी वाणी द्वारा गुरु जी ने भक्तों को आजीवन गुरु-पथ का अनुसरण करने की प्रेरणा दी। अंत में गुरु-गद्दी का उत्तरदायित्व गुरु अमरदास को सौंपकर सन् १५५२ ई. में गुरु अंगद देव ने इस अनित्य संसार को त्याग दिया।

तृतीय गुरु, गुरु अमरदास जी (१४७९ ई.—१५७४ ई.) ने भी गुरु अंगद देव जी के ज्योति जोत समाने से पूर्व ग्रहण किये गुरु-गद्दी के उत्तरदायित्व का कुशलता पूर्वक निर्वाह किया। उन्होंने भी समाज सुधार के अनेक कार्य किए थे। समाज में नारी की स्थिति सुधारने के संबंध में उनका योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।उन्होंने पर्दा प्रथा को पूर्णतः समाप्त कर दिया तथा गुरु नानक की भाँति सती प्रथा का भी निषेध कर दिया और वास्तविक सती उसे माना जो पति की मृत्यु के पश्चात्

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पवित्र एवं संयत् जीवन व्यतीत करती है।[६] उनके सम्राट अकबर से अच्छे संबंध थे, जिसका कारण पूर्ववर्ती शासकों की तुलना में अकबर की उदार धार्मिक नीति थी। गुरु जी के अनुरोध पर अकबर ने सती प्रथा के निषेध की आज्ञा दी।

गुरु अंगददेव ने लंगर की जिस प्रथा को आगे बढ़ाया था, गुरु अमरदास ने भी उसे जारी रखा, जिसने सिखों में एकता एवं समानता स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, क्योंकि जो भी 'लंगर' में खाना खाने आता, उसे जाति-संप्रदाय आदि का भेद त्यागकर सबके साथ मिलकर खाना पड़ता था।[७] उन्होंने गोयंदवाल में एक बावली खुदवाई, जिसमें गुरु के दर्शनों को आये लोग स्नान करते, जिसे पवित्र स्नान माना जाता है। इससे समता का भाव उत्पन्न करने में तो मदद मिली ही सिखों को तीर्थ-स्थान के लिए कहीं और जाने की आवश्यकता नहीं रही। २२ वर्ष गुरु-गद्दी पर आसीन रहकर मानवता की सेवा करने के बाद १५७४ ई. में ९५ वर्ष की आयु में इस निर्देश के साथ कि उनकी मृत्यु पर केवल ईश्वर के भजन गाये जायें, शोक न मनाया जाये, गुरु अमरदास परलोक सिधार गए।

चौथे गुरु श्री रामदास (१५३४ ई.—१५८१ ई.) को सन् १५७४ ई. में गुरु-गद्दी के उत्तराधिकार सौंपे गये। आप अत्यंत योग्य, धर्मनिष्ठ, कर्तव्यपरायण व्यक्ति तो थे ही, समूची मानवता के पथ-प्रदर्शक एवं अनन्त प्रभु के संदेशवाहक भी थे। आपके गुरुत्व काल में अकबर द्वारा प्रदत्त ५०० बीघे जमीन पर पवित्र सरोवर की खुदाई के शुभ कार्य का श्री गणेश हुआ, जहाँ आगे चलकर सिख संस्कृति का सबसे बड़ा केन्द्र—अमृतसर बना। इस सरोवर के बीच गुरु रामदास जी ने हरिमन्दिर साहब का निर्माण कार्य शुरू किया, जो आज 'स्वर्ण मंदिर' के नाम से प्रसिद्ध है और सिखों का तीर्थस्थल है। देश के कोने-कोने से श्रद्धालु जन इसके पवित्र सरोवर में स्नान करने के लिए आते हैं। चारों दिशाओं में निर्मित इसके चार द्वार मानो चारों जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी के प्रवेश के लिए खुले हैं, जो प्रकारांतर से जातिगत भेदभाव की समाप्ति के प्रतीक हैं। हरिमन्दिर साहिब के निर्माण के लिए धन प्राप्त करने के उद्देश्य से गुरु जी ने मसन्द प्रथा को प्रारंभ किया। उन्होंने अपने अनुयायियों के पास अपने प्रतिनिधि (मसन्द) भेजे, जिससे निर्माण कार्य के

---

६. (a) "Guru Nanak Das prohibited the practice of Sati or the burning of widows on the funeral pyre of their husbands."
—Evolution of Khalsa, P. 180-81.

(b) "In the spirit of Nanak he likewise pronounced that the true Sati was she whom grief and not flame consumed and that the afflicted should seek consolation with the Lord thus wildly discountenancing a perverse custom and leading the way to amendment by persuation rather than by postive enactment."
—J.D. Conningham, History of Sikhs, P. 45.

७. "It served as a great bond of union among the Sikhs and also helped to mitigate caste prejudices to some extent as all those who come to have their food in the 'Langar' had to take it together, irrespective of caste and creed."
—Evolution of Khalsa, P. 159.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लिए अत्यधिक धन प्राप्त हुआ।

सम्राट अकबर से गुरु रामदास का संपर्क बना रहा था। उसने भी अपने कोष से पर्याप्त धन-राशि दान स्वरूप गुरुजी को भेंट की थी। गुरु के प्रति उसका मैत्री भाव देख कर अन्य राजाओं ने भी धन देकर नगर बसाने में गुरु की सहायता की।[८] अकबर की धार्मिक सहिष्णुता से सभी परिचित थे। एक बार पंजाब में अकाल पड़ जाने के कारण निर्धन किसानों की पीड़ा को समझते हुए गुरु रामदास ने अकबर से भू-राजस्व की छूट देने का अनुरोध कर अपने मानवीय सरोकार का परिचय दिया। अकबर द्वारा स्वीकारने पर गुरु जी के सम्मान में अत्यंत वृद्धि हुई। कर-मुक्त सभी कृषक परिवार गुरु रामदास जी के अनुयायी बन गये।[९] गुरु रामदास ने उस युग में प्रचलित रीति-रिवाजों में भी सुधार लाने का प्रयास किया। विवाह, जन्म, मरण आदि के अवसर पर संस्कृत श्लोकों के स्थान पर गुरुबाणी पढ़ने की परंपरा शुरू कर उन्होंने सिखों को ब्राह्मणों के चंगुल से बाहर निकाला। उन्होंने भी पर्दा प्रथा और सती प्रथा का विरोध किया तथा नारी को पुरुष के बराबर सम्मान की अधिकारिणी माना।

गुरु रामदास जी के सन् १५८१ ई. में परलोक सिधारने से कुछ दिन पूर्व उनके सबसे छोटे, अठारह वर्षीय पुत्र अर्जुनदेव जी (१५६३ ई.—१६०६ ई.) अपने सद्‌गुणों के कारण अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में गुरु-गद्दी के अधिकारी बने। सिख-संगत में वे लोक-अत्यंत प्रिय थे। स्वयं बाबा बुड्ढा ने गुरु रामदास को इंगित किया था कि गुरु का उत्तरदायित्व संभालने की सामर्थ्य अर्जुन देव में ही है क्योंकि धैर्य, सहिष्णुता, विनम्रता, सेवा भाव आदि गुण उनके व्यक्तित्व में समाहित हैं। परिणामस्वरूप स्वयं गुरु रामदास ने २८ अगस्त सन् १५८१ ई. को गुरु अर्जुनदेव का तिलक कर उन्हें गुरु-गद्दी पर आसीन किया। हालाँकि गुरु अर्जुनदेव के बड़े भाई पृथ्वीचंद को यह अत्यंत अपमानजनक प्रतीत हुआ और वह गुरुअर्जुन देव के कार्यों में रुकावट डालने के हर संभव प्रयास करते रहे, किंतु गुरुजी ने बिना परवाह किये, पिता द्वारा प्रदत्त उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। उन्होंने १५८९ ई. में अमृतसर का अधूरा निर्माण कार्य पूरा करवाया। भविष्य में अनुयायियों में किसी भी प्रकार का धार्मिक मतभेद उत्पन्न न हो, इस दृष्टि से इन्होंने गुरुओं की प्रामाणिक वाणी की आवश्यकता अनुभव की। अमूल्य वाणी को सर्वजन सुलभ कराने की दृष्टि से उन्होंने अपने पूर्व के सभी गुरुओं के उपदेश संगृहीत किये, भक्त-वाणियों को एकत्र किया और धार्मिक विचारधारा के मानदंडों के अनुसार भारतवर्ष के प्रमुख हिन्दू, मुस्लिम संतों के अनुयायियों से उनके आचार्यों की पवित्र वाणियों का संग्रह किया और उसमें अपने पदों को भी संकलित करके उन्हें एक धार्मिक ग्रंथ का रूप दिया जिसका नाम उन्होंने 'गुरु ग्रंथ साहिब'[१०] रखा। इन्होंने स्वयं

---

८. Gokal Chand Narang, Transformation of Sikkhism, P. 101.

९. Ibid., P. 101.

१०. "Arjun next arranged the various writings of his predecessors he added to them the best known or the most suitable composition of some other religious reformers of the few preceding centuries and completing the whole with a prayer and some exhortations of own, he declared compilation to be prominently the Granth or Book . . . . ."
—History of the Sikhs, P. 46-47.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'गुरु ग्रंथ सहिब' में प्रयुक्त कुल ३१ रागों में से राग जयजयवंती के अतिरिक्त शेष ३० रागों में काव्य रचना की। इतनी विशाल आध्यात्मिक वाणी के उच्चरित रूप को सुरक्षित रखते हुए संपादन करना कोई आसान कार्य न था। इसके लिए अद्‌भुत प्रतिभा और महान कला कौशल की जैसी आवश्यकता थी, श्री अर्जुन देव ही से उसकी अपेक्षा की जा सकती थी। भाषागत रूपों के उच्चारण के मूल रूप की जाँच के लिए गुरु जी ने विभिन्न संप्रदायों के भक्तों और सन्तों को भी आमंत्रित किया। लेखन का पुण्य कार्य उन्होंने भाई गुरुदास जी को सौंपा। रचना के तैयार हो जाने पर उसकी प्रति हरिमन्दिर साहिब के प्रथम ग्रंथी भाई बुड्ढा जी को सुरक्षित तरीके से रखने के लिए सौंप दी गई। 'आदिग्रंथ' में संकलित वाणी में सबसे अधिक योगदान गुरु अर्जुन देव का है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संकलित वाणी के अतिरिक्त भी गुरु अर्जुन देव जी ने काव्य रचना की। 'सुखमनी' इनकी अद्वितीय कृति है, जिसमें अत्यंत सरल ढंग से मानव जीवन के रहस्यों को प्रकट किया गया है। इनके द्वारा रचित २२१८ पद और श्लोक अकाल पुरुष, आत्मा, माया, गुरु, नाम-सिमरन, शुभ कर्म आदि विषयों से संबद्ध है। भाव की दृष्टि से ये जितने समृद्ध हैं, काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से उतने ही अप्रतिम।

'आदिग्रंथ' में पूर्ववर्ती सिख गुरुओं की सचित्र वाणी के साथ-साथ शेख फरीद, जयदेव, त्रिलोचन, नामदेव, वेणी, रामानंद, कबीर, रविदास, पीपा, सेन, धन्ना, भीखन, परमानंद, सूरदास, भाई मरदाना, बाबा सुन्दर जी आदि भक्त कवियों की वाणी संगृहीत हैं। राग-क्रमानुसार नियोजित लगभग ३६ महान पुरुषों की वाणी के इस संकलन में कुल ५८९४ शब्द और भजन हैं। कालान्तर में इनमें गुरु तेग बहादुर की वाणी भी सम्मिलित की गई। छः भाषाओं एवं अनेक उपभाषाओं में 'आदि ग्रंथ' का संपादन कर अर्जुनदेव जी ने सिख धर्म के विकास की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया ही, अन्य अनेक कार्यों द्वारा भी उन्होंने अपने मानवीय सरोकार का परिचय दिया। उन दिनों पंजाब में जल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं था, इसे ध्यान में रखकर गुरु जी ने विभिन्न स्थानों पर पवित्र सरोवरों, कुओं और बावलियों की खुदाई करवाई और गुरुद्वारों का निर्माण करवाया और इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह कि इनमें उन्होंने स्वयं श्रमदान किया। उन्होंने सन्तोखसर नामक सरोवर, जिसकी खुदाई गुरु रामदास जी द्वारा करवाई गई थी, को भी पूर्ण करवाया। १५९० ई. में इन्होंने अमृतसर से बीस किलोमीटर दूर तरनतारन नाम का सरोवर बनवाया। अमृतसर से लगभग ६५ किलोमीटर पूर्व की ओर गुरु जी ने गंगासागर सरोवर का निर्माण कराया। इस स्थान पर बसे नगर को करतार-पुर नाम से जाना जाने लगा। तरनतारन और करतारपुर दोनों ही स्थल पवित्र, धार्मिक स्थल के रूप में माने जाते हैं।

गुरु अर्जुनदेव ने भक्ति लहर की आध्यात्मिकता का सांसारिकता के साथ सामंजस्य किया। उन्होंने अपनी वाणी द्वारा प्रवृत्ति में अपनी आस्था को प्रकट किया तथा निवृत्ति मार्ग को गुरु नानक के उपदेशों के विरुद्ध बताया। उनका कथन था कि मात्र वैराग्य ही भवसागर से पार उतारने के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है, प्रवृत्ति का भी जीवन में विशिष्ट स्थान है। सांसारिक सुखों का उपभोग करते हुए भी नाम-सिमरन और प्रभु-भक्ति द्वारा मनुष्य भवसागर को पार कर सकता है। उन्होंने अपने शिष्यों को मुगल शासकों की सामर्थ्य, शक्ति एवं संपदा से परिचित कराकर उन्हें भी संपन्न एवं शक्तिशाली

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बनने की प्रेरणा दी। इसीलिए उन्होंने स्वयं भी घोड़ों के व्यापार में रुचि ली। उन्होंने अपने हथियारबंद घुड़सवारों को ईरान, तुर्किस्तान आदि देशों के अच्छी नस्ल के वे घोड़े लाने के लिए तैयार किया, जिनकी भारत में बड़ी माँग थी। सांसारिक जीवन को संपन्न बनाने के लिए उन्होंने व्यक्तिगत आय के साधनों में वृद्धि की। इन सब कारणों से शक्ति और संपदा के विस्तार से गुरु अर्जुन देव के अनुयायियों की संख्या दिनों-दिन बढ़ती गई। उन्होंने सिखों में आत्म-विश्वास, कष्ट-सहिष्णुता, परिश्रम एवं कर्मठता का ऐसा भाव उत्पन्न किया, जो प्राणी को कर्मयोगी का सा संबल प्रदान करता है। उन्होंने प्रभु-प्रेम, दूसरों की सेवा, उनके प्रति प्रेम और आत्मबलिदान पर बल दिया। सहनशीलता एवं आत्मबलिदान की इसी उदात्त भावना का परिचय अवसर आने पर गुरु ने स्वयं अपने बलिदान से दिया, किन्तु अपने ऊपर अमानुषिक अत्याचार करने वालों के प्रति न किसी प्रकार की दुर्भावना व्यक्त की, न ईश्वर की भक्ति का ही त्याग किया।

वस्तुतः गुरु-गद्दी पर आसीन होते ही गुरु अर्जुन देव के लिए संकट का युग आरंभ हो गया था। अकबर की मृत्यु के साथ ही वह शासकीय धार्मिक उदारता भी क्षीण होती गई थी, जो अकबर के शासनकाल में दिखाई देती थी। अकबर ने संस्कृत एवं देशी भाषाओं के साहित्य, संगीत और कला को प्रश्रय देना, जज़िया बन्द करवाना, हिन्दुओं को उच्च पद प्रदान करना, टोडरमल, बीरबल, भगवान दास और मानसिंह जैसे शासकों को उच्च पदों पर आसीन करना आदि कार्यों द्वारा अपनी धार्मिक सहिष्णुता का पर्याप्त प्रमाण दिया था। गुरु अर्जुन देव ने भी हरमन्दिर साहब के भवन का निर्माण करते हुए एक मुसलमान धार्मिक नेता मियां मीर से उसकी नींव रखवाई थी। किन्तु अकबर की मृत्यु के पश्चात् मुगल सिंहासन पर बैठने वाला उनका पुत्र जहाँगीर उतना सहनशील एवं उदार प्रकृति का स्वामी न था। कहाँ तो अकबर गुरु अर्जुन देव की यशोगाथा से प्रभावित होकर उनके पास गया था और कहाँ न्याय के लिए प्रसिद्ध जहाँगीर ने अपने विद्रोही पुत्र खुसरो की सहायता करने का आरोप लगा कर, उन्हें राजद्रोही घोषित किया और उन पर तरह-तरह के अत्याचार किए। खुसरो ने गुरु अर्जुनदेव से सहायता माँगी थी ताकि वह जहाँगीर से बदला ले सके। गुरु अर्जुन देव दिल्ली शासन के विरुद्ध नहीं थे, अतः उन्होंने किसी भी प्रकार खुसरो को सहयोग नहीं दिया। किंतु सिख मर्यादा के अनुसार उन्होंने शरणागत खुसरो की सुख-सुविधा का प्रवन्ध अवश्य किया, जिससे वह शांतिपूर्वक देश की सीमा से पार जा सके। मुगल दरबार में इसका अर्थ राजद्रोह लगाया गया और गुरु अर्जुनदेव पर दो लाख रुपये जुर्माना किया गया किंतु गुरु ने यह कहते हुए कि हमारी ओर से कोई ऐसा कदम नहीं उठाया गया जिससे जुर्माना देने का प्रश्न उत्पन्न हो, यह अन्याय सहन करने से इन्कार कर दिया। उन्हें असह्य शारीरिक यातनाएँ दी गईं, किंतु उन्होंने अपना बलिदान देना सहर्ष स्वीकार कर लिया पर असत्य एवं अधर्म का आश्रय नहीं लिया।

जहाँगीर तो उनकी बढ़ती लोकप्रियता से आतंकित हो किसी भी प्रकार उन्हें मुस्लिम धर्म में दीक्षित करने अथवा उनका वध करने की फ़िराक में था ही। उसने 'तुज़के बाबरी' में लिखा भी है—"दरिया व्यास के किनारे गोईंदवाल में अर्जुन नामक हिन्दू, फकीरी वेश में रहता है, जिसने बहुत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सारे भोले-भाले हिन्दुओं तथा कई मूर्ख मुसलमानों को अपने पीछे लगाया हुआ है । ये लोग उसकी पीरी का ढोल बहुत ऊँचा तथा श्रद्धा से बजा रहे हैं । तीन-चार पीढ़ियों से यह दुकान चल रही है । काफ़ी समय से मेरे मन में यह विचार पैदा हो रहा था कि इस झूठ की दुकान को बंद करना चाहिए या गुरु को मुसलमानी फ़िरके में ले आना चाहिए ।" जहाँगीर का उपुर्यक्त कथन जहाँ उसकी धर्म संकीर्णता एवं अमानवीय दृष्टि का परिचायक है, वहीं उसमें गुरु अर्जुनदेव के व्यक्तित्व की कतिपय विशेषताएँ भी स्वयमेव उजागर हो जाती हैं । इसमें उनके व्यक्तित्व की महानता, निर्मलता एवं पवित्रता के साथ-साथ, प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के प्रति उनकी समदृष्टि एवं उदारता भी व्यक्त होती है। त्याग, परोपकारिता एवं सामूहिक कल्याण आदि मानवीय भावों को धारण करने वाले लोकनायक ही प्रत्येक धर्म के मानने वालों द्वारा समान भाव से समादृत होते हैं । गुरु अर्जुन देव ऐसे ही महान पुरुष थे जिन्होंने अपनी वाणी के माध्यम से जातीय भेदभाव से ऊपर उठने का आह्वान किया । उनका उपदेश था कि "देह सदा नहीं रहती । अतः कोई भी ज्ञानवान प्राणी उससे मोह नहीं रखता । जिसका जन्म है, उसका अंत लाज़मी है । पार्थिव शरीर से मोह करना बड़ी अज्ञानता है ।"

३० मई, सन् १६०६ ई. को लाहौर में रावी नदी के किनारे उनके साथ अमानुषिक व्यवहार किया गया और उनका वध करा दिया गया ।[११] उनके बलिदान की स्वीकृति स्वयं जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा 'तुज़क-ए-जहाँगीर' में यह लिख कर दी कि "गुरु अर्जुन देव द्वारा किये जा रहे कार्यों को बंद करने तथा उन्हें अपने धर्म में दीक्षित करने के लिए मैंने मुरतज़ा खान से कहा कि वह उन्हें यातना देकर मार डाले ।" गुरु ने धर्म छोड़ने की अपेक्षा शरीर त्यागना उचित समझा । गुरु जी के बलिदान ने यह साबित कर दिया कि जब-जब भारतीय संस्कृति पर भीतर अथवा बाहर से कोई आघात किया जाता है तब-तब यह संस्कृति अपनी पवित्र कोख से ऐसे महापुरुष उत्पन्न करती है, जिन्हें न देह का मोह व्यापता है, न भोग की इच्छा । जो पाश्विक शक्तियों का नाश करने के लिए समर्पित योगी बनकर सहर्ष अपना बलिदान दे देते हैं । यह बलिदानी पुरुष का वह योगी रूप है जिसका कथन गुरु तेग बहादुर ने लोभ, मोह, माया, ममता, निंदा, स्तुति, हर्ष, शोक से परे मुक्त नर के रूप में किया है—

तिह जोगी कउ जुगति न जानउ ।
लोभ मोह माइआ ममता कुनि जिह घटि माहि पछानउ ।
पर न्दिा उसतति नह जाके कंचन लोह समानो ।
हरख सोग ते रहै अतीता जोगी तहि बखानों ।
चंचल मनु दह दिति कउ धावत अचत जाहि ठहरानो ।
कह नानक इह विधि को जो मुकति ∽ाहि तुम मानो ।

(घनासरी महला ९/२/३)

११. भारतवर्ष का इतिहास, डॉ. ईश्वरी प्रसाद, भाग २, पृ. ११४

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बलिदान देते हुए गुरु अर्जुन देव भी राग-द्वेष से निर्लिप्त थे, उन्होंने अंतिम श्वास तक अपने ऊपर अत्याचार करने वालों के विषय में निंदा का एक शब्द ही मुँह से नहीं उचारा, अपितु संपूर्ण यातनाओं एवं अत्याचारों को निर्लिप्त भाव से सहन किया। उनका कथन था कि "मैं दुखों में भी सुख का अनुभव करता हूँ।" 'गीता' के श्लोक **'येनात्यैवात्मना जितं'** के अनुसार संग्राम में सहस्त्रों मनुष्यों को सहस्त्रों बार जीतना गौरवपूर्ण है, तदपि विजयश्री का अधिक गौरव उसी को है, जिसने अपने-आपको जीत लिया है। धम्मपद में भी बाह्यपक्ष की अपेक्षा इसी अन्तःपक्ष पर बल दिया गया है।[१२] गुरु अर्जुन देव के अन्तःपक्ष की दृढ़ता, उनके त्याग एवं निर्भयता ने उन्हें ऐसे ही बलिदानी एवं विजयी पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित किया। **'जो-जो हुकुम भइओ साहिब का, सो माथे लै मानिओ'**[१३] के अनुरूप समस्त अत्याचारों को उद्वेग रहित भाव से सहन करते हुए उन्होंने इस पार्थिव संसार से विदा ली। सत्य की रक्षा के लिए दिया गया उनका बलिदान आगामी पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना। जहाँगीर के कट्टरपंथी समर्थकों का तो विचार था कि 'गोयंदवाल के काफ़िर' (गुरु अर्जुन देव) का कत्ल करने में 'बदमाश हिन्दुओं' के हौसले पस्त होंगे लेकिन परिणाम ठीक विपरीत निकला। उन के बलिदान से बलिदान की परंपरा में एक नया अध्याय तो जुड़ा ही, सिख इतिहास में एक नया मोड़ भी आया। सिखों में प्रतिरोध की भावना ने जन्म लिया और उन्होंने आत्मरक्षा के लिए शस्त्र की आवश्यकता अनुभव की।[१४] प्रथम गुरु नानक से पंचम, गुरु अर्जुन देव तक प्रबल सामाजिक चेतना तथा कृषक समाज के आर्थिक और नैतिक उद्धार के प्रयास अधिक दिखाई देते हैं। अब तक सिख पंथ बिल्कुल निस्पृह ऐसे धार्मिक संप्रदाय के रूप में दिखाई देता था, मुगल शासकों से जिसका कोई सक्रिय विरोध न था। यह स्थिति १६०४ ई. तक रही।[१५] किंतु १६०६ के बाद (गुरु अर्जुन देव के बलिदान से) स्थिति में परिवर्तन आया। इन परिस्थितियों में सिखों के सैनिकीकरण की भूमिका का निर्माण हुआ।

गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित आध्यात्मिक धारा को प्रवहमान रखते हुए भी, छठे गुरु, गुरु हरगोविन्द ने (१५९५ ई.—१६४५ ई.) ने १६०६ ई. में गद्दी पर आसीन होते ही यह अनुभव कर लिया कि मौज़ूदा परिस्थितियों में अपनी सुरक्षा एवं न्याय के लिए तलवार का प्रयोग किया जाना आवश्यक हो गया। है। मुगल शासकों के सिखों के प्रति वैमनस्यपूर्ण रवैये तथा मुगलों से निकट भविष्य में युद्ध की संभावना उनकी दृष्टि के घेरे में पहले ही आ चुकी थी। मुगल शासकों की नीतियों को वे भली प्रकार समझते थे, गुरु अर्जुन देव के बलिदान से जिनकी वास्तविकता और भी स्पष्ट हो चुकी

---

१२. यो सहस्सं सहस्सेन सङ्गामे मानुसे जिने। एकं च जेय्यमत्तानं स वे सङ्गामजुत्तमो, १०३

१३. श्री गुरु ग्रंथ साहब, महला-५, पृ. १०००

१४. Gordon, the Sikhs, P. 31.

१५. In tracing the history of the transformation of Sikhism we can discern two distinct stages of development from the days of Guru Nanak down to the year 1604 when the compilation of the Granth Sahib was completed, the movement ran on peaceful lines.
—Evolution of Khalsa, Vol. 1, P.3

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

थी, अतः उन्होंने सिखों को शांति के पथ से हटाकर युद्धप्रिय बनाने का निर्णय ले लिया। अब सिख धर्म में धर्मपंथ के साथ-साथ राजकाज भी उभरता दिखाई दिया। अपने इस आदर्श को क्रियान्वित करने के आध्यात्मिक एवं सांसारिक प्राधिकार के चिह्न स्वरूप, गुरु हरगोबिन्द ने दो कृपाणें धारण कीं—एक पीरी की तथा दूसरी मीरी की। पीरी और मीरी में समन्वय साधते हुए, वे शस्त्र एवं शास्त्र दोनों का संतुलित आश्रय लेने वाले एक ऐसे संत सिपाही सिद्ध हुए, जिन्होंने सिख इतिहास की दिशा को पलट दिया। जब वे गुरु-गद्दी पर आसीन हुए तब उनकी आयु मात्र ग्यारह वर्ष थी। किंतु इस उम्र में भी उन्हें शस्त्र विद्या एवं घुड़सवारी में निपुणता प्राप्त थी। गुरु-गद्दी पर बैठते ही उन्होंने ऐसी सैनिक शक्ति का संगठन करना शुरू किया, जिसका कार्य शस्त्र धारण करना और धर्म के विरोधियों का मुकाबला करना था। उन्होंने किले बनवाना तथा शस्त्रास्त्र एवं अन्य युद्ध सामग्री एकत्र करना भी प्रारंभ कर दिया। उन्होंने बादशाह के तख्त की टक्कर में 'अकाल तख्त' भी स्थापित किया जो उनके धर्मक्षेत्र की राजधानी जैसा बना। स्वयं जहाँगीर ने उन्हें घोड़े और ५ बंदूक रखने का अधिकार दिया था। उनके पास ८०० घोड़े, ३०० घुड़सवार एवं आठ अंगरक्षक थे।[१६]

अपने शिष्यों को भी गुरु हरगोबिन्द ने उपहारस्वरूप घोड़े तथा शस्त्र ही लाने की आज्ञा दी तथा अपने सुपुत्रों को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा दी। इसी शिक्षा का प्रदर्शन उनके चार वर्षीय पुत्र गुरु 'तेग बहादुर' ने करतारपुर में शाहजहाँ की सेना के विरुद्ध लड़े गये युद्ध (सन् १६३५ ई.) में किया था, जब पिता ने उसे तेग बहादुर कहकर संबोधित किया था और माँ नानकी ने अपनी कोख पर गर्व किया था।[१७] मुगल शासक जहाँगीर के लिए उनकी उस स्वच्छंद प्रकृति को सहन कर पाना असंभव था, जिसके मूल में पिता (गुरु अर्जुन देव) पर किये गये अत्याचार के प्रतिशोध का भाव था। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे उनके मैत्रीपूर्ण संबंधों में कटुता प्रवेश करती गई। जहाँगीर गुरु हरगोबिन्द की बढ़ती सैन्य शक्ति से इतना आतंकित हुआ कि उसने उन्हें ग्वालियर के दुर्ग में बंदी बना लिया। कालांतर में उन्हें रिहा कर दिया गया। किंतु उस दौरान सिखों के बढ़ते आत्मविश्वास में कोई कमी नहीं आई। उनके रिहा होकर आने के काफी समय बाद तक शांति रही, जिस का लाभ गुरु जी ने धर्म प्रचार के साथ-साथ अपने संगठन को मजबूत करने में उठाया। १८२७ ई. में जहाँगीर की मृत्यु के बाद शाहजहाँ सिंहासनारूढ़ हुआ और शासन की धर्मिक नीति में परिवर्तन आया। तब गुरु हरगोबिन्द को मुगलों की ओर से थोपे हुए तीन युद्ध (क्रमशः सन् १६२८ ई., १६३१ ई. और १६३४ ई.) भी लड़ने पड़े, तीनों ही में उन्होंने सफलता प्राप्त की।

सिख गुरुओं में वे पहले ऐसे गुरु थे, जिन्होंने सैनिक जीवन अपनाया, जिसका कारण पिता की मृत्यु के प्रतिशोध की भावना तो थी ही, मुगल आततायी शासन से अपने अनुयायियों को मुक्त कराने का भाव भी था। चूँकि वे सैनिक होने के साथ-साथ एक संत भी थे, उनके द्वारा लड़े गए युद्ध मात्र आत्मरक्षा के लिए थे, न कि किसी राज्य को हस्तगत करने अथवा अन्य किसी प्रकार के निहित स्वार्थ

---

१६. Hostory of Sikhs, P. 52

१७. Dr. Trilochan Singh, Guru Teg Bahadur, Prophet and Martyr, P. 77, 79

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के उद्देश्य से प्रेरित। युद्धों में भाग लेने के बावजूद धर्म प्रचार के कार्य को भी उन्होंने पूरी निष्ठा से किया। उन्होंने आर्थिक दृष्टि से विपन्न एवं ज़रूरतमंद लोगों की सदैव सहायता की। अपने अनुयायियों को प्रभु-नाम सिमरन का उपदेश दिया। जीवन के अंतिम दस वर्ष उन्होंने केवल धर्म प्रचार किया और स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिये। विभिन्न धर्मों एवं जातियों के लोगों को उन्होंने प्रेम से रहने का उपदेश दिया। उनके काल में सिखों एवं मुसलमानों में शत्रुता अपने चरम पर थी। इस परिवेश में भी स्वयं अपने खर्च पर करतारपुर में मुसलमानों के लिए मस्ज़िद बनवाना,उनके उदारतावादी एवं समतावादी दृष्टिकोण का परिचय देने के लिए पर्याप्त है। ईश्वर की उपासना की जितनी भी विधियाँ उस काल में प्रचलित थीं,गुरु हरगोबिन्द उन सबका सम्मान करते रहे,स्वयं भले ही उन्होंने गुरु नानक के आध्यात्मिक-धार्मिक विचारों का अनुसरण किया हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि गुरु नानक की आध्यात्मिक चिन्तनधारा को आगे बढ़ाने के साथ-साथ गुरु हरगोबिन्द ने उनके शांतिपूर्ण अनुयायियों को ऐसे सशस्त्र सिपाहियों में परिवर्तित कर दिया, जिनके हृदय में शोषित-पीड़ित जनता को मुगलों के अत्याचार से बचाने का भाव था। उनके द्वारा आत्मरक्षार्थ लड़े गये युद्धों में प्राप्त सफलता से सिखों के हृदय में आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ तथा उनके साहस में भी बढ़ोतरी हुई। कालांतर में जिससे सिखों में स्वाधिकार एवं स्वातंत्र्य चेतना उत्पन्न करने में सहयोग प्राप्त हुआ।

गुरु के अनुयायियों में उत्पन्न इस वीर प्रवृत्ति का आगे चलकर और अधिक विकास होता तब दिखाई देता है जब शाहजहाँ की धार्मिक नीति तथा उससे भी आगे बढ़कर औरंगज़ेब की कट्टरता से हिन्दुओं का जीवन दूभर हो गया। शाहजहाँ ने अपने शासन काल में मंदिरों का निर्माण रोककर तथा गो-हत्या निषेधाज्ञा में ढील देकर हिन्दुओं के राजनीतिक विरोध का जैसा परिचय दिया था, औरंगज़ेब के शासन काल में उसमें दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ोतरी हुई। औरंगज़ेब एक कट्टर सुन्नी मुसलमान था। शक्ति का प्रयोग कर वह प्रत्येक गैर-मुस्लिम को मुसलमान बनाना चाहता था। अत: उसने धर्म को आधार बनाकर गैर-मुस्लिमों पर कई प्रकार के कर थोपे। करों की वसूली करने के बहाने से हिन्दुओं के घरों में जबर्दस्ती घुसकर लूटपाट की जाती। उसने हिन्दुओं के लिए सरकारी नौकरियाँ वर्जित कर दीं। उन्हें उनके त्यौहार मनाने पर भी अनेक प्रकार की पाबन्दियाँ लगा दीं। तलवार के बल पर धर्म परिवर्तन का कार्य भी शुरू कर दिया गया।[१८]

औरंगज़ेब की तुलना में दाराशिकोह उदार एवं धर्मसहिष्णु था। अत: पंजाब में राज्य प्राप्ति के लिए उसके द्वारा कट्टरपंथी औरंगज़ेब के विरुद्ध लड़े गये युद्धों में अनेक हिन्दुओं ने दाराशिकोह का साथ दिया था। सातवें गुरु हरराय (१६३१ई.—१६६१ ई.) ने भी उसकी सहायता की थी। परिणामस्वरूप हिन्दुओं के प्रति औरंगज़ेब की नीति और अधिक कठोर बन गई,उसे यह भी स्पष्ट दिखाई देने लगा था कि दाराशिकोह के पश्चात् गुरु हरराय उसकी सत्ता के लिए सबसे बड़ा खतरा

---

१८. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए इसी पुस्तक का अध्याय—'गुरु गोबिन्द सिंह : परिस्थितियाँ और युगबोध' पृ. ६३-७८.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

साबित हो सकते हैं। उसने उन्हें दिल्ली बुला भेजा। गुरु हरराय ने अपने स्थान पर अपने पुत्र रामराय को स्थिति स्पष्ट करने के लिए औरंगज़ेब के पास दिल्ली भेजा, किन्तु रामराय ने औरंगज़ेब को प्रसन्न करने के लिए 'गुरु ग्रंथ साहिब' की एक पंक्ति में आपत्तिजनक परिवर्तन करके उसे सुनाया। उसने एक जगह 'मुसलमान' के स्थान पर 'बेईमान' शब्द का प्रयोग किया। उस पर गुरु हरराय अत्यधिक नाराज हुए। उन्होंने निश्चय कर लिया कि रामराय गुरु-गद्दी का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता। उन्होंने दृढ़ता बनाए रखी, दादा गुरु हरगोविन्द ने जब उन्हें गुरु-गद्दी सौंपी थी तब वे मात्र चौदह वर्ष के थे, किन्तु उन्होंने स्वयं उसके उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए कहीं कोई कसर नहीं उठा रखी थी। अब उसे वे ऐसे हाथों में सौंपना चाहते थे, जो उस गुरु गंभीर उत्तरदायित्व को वहन करने की सामर्थ्य से युक्त हो। शान्तिकामी एवं मननशील स्वभाव के गुरु हरराय स्वयं राजनीति के कोलाहल से दूर ही रहे थे। उन्होंने पंजाब के केन्द्रीय जिलों में प्रचार केन्द्र स्थापित किए। मालवा में पहली बार इतनी गंभीरता से प्रचार कार्य गुरुजी के समय में ही शुरू हुआ। अपने शांतिपूर्ण उपदेशों से उन्होंने जनता को सत्य मार्ग की ओर उन्मुख किया। युद्ध में उनकी रुचि न थी, किंतु फिर भी उनके काल में सिखों की सैनिक भावना में निरंतर वृद्धि होती रही, जिसका स्पष्ट कारण औरंगज़ेब की कट्टर धार्मिक नीति के साथ-साथ गुरु हरगोबिन्द के काल में सिखों के हृदय में बोये गये स्वाधिकार चेतना के बीज थे।

गुरु हरराय के समय से इतना तो स्पष्ट दिखाई देने लगा था कि औरंगज़ेब की मुस्लिम धर्म प्रचार की कट्टर नीतियों से सिख गुरुओं एवं सिख पंथ में आक्रोश उत्पन्न हो रहा है तथा उससे सिख पंथ की रूपरेखा में परिवर्तन आने लगा है। पंथ में आये इस परिवर्तन का पूर्ण विकास हमें कालान्तर में दशम गुरु, गुरु गोबिन्द सिंह के समय में दिखाई देता है, जब वे अत्याचार के उन्मूलन के उद्देश्य से सिंहों के समाज 'खालसा पंथ' की स्थापना करते हैं।

आठवें गुरु हरकृष्ण (१६५६ ई.—१६६४ ई.) भी पिता श्री हरराय की भाँति शान्त प्रकृति के थे। केवल पाँच वर्ष की अवस्था में वे गुरु-गद्दी पर आसीन हुए। बड़े भाई रामराय, जिसे पिता ने गुरु-गद्दी के योग्य नहीं माना था, ने गुरु-गद्दी के उत्तराधिकार की शिकायत औरंगज़ेब से की। उस की शिकायत पर सम्राट ने शिशु गुरु को दिल्ली बुला भेजा। दिल्ली में उन दिनों चेचक का प्रकोप था। पीड़ितों के स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना करते हुए गुरु स्वयं चेचक पीड़ित हो गये और शोक मनाने का निषेध कर सन् १६६४ ई. में प्रसन्नतापूर्वक इस संसार से विदा हुए।

स्वर्ग सिधारने से पूर्व गुरु-गद्दी के उत्तराधिकारी के बारे में गुरु हरकृष्ण ने 'बाबा बकाले' शब्दों का प्रयोग किया था। उसी आधार पर बकाले में सोढी मसंदो ने तेग बहादुर जी को (१६२२ ई.—१६७५ ई.) को गुरु घोषित कर दिया, जो गुरु हरकृष्ण के दादा छठे गुरु हरगोबिन्द के छोटे पुत्र थे। पिता हरगोबिन्द जी की आज्ञानुसार तेग बहादुर जी बकाले जाकर रहने लगे थे, जहाँ उनका ननिहाल था। पिता की मृत्यु के पश्चात तेगबहादुर जी के बड़े भाई बाबा गुरदित्ता के पुत्र हरराय सातवें गुरु बने थे और इनकी मृत्यु के पश्चात् गुरु हरिराय के छोटे पुत्र श्री हरकृष्ण आठवें गुरु के पद पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आसीन हुए थे।

नवें गुरु, गुरु तेग बहादुर सांसारिक सुखों में अनुरक्त नहीं थे, अतः गुरु-गद्दी का दायित्व सँभालने के बारे में भी वे आतुर नहीं थे। किन्तु माता, मक्खन शाह तथा अन्य मसन्दों की सलाह पर उन्होंने पूर्वजों की गद्दी पर आसीन होना स्वीकार लिया और गुरु के कर्तव्यों को निष्पादित किया। वास्तव में गुरु-गद्दी के वंशानुक्रम से विरासत में दिए जाने का सिलसिला गुरु अर्जुन देव के समय से ही शुरु हो गया था जबकि उससे पहले किसी योग्य शिष्य को तिलक करके गुरु-गद्दी सौंपी जाती थी। गुरु-गद्दी के पैतृक बन जाने के कारण गृहकलह आदि बुराइयों का आना भी स्वाभाविक था। गुरु तेग बहादुर को भी अपने भतीजों धीरमल और रामराय की वजह से गृहकलह के ओछे रूप भी देखने पड़े। धीरमल और हरि जी मीणे ही उनके सबसे बड़े शत्रु बन बैठे, जब बकाले में स्वार्थान्ध बाईस सोढी स्वयं को गुरु-गद्दी का असली हकदार साबित करने के लिए बाईस मंजियाँ स्थापित कर बैठे थे।[१९] धीरमल ने गुरुजी पर घातक आक्रमण तक करवाने का षड्यंत्र रचा था। बकाले में प्रतिदिन रचे जाने वाले छल, षड्यंत्र, फरेब, पाखंड आदि गुरु तेगबहादुर की सन्त प्रकृति के कतई अनुकूल न थे। अतः वे अमृतसर छोड़कर कीरतपुर पहुँचे और उन्होंने माखोवाल में जमीन खरीदी, जो बाद में आनंदपुर नाम से प्रसिद्ध हुई। इस प्रकार गुरु तेग बहादुर को धर्म और परिवार, दोनों से अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ा।

गुरु तेग बहादुर सरल, विनम्र एवं दयालु स्वभाव के थे किन्तु अत्यंत साहसी थे। वे घंटों ध्यान लगाकर ईश्वर स्तुति किया करते थे। जीवन-भर उन्होंने लोगों को ईश्वरीय चिन्तन करने का उपदेश दिया और इस क्षणभंगुर संसार में आसक्ति की व्यर्थता प्रतिपादित की। उन्होंने प्रयाग, गया, बनारस, मालवा, मुंढेर, ढाक, दुबरी आदि क्षेत्रों की यात्रा की तथा धर्म-प्रचार एवं नवीन सांस्कृतिक चेतना जगाने का कार्य किया। उन्होंने सर्वव्यापी ब्रह्म को सृष्टि के कण-क्षण में व्याप्त बताया। उन्होंने '**जग रचना सभ झूठ है जानि लेहु रे मीत**'[२०] – कहकर सृष्टि की नश्वरता पर बल दिया और ब्रह्म भक्ति में लीन व्यक्ति को ही ज्ञानी माना। ऐसा ही व्यक्ति उनके अनुसार मुक्तावस्था को प्राप्त कर अकाल पुरुष का स्वरूप हो जाता है—

जिह घटि सिमरनु राम को सो नर मुक्ता जानु।
तिहि नर हरि अंतरू नहीं नानक साची मानु।

(गुरु ग्रंथ साहब, सलोक, महला ९, पृ.)

मुक्तावस्था प्रात कर व्यक्ति '**जिउ पानी संगि पानी**' की भाँति परम तत्त्व से ऐक्य स्थापित करता

---

१९. मुगल सल्तनत के बाईस सूबेदार हुआ करते थे। उसी के समकक्ष तीसरे गुरु अमरदास ने बाईस मंजियां (चार-पाइयाँ, जिस पर परिवार या गाँव का मुखिया ही बैठ सकता है बाकी सब नीचे बैठेंगे) बनाई। बाद में 'मंजी' से मसनद बनी। उनसे 'मसंद' का संगठन चल निकला जिनकी नियुक्ति गुरु द्वारा संगत के संगठन सिखी तथा गुरु व उपदेशों के प्रचार शिष्यों से भेंटादि और पूजा तथा 'दस बंद' (दसवां हिस्सा) एकत्र करने के लिए की जाती थी।

२०. गुरु ग्रंथ साहब, सलोक, महला ९, पृ. १४२८.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

है, फिर उसी की शरण में विचरण करना चाहता है। हरिनाम स्मरण न करने वाले व्यक्ति के जीवन को उन्होंने व्यर्थ बताया। उन्होंने अहंकार, लोभ, मोह आदि विकारों से बचने की शिक्षा दी। शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा में लिखे गये 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संकलित उनका काव्य भारतीय संस्कृति एवं साहित्य-परंपरा के दो मूलभूत तत्त्वों—आध्यात्मिकता एवं मानवीय स्वतंत्रता की चेतना को प्रतिपादित करता है। यही कारण है कि वाणी में नाम स्मरण उनकी आध्यात्मिक यात्रा का प्रथम सोपान है।

मानवीय स्वतंत्रता की चेतना मात्र उनकी वाणी का ही विषय न थी; उनका समूचा व्यक्तित्व इसी चेतना से ओत-प्रोत था। गुरु तेग बहादुर औरंगज़ेब की धर्म-परिवर्तन की नीतियों तथा उनसे जुड़े बल-प्रयोग के विरुद्ध थे। अपने धर्म पर दृढ़ रहते हुए भी, अन्य धर्मों एवं धर्मावलंबियों के प्रति उनके मन में गहरा आदर भाव था। वे मानते थे कि प्रत्येक को अपनी आस्था, अपना मत, विश्वास और अपना धर्म चुनने तथा उसका पालन करने की पूरी स्वतंत्रता है। इस संबंध में किसी प्रकार की ज़बर्दस्ती नहीं की जानी चाहिए। वे जनता को भी निर्भयतापूर्वक अपने धर्म को मानने तथा अपने धार्मिक सिद्धांतों पर आचरण करने की प्रेरणा दिया करते थे। मानव अधिकारों की सुरक्षा तथा मानवीय स्वतंत्रता के पक्षधर होने के कारण वे औरंगज़ेब के अत्याचारों के प्रति विद्रोह करने को तत्पर हो गये। विश्व में मानव अधिकारों की सुरक्षा के लिए स्थापित संगठन तो बहुत बाद में अस्तित्व में आये, उनका मूल यदि खोजना हो तो गुरु तेग बहादुर के आचरण की दृढ़ता का अध्ययन किया जाना चाहिए। उन्होंने उस समय मानव अधिकारों की सुरक्षा के लिए सिर उठाया, जब जनता के अधिकारों की सुरक्षा का कोई नियम अथवा संगठन न था और संपूर्ण देश हिंसा की गिरफ़्त में था। बादशाह की अतुलनीय ताकत के सामने अपनी सामर्थ्य एवं जनता की कायर प्रवृत्ति को पहचानते हुए भी उन्होंने मानव अधिकारों के हनन के खिलाफ़ आवाज़ बुलंद की और जनता को निर्भयता का पाठ पढ़ाया। **'भै काहू को देत नाहीं'** में उनकी दृढ़ आस्था थी ही। उन्होंने भय मानने को भी अनुचित बताया। किसी भी मनुष्य को यह अधिकार नहीं कि वह किसी को आतंकित करे, डराये, धमकाये या अपनी शक्ति सत्ता अथवा धन-संपत्ति के बल पर दूसरे का शोषण करे। भय कौन देता है? जो स्वयं भयभीत होता है। मरने का डर मारने के मोह को जन्म देता है, यदि व्यक्ति स्वयं निर्भय हो जायेगा तो भला दूसरे को मारने का मोह क्यों करेगा? इस कारण गुरु तेगबहादुर ने नैतिक मूल्यों से जुड़े आप्त वाक्य 'किसी को डराना नहीं' 'भै काहू को देत नाहीं' में **'न भै मानत आनि'**[२१]– भी जोड़ दिया और उसे मनोवैज्ञानिक रूप से संपूर्णता प्रदान की, क्योंकि वे इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से परिचित थे कि भयभीत व्यक्ति निर्वैर नहीं हो सकता।

जब व्यक्ति स्वयं निर्भय होगा, नाना प्रकार के भय से रहित होगा, तभी वह निर्वैरता की स्थिति तक पहुँचेगा। निर्भयता से निर्वैरता की स्थिति उत्पन्न होगी। क्योंकि निर्भयता ही यथार्थ बल है। गुरु तेग बहादुर ने शासकीय अत्याचारों से पीड़ित, त्रस्त जनता को इस सार को ग्रहण करने तथा

२१. गुरु ग्रंथ साहब, सलोक, महला ९, २०.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उसी के अनुरूप आचरण करने का संदेश दिया। उन्होंने माना कि भय से ऊपर उठकर ही मनुष्य सबके साथ समान संबंध स्थापित कर सकता है। और यही मुक्ति का मार्ग है—

निरभउ होइ भजहु भगवान। साध संगत मिलि कीनो दानु।

(३ :१०८ गउड़ी म.५,पृ.२०१)

नाम को आधार रूप में ग्रहण करके सांसारिक भय को त्याग देने वाला ही सांसारिक हर्ष-शोक से ऊपर उठकर उस परम निर्भय के गुणों को ग्रहण कर सकता है। गुरु तेग बहादुर के अनुसार यही मुक्ति का मार्ग है। उन्होंने इसी मार्ग को अपनाने का संदेश दिया–

हरख सोग जाके नहीं बैरी मीत समानि।
कहुं नानक सुनु रे मना मुकुति ताहि तै जानि।

(गुरु ग्रंथ साहब,सलोक,महला ९,१५.)

निःसंदेह गुरु तेग बहादुर ने नाम का आधार ग्रहण कर सांसारिक भय से ऊपर उठकर निर्भयता की स्थिति प्राप्त कर ली थी। उन्होंने भयभीत पंडितों के उनकी शरण में आने पर इसे चरितार्थ भी कर दिखाया। किसी से वैर-भाव रखने अथवा किसी को डराने के स्थान पर जब वे सबके लिए समान अधिकारों के प्रयोग की स्वतंत्रता का औचित्य समझाते हैं,तब किसी को भयभीत न करने के साथ-साथ,किसी का भय न मानने का उनका सिद्धांत वाक्य भी स्वयं ही समझ आ जाता है। बड़े से बड़े आतंक से भी भयभीत न होकर जब वे निर्भयतापूर्वक अपना बलिदान देने के लिए तत्पर हो जाते हैं,तब समूचा समाज उनके उपदेश और आचरण की एकात्मकता के समक्ष नत मस्तक हो उठता है। स्वयं तो वे किसी से डरे ही नहीं,डराना भी उनकी प्रकृति में न था। इतना ही नहीं,डरे हुए को शरण देना भी उनके लिए सबसे बड़ा नैतिक कार्य था। इसी कारण औरंगज़ेब के धर्म परिवर्तन के चक्र से त्रस्त कश्मीरी पंडित जब उनके पास रक्षा की पुकार लेकर पहुँचे तब उन्हें अभयदान देने से बढ़कर और कुछ उचित प्रतीत नहीं हुआ। उनकी रक्षा के लिए जब गुरु जी निहत्थे ही विशाल साम्राज्य,शक्ति एवं सत्ता के स्वामी औरंगज़ेब जैसे शासक के साथ टक्कर लेने के लिए तत्पर हो गये,तब हम ऊपर से सदा शांत व गंभीर दिखाई देने वाले उनके व्यक्तित्व में निहित करुणा के विशाल सागर से तो परिचित होते ही हैं,उनमें भीतर ही भीतर पनपने वाले विद्रोह और बलिदान के भाव को भी स्पष्ट देख सकते हैं। भीतर सुगबुगाता हुआ यह विद्रोह परिस्थिति विशेष में उन्हें बलिदान की दिशा में प्रेरित करता है और वे धर्म विशेष की रक्षा के लिए अपने प्राण न्यौछावर करने में भी संकोच नहीं करते। किंतु ध्यान देने की बात यह है कि गुरु तेगबहादुर के व्यक्तित्व में निहित विद्रोह का यह भाव वैयक्तिक है और 'न भै मानत आनि' तक ही सीमित है। यह अत्याचार अथवा ज़ुल्म के खिलाफ़ की जाने वाली सामूहिक सशस्त्र क्रांति से जुड़ा हुआ नहीं है। किंतु भूलना न होगा कि विद्रोह और बलिदान के इस भाव ने ही आगामी काल में शोषण के खिलाफ़ सशस्त्र,संगठित संघर्ष के लिए पृष्ठभूमि का कार्य किया। भयभीत, आतंकित जनसमुदाय के हृदय में निर्भयता के बीज बोने का कार्य यहीं सम्पन्न हुआ था,जिसकी फसल गुरु गोबिन्द सिंह के समय में पक कर तैयार हुई थी।

गुरु तेग बहादुर यह अच्छी तरह जानते थे कि औरंगज़ेब के साधन सम्पन्न विशाल साम्राज्य के समक्ष उनका बल,शक्ति,साधन सब नगण्य है,किंतु उन्हें ईश्वरीय शक्ति पर विश्वास था। उन्हें

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अपने भीतर जलने वाली आध्यात्मिक शक्ति की ज्योति से प्राप्त प्रकाश पर भरोसा था, अतः अत्यंत शांत भाव से वे औरंगज़ेब के प्रत्येक अत्याचार को सहते गये और यहाँ तक कि अपना बलिदान देने के लिए तत्पर हो गये, किंतु उसके अनीतिपूर्ण आचरण के सामने घुटने टेकना स्वीकार नहीं किया। औरंगज़ेब के पास सूचना पहुँची, गुरु तेग बहादुर जी को दिल्ली बुलाया गया।[२२] मार्ग में आगरा में ही उन्हें कैद कर लिया गया और दिल्ली लाया गया। प्रारंभ में औरंगज़ेब ने अत्यंत नम्रतापूर्वक धर्म परिवर्तन का प्रस्ताव उनके सामने रखा, तदुपरांत नाना प्रकार के प्रलोभन दिये, किंतु गुरु जी ने किसी भी प्रकार समर्पण नहीं किया। इस्लाम धर्म न अपनाने के अपने निश्चय पर दृढ़ रहने के कारण उन्हें अनेक यातनाएँ दी गईं। उन पर बार-बार करामात दिखाने के लिए ज़ोर डाला गया। उनका उत्तर था कि "करामात पीरों के पास हैं, हम तो प्रभु के फकीर हैं और हमें उसी के नाम का आश्रय है। हाँ, बिना हथियार के सच्चाई के लिए लड़ मरना सबसे बड़ी करामात है। तेग बहादुर का सोचना यही है कि उसकी बहादुरी के आगे ज़बर ज़ुलम की तेग हार जायेगी।"[२३]

करामात दिखाने को तेग बहादुर जी ने आध्यात्मिक शक्ति का दुरुपयोग माना। गुरु नानक देव ने भी योगियों को संबोधित करते हुए कहा था कि ईश्वर के सच्चे नाम के सिवा मेरे पास कोई चमत्कार नहीं है, सारे चमत्कार छाया (भ्रांति) मात्र हैं और इनमें पड़ना जीवन नष्ट करना है। सच्चा पुण्य ईश्वर के नाम से ही है, इसलिए चमत्कारों को दिखाना अपने को माया में आसक्त करना है। सिख परंपरा चमत्कार प्रदर्शन और सिद्धि का खंडन करती है और नाम स्मरण को ही पुण्य कार्य मानती है।[२४] गुरु रामदास के भी सिद्धियों के प्रति ऐसे ही विचार थे।[२५] पातंजलि योग दर्शन के अनुसार भी माना गया है कि चमत्कारों के प्रयोग से साधक की आध्यात्मिक प्रगति रुक जाती है क्योंकि चमत्कारों का प्रयोग करने वाला मनोमुख हो जाता है, जबकि आध्यात्मिकता गुरुमुखता की ओर ले जाती है। इसलिए इन शक्तियों के पीछे भागने से साधक नाम की भक्ति से दूर हो जाता है और अपने आध्यात्मिक मार्ग से विमुख हो जाता है। वस्तुतः ईश्वर का विधान ऐसा है, जिसे कोई भी चमत्कार बदल नहीं सकता, इसलिए ईश्वरीय विधान को बदलने का प्रयास करना संसार से पलायन है। चमत्कार दिखाने का अभिप्राय है– भगवान के हुक्म को बदलने का प्रयास। गुरु तेग बहादुर जी का दृढ़ विश्वास था कि सारी घटनाएँ ईश्वर के हुकुम के अनुसार होती है, उन्हें बदला नहीं जा सकता–

---

२२. M.A. Macauliff, The Sikh Religion, part v, P. 308

२३. प्रेम प्रकाश सिंह, (सं) गुरु तेग बहादुर जीवन, दर्शन और विवेचन, नरेन्द्र मोहन, पृ. ५१

२४. (क) रिधि-सिधि अवरा साद

—जपुजी २९

(ख) घ्रिग सिधि घ्रिग करामात

—वार सोरठि, महला ३

(ग) तन्तु मंतु पाखंड ना जाणा सूही महला, ५

२५. आसण सिध सिखहि बहुतेरे मनि मागहि रिधि-सिधि।

त्रिपति संतोखु मनि सांति न आवै मिलि साधू त्रिपित हरिनाम सिधि पाईआ।

—विलावलु, महला ४

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'हुकुमे अन्दरि सभु को बाहर हुकुम न कोई'

(श्री गुरु ग्रंथ साहिब, जपुजी, महला, पृ. १)

इसी कारण वे अत्याचारी शासक की कठोरता के विरोध में चट्टान की तरह अडिग बने रहे तथा अत्यंत दृढ़तापूर्वक सांप्रदायिकता का सामना करते रहे। वे सच्चे ब्रह्मज्ञानी थे। सर्वथा अहंकार रहित होकर उन्होंने उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर लिया था। अत: वे कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहते थे, जो ईश्वरीय विधान के विरोध में किया जाये। ईश्वरीय इच्छा के प्रति समर्पण ऐसे संत साधक की हार्दिक अभिलाषा रहती है जो निषेधात्मक अथवा अकर्मणात्मक नहीं, अपितु ईश्वरीय विधान की पूर्णत: क्रियात्मक स्वीकृति है। इस विधान के प्रति समर्पण आध्यात्मिक विजय है। इसी कारण बलिदान के लिए आह्वान किए जाने पर वे स्थित-प्रज्ञ साधक की भाँति उसके लिए उद्यत हो गये। अन्ततः गुरु तेग बहादुर के सामने अत्यंत अमानुषिक ढंग से उनके शिष्य भाई मतीदास, दयालदास तथा भाई सतीदास का वध कर दिया गया, किन्तु गुरु जी के चेहरे पर हल्की शिकन तक न दिखाई दी। घृणा, क्रोध, शंका, भय आदि भावों से वे बहुत ऊपर उठ चुके थे। उनका लक्ष्य तो भयभीत जनता में व्याप्त भय को दूर भगा कर उन्हें निर्भय बनाना था। औरंगज़ेब द्वारा दिये गये लोभ एवं भय से विचलित हुए बिना गुरु तेगबहादुर ने उसे धार्मिक सहिष्णुता, उदारता एवं ईश्वरा-द्वैतता का उपदेश दिया। ऐसे भक्तिपरक आदेशों के समझने की औरंगज़ेब जैसे असहिष्णु, अनुदार एवं क्रूर शासक की बिसात ही न थी। उस पर इन उपदेशों का ठीक उल्टा असर हुआ। उसने गुरु तेग बहादुर का वध करने का आदेश दिया। हिन्दुओं के तिलक और जनेऊ की रक्षा के लिए गुरु जी अपना बलिदान दे दिया लेकिन उफ़ नहीं की। अपने तन को नश्वर समझ कर अपने बलिदान द्वारा गुरु ने सत्य और मर्यादा की रक्षा की और अपने धर्म प्रेम का प्रमाण प्रस्तुत किया—

ठीकरि फोरि दिलीस सिरि, प्रभु पुर किया पयान।
तेग बहादुर सी क्रिया, करी न किनहू आन।

(गुरु गोबिन्द सिंह, विचित्र नाटक, ५/१५)

गुरु तेग बहादुर का बलिदान इस सत्य का उदाहरण है कि आध्यात्मिक प्रकाश ही मानवीय व्यक्तित्व का निर्माण करता है तथा उसे उदारता, वीरता, दृढ़ निश्चय आदि गुणों से अलंकृत करता है। इन्हीं आध्यात्मिक मूल्यों से गुरु तेग बहादुर ने वह अद्भुत शक्ति प्राप्त की थी जिससे वे मानवीय स्वतंत्रता के लिए बलिदान देने की स्थिति तक पहुँच गये किन्तु मुँह से उफ़ तक न निकली। हिन्दुत्व की रक्षा के लिए मुगल शासक के समक्ष अत्यंत निरीह ढंग से समर्पण कर देने या प्रतिकार की भावना से उद्वेलित होकर शास्त्रास्त्र से मुकाबला करने की अपेक्षा उन्होंने जिस प्रकार **'सीसु दिया पर सिररु न दिया'**[२६] वह अपने-आप में अद्भुत था। भले ही उनका शरीर झुक गया हो, किन्तु उनकी आत्मा तनिक भी नहीं झुक पाई थी। उनके मुख पर न शासक के प्रति घृणा का भाव था, न शारीरिक कष्ट से उत्पन्न होने वाले शोक का। वहाँ तो अद्भुत शांति का अपूर्व साम्राज्य था। उनकी निर्भय मानसिकता का निर्माण करने वाले वे ही मूल्य थे, जिन्हें उन्होंने गुरुवाणी से प्राप्त किया था। उन्होंने उस ज्ञान संपदा को अभय आचरण से संबद्ध कर उसे संस्कारित तो किया ही, उसे इस सीमा तक

२६. विचित्र नाटक, ५/१४.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अपने आचरण में उतारा कि उसने उन्हें संपूर्ण जाति के बीज को सुरक्षित रखने का संबल प्रदान किया।

निर्भयता तक पहुँचने के लिए गुरु तेग बहादुर ने लोभ, माया, मोह, सुख-दुख, मान-अपमान, हर्ष-विषाद आदि से मुक्त होने की आवश्यकता पहचानी थी—

सुखु दुखु दोनो सम करि जानै अउरु मानु अपमनाना।
हरख सोग ते रहै अतीत। तिनि जगि ततु पछाना।

(१, गउड़ी महला ९)

लोभ-मोह आदि से मुक्त हुए बिना व्यक्ति निर्भय नहीं हो सकता और जो निर्भय नहीं हो सकता, वह अपना बलिदान कैसे दे सकता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। इसलिए गुरु तेग बहादुर ने ज्ञानी मनुष्य की जैसी परिकल्पना की है,[२७] वह बलिदानी व्यक्ति के लिए भी आवश्यक है। अभय मानसिकता में प्रभु का साक्षात्कार होता है, और ऐसी ही मानसिकता आत्मसाक्षात्कार के लिए आवश्यक है। इसके लिए परमात्मा को 'सकल भै भंजन' (सोरठि, महला ९) (समस्त भय का नाश करने वाला) बताया और उसी का चिन्तन करने का उपदेश दिया। गुरु नानक देव ने भी 'जपुजी' में परमात्मा को 'निरभउ' बताया था। 'ऋग्वेद' में भी परमात्मा को 'अभयम ज्योतिः' के नाम से पुकारा गया है। गुरु तेग बहादुर की साधना का चरम लक्ष्य भी उस 'निरभै पद' की प्राप्ति है जहाँ भ्रम की काई मिट जाये,[२८] जम का त्रास मिट जाये।[२९]

ऐसी स्थिति में पहुँचे हुए व्यक्ति के लिए मृत्यु का कोई अर्थ नहीं रहता, ऐसा ही व्यक्ति अपना बलिदान दे सकता है। गुरु तेग बहादुर निःसंदेह ऐसी अभय दृष्टि प्राप्त कर चुके थे। ऐसी अपराजेय एवं अभय मनःस्थिति में ही उन्होंने गुरु नानक द्वारा प्रशस्त विद्रोह मार्ग पर चलकर अपना बलिदान दे दिया और विद्रोह के भाव को आगामी पीढ़ी को सौंप दिया।

पूर्व गुरुओं से प्राप्त विरासत को गुरु गोबिन्द सिंह ने अमूल्य निधि की तरह संजोया और केवल संजोया ही नहीं, मानव धर्म को पुनर्परिभाषित एवं पुनर्व्याख्यायित करने के लिए उसका समुचित उपयोग भी किया। परंपरा के संपुष्ट आधार ने उन्हें दृढ़ता, आत्मविश्वास, कर्मठता एवं सच्चरित्रता से युक्त किया; जिससे वे वर्तमान के प्रत्येक पक्ष का आकलन कर मौज़ूदा परिस्थितियों

---

२७. सुरग नरक अम्रितु बिखु ए सब तिउ कंचन अरु पैसा।
उसतति निंदा ऐ सम जा कै लोभ मोहु पुनि तैसा।
दुखु सुखु ए बांधे जिह नाहनि तिह तुम जानउ गिआनी।
नानक मुकुति ताह तुम मानउ इह बिधि को जो प्राणी।
—२, ३, गउड़ी महला ९

२८. जन नानक बिनु आपा चीनै, मिटे न भ्रम की काई
—धनासरी, महला ९.

२९. राम नाम नर निस बसुर मै।, निमख एक उरधारै।
जम को त्रास मिटै नानक तिह आपुनो जनम सवारै।
—आदि ग्रंथ, पृ. १०२

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

को मानवता के हित में नियोजित कर पाने में समर्थ हुए, अन्यथा समाज में इतना बड़ा क्रांतिकारी परिवर्तन लाना संभव न था। यह आदि गुरु, गुरु नानक से प्राप्त दीन दुखियों के प्रति करुणा एवं संवेदनशीलता का भाव था, जिससे द्रवित हो संत गोबिन्द ने योद्धा का रूप धारण किया और 'दीनों के हेतु' कृपाण उठाई। दीन-दुखियों के **'अनंत पाप टारियं', 'अनंत दुःख टारियं'**[३०] को ही अपने जीवन का उद्देश्य बना लेने की प्रेरणा उन्हें विरासत से प्राप्त हुई थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि गुरु जी ने अपने रक्त की अंतिम बूँद तक दीनन की प्रतिपालना ही को समर्पित कर, पूर्वजों की इस विरासत का सम्मान किया।

गुरु नानक ने अपनी वाणी के माध्यम से शासकीय अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाने की जिस साहसिक परंपरा का सूत्रपात किया था, वह शेष आठों गुरुओं से होती हुई अपने अक्षुण्ण रूप में गुरु गोबिन्द सिंह तक पहुँची थी, जिसका उन्होंने मन, वचन और कर्म से परिपालन किया। 'सिर धर तली गली मेरी आउ'—कहकर गुरु नानक बलिदान की जिस परंपरा का आह्वान करते हैं, गुरु अर्जुन देव और गुरु तेग बहादुर अपनी शहादत से जिस पर फूल चढ़ाते हैं, वही परंपरा गुरु गोबिन्द सिंह के सर्वस्व बलिदान में पूर्णता प्राप्त करती दिखाई देती है। पिता से प्राप्त वैयक्तिक विद्रोह एवं बलिदान के भाव को गुरु गोबिन्द सिंह शोषण के खिलाफ़ की जाने वाली सामूहिक सशस्त्र क्रांति में बदल देते हैं। उसी क्रांति के परिणामस्वरूप आज हिन्दू धर्म का अस्तित्व दिखाई दे रहा है।

हिन्दू धर्म के अस्तित्व को अक्षुण्ण रखने में गुरु गोबिन्द सिंह ने अद्‌भुत योगदान दिया साथ ही सिख धर्म को अनुपम रूप प्रदान करने में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। भारतीय समाज को रूढ़िवाद की भ्रांतियों और दासता के बंधन से मुक्त कराने के जिस पवित्र उद्देश्य से गुरु नानक ने सिख धर्म का प्रवर्तन किया था, उसे शेष पूर्व गुरुओं की तरह गुरु गोबिन्द सिंह जी ने भी भली-भाँति समझा और समझने के साथ-साथ परंपरा से चली आई सामाजिक जीवन की इस धारा को नया और क्रांतिकारी मोड़ भी दिया। युगीन आवश्यकता के अनुरूप उन्होंने सिख धर्म को 'खालसा' के रूप में नई आकृति तो दी ही, उसकी परंपरागत आचार संहिता में भी नवीन परिवर्तन किये। 'खालसा' की स्थापना न केवल सिख धर्म, अपितु भारतीय राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन की एक युगांतरकारी घटना है जो पूर्व गुरुओं से विरासत में पाई ज्ञान परंपरा के परिणामस्वरूप उपजी अन्तर्दृष्टि का परिणाम है। भूलना न होगा कि खालसा में प्रवेश का आधार 'मानस की जात सबै एकै पहचानबो' भी गुरु नानक से पाई समतावादी दृष्टि का ही व्यावहारिक रूप है।

यह पूर्व गुरुओं से प्राप्त इसी अन्तर्दृष्टि का ही परिणाम था कि गुरु जी दर्शन और भौतिक संसार के बीच के अंतराल को नाप कर दर्शन और अध्यात्म की अमूर्त और निर्विकल्पिक अवस्था से सीधे भौतिक सांसारिक धरातल पर उतर आते हैं। ज्ञान और भक्ति की विरासत को समझ कर उसमें समयानुकूल नया अर्थ जोड़कर नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों से सर दे देने की क्रांतिकारी चेतना गुरु गोबिन्द सिंह की परंपरा से प्राप्त दृष्टि का ही विस्तारित रूप था।

परंपरा ही ने उन्हें विनम्रता एवं श्रद्धा जैसे अनमोल गुण प्रदान किये, जिनमें अन्य गुरुओं सहित द्वितीय गुरु अंगद देव जी, छठे गुरु हरगोबिन्द जी तथा आठवें गुरु हरकृष्ण जी का अत्यधिक

---

३०. विचित्र नाटक, ६/३९-४०.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

योगदान था। यह विनम्रता एवं श्रद्धा ही की भावना थी,जिसने गुरु गोबिन्द सिंह को अपने शिष्यों के सम्मुख शीश नवा कर,उन्हें करवाई गई प्रतिज्ञाएँ स्वयं धारण करने के लिए प्रेरित किया तथा **"इनहीं (शिष्यों की) कृपा सों खड़े हम हैं नहीं मो सो गरीब करोर पड़े'**[३१] जैसी पंक्तियों की रचना को ही प्रेरित नहीं किया,आचरण से उसे चरितार्थ करने का बल भी प्रदान किया। सहिष्णुता का जो भाव हलीमी का सहचारी बनकर आया था उसने भूखे प्यासे रहकर,चारों पुत्रों को खोकर भी 'सी न उचरने' के लिए प्रेरित किया तथा लक्ष्य से विमुख न होने की दृढ़ता प्रदान की।

अन्य गुरुओं सहित पाँचवे गुरु अर्जुन देव जी तथा पिता गुरु तेग बहादुर की आध्यात्मिक श्रेष्ठता संत गोबिन्द को ईश्वर के अनन्य उपासक के रूप में प्रतिष्ठित करती रही,तो गुरु अर्जुन देव जी की व्यवहारकुशलता एवं राजनीतिक चेतना उसी संत को सिपाही का बाना पहनाकर सैनिक संगठन के निर्माण का महत्त्व समझाने में जुट गई। छठे गुरु हरगोबिन्द सिंह जी की सैनिक सोच-समझ ने पुनः जिसे परिपुष्टता प्रदान की। यह उनसे प्राप्त दूरदर्शिता का गुण ही था जो शत्रु सेना के साधन, सामर्थ्य अथवा संख्या में असीमित होने पर भी युद्ध क्षेत्र में सदा गुरु जी का पथ प्रदर्शन करता रहा। जिसके परिणामस्वरूप अत्यल्प सैनिकों के लेकर युद्ध करने पर भी वे सदैव विजयश्री का आलिंगन करते रहे।

पिता एवं नवें गुरु ने तो उनके पूरे व्यक्तित्व को ही संस्कारित किया,उन्हें भाँति-भाँति की शिक्षा दी तथा धर्म और कर्त्तव्य का महत्त्व भी समझाया।[३२] पिता की शिक्षा **'बाहं जिन्दां दी पकड़िए, सर दीजै बांह न छोड़िए'** ने गुरु गोबिन्द सिंह को ही नहीं,उनके साहिबज़ादों को भी **'धर पहिए धरम न छोड़िए'** की दृढ़ता प्रदान की। उन्होंने जिंदा दीवारों में चिना जाना स्वीकार कर लिया,लेकिन धर्म पर आंच न आने दी।

पिता द्वारा घुट्टी में पिलाया गया मंत्र—'न भै मानत आन'—गुरु जी के संपूर्ण जीवन को परिचालित करता दिखाई देता है। स्वयं तो वे सिंहों की भाँति अन्याय एवं अत्याचार की खिलाफ़त में सन्नद्ध रहे ही,इस सिद्धांत को तद्युगीन निर्जीव,निष्प्राण पीढ़ी के हृदय में भी स्थानांतरित कर, उन्हें सवा लाख से अकेले लड़ने वाले सूरमाओं में परिवर्तित कर दिया और एक नवीन इतिहास रच दिखाया।

गुरु तेग बहादुर ने पूर्व गुरुओं से प्राप्त जो विरासत अपने बलिदान से पूर्व बालक गोबिन्द को सौंपी थी,उसे उन्होंने अत्यंत आदर एवं श्रद्धा के साथ शिरोधार्य किया। कहना न होगा कि उनके महामानव रूप में मणियों की भाँति जड़ी हुई इस पैतृक प्रदाय ने उनके सौन्दर्य को चार चाँद लगा दिये। यह उसी सौन्दर्य की आभा है,जिसने गुरु जी के जीवन काल में तो समूची मानवता के पथ को आलोकित किया ही आज भी प्रकाश-पुंज बनकर भटकी हुई मानव जाति के पथ को प्रदीप्त करने की जिसकी सामर्थ्य अक्षुण्ण है।

■■■

---

३१. दशम ग्रंथ, खालसा महिमा, ३/२.

३२. कीनी अनिक भांति तन रिछ्‌छा। दीनी भांति भांति की सिछ्‌छा।
तब हम धर्म कर्म मो आए। देव लोक तब पिता सिधाए
—विचित्र नाटक, ७/३

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गुरु गोविन्द सिंह : परिस्थितियाँ और युगबोध

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

''राजे सीह मुकद्दम कुत्ते। जाइ जगाइन बैठे सुत्ते।
चाकर नहंदा पाइन्हि घाउ। रतु पितु कुतिहो चटि जाहु।
जियै जीआ होसी सार। नकी वड्डी लाइतबार।''

—रागु मलार, वार, महला, गुरु ग्रंथ साहब, पृ. 1288.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गुरु गोबिन्द सिंह : परिस्थितियाँ और युगबोध

'न को हिन्दू न मुसलमान'—कहकर आदि गुरु नानक देव जी ने हिन्दू-मुसलमान में भेद को मिथ्या बताया था। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम सभी को एक परमात्मा की संतान मान कर उन्हें एक समान समझा था। परवर्ती गुरुओं ने भी गुरु नानक के चरण-चिह्नों पर चलकर भिन्न-भिन्न धर्मों और संप्रदायों के बीच सहनशीलता और समभाव का प्रचार किया। दशम गुरु गोबिन्द सिंह ने भी मन,वचन और कर्म से पूर्व गुरुओं से प्राप्त समतावादी दृष्टि को विस्तारित करने का प्रयास किया और मानव-धर्म की स्थापना को ही अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया। '**राम औ रहीम ओइ, राजक करीम ओई**[१] 'कहकर उन्होंने भी गुरु नानक ही की भाँति हिन्दू-मुस्लिम सब को एक ही ज्योति से उत्पन्न माना। किंतु खेद का विषय तो यह है कि जिस काल में सिख गुरु मानव मात्र की एकता के लिए अपना सर्वस्व होम कर देने से भी नहीं हिचकिचाए,उसी काल में ऐसे असहिष्णु मुगल शासक भी हुए,जिन्होंने हिन्दुओं पर अत्याचार ढाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। ऐसे शासकों में औरंगज़ेब का नाम अग्रणी है।

गुरु गोबिन्दसिंह का काल राजनीतिक दृष्टि से औरंगज़ेब का ही काल था। जिस शासक के सिंहासन के स्तंभ सत्ता के दावेदार निकट संबंधियों के वध के बाद बनी उनकी कब्रों पर टिके हों, ऐसे क्रूर व अत्याचारी शासक से प्रजा के प्रति अच्छे रवैये की आशा भी कैसे की जा सकती है। उस पर भी यदि उसका दिलो-दिमाग धर्मान्धता और कट्टरता के कुहासे से आच्छादित हो,तब तो स्थिति 'एक तो करेला दूजे नीम चढ़ा' वाली ही समझी जा सकती है। औरंगज़ेब ऐसा ही शासक था। मुगल बादशाह शाहजहाँ की मृत्यु तो उसी वर्ष हुई थी,जिस वर्ष गुरु गोबिन्द सिंह का जन्म (१६६६ ई.) हुआ,किंतु उसके पुत्र ने सन्१६५८ ई. में ही साम्राज्य को हस्तगत कर लिया था। बड़े भाई दाराशिकोह,उसके बेटे सुलेमान शिकोह और छोटे भाई मुराद की हत्या करवा कर,पिता के साथ अमानुषिक व्यवहार करके,मँझले भाई शुजा को जान बचा कर फरकान भागने के लिए विवश

---

१. अकाल उस्तत, ८६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

करके; औरंगज़ेब ने साम्राज्य का अधिग्रहण किया था। सत्ता ही उसके लिए सबसे कीमती वस्तु थी, जिसे हथियाने एवं बनाये रखने के लिए उसने उचित अनुचित का भेद ही मिटा डाला था। सल्तनत ही को जीवन का अंतिम लक्ष्य मान कर चलने वाले इस शासक ने जब अपने परिजनों के साथ ही छल-कपट वाली नीति बरती, तब भला वह स्वयं भी किसी पर कैसे विश्वास कर सकता था। स्वयं अनुचित नीतियों का आश्रय लेने वाले व्यक्ति का औरों के उचित अनुचित, प्रत्येक काम पर संदेह करना स्वाभाविक ही है। औरंगज़ेब ऐसी ही शंकालु प्रवृत्ति का स्वामी था। अतः इस कारण न तो उसे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों एवं सेवकगण का पूर्ण सहयोग मिल पाया, न वह अन्य मुस्लिमों को ही आश्वस्त कर पाया। उसकी संकीर्णता की आदत ने इसमें इज़ाफ़ा ही किया था। सत्ता प्राप्ति के लिए पिता एवं भाइयों के साथ किए गये उसके न्याय विरुद्ध आचरण से, उसके सिंहासनारूढ होने से पहले ही जनता के हृदय में तीव्र नैतिक रोष की लहर उमड़ पड़ी थी। उसकी परवर्ती नीतियों ने जिसमें लगातार वृद्धि ही की।

सिंहासनारूढ़ होते ही उसने 'झरोखा परिपाटी' बंद कर दी, जिसके माध्यम से प्रजा सम्राट से अपने दुखों के निवारण की प्रार्थना कर सकती थी। उसने अपने निजी विचारों के अनुसार अपनी प्रजा के जीवन को उदासीनतापूर्ण और गंभीर बनाने के लिएँ उसके संगीत, कला, नाच-गाने आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिया। अपने जन्मदिवस के सारे उत्सवों को उसने बन्द करवा दिया। शाही नगाड़ा जो अब तक सारा दिन बजा करता था, अब केवल तीन घंटे ही बजता था। होली आदि उत्सवों पर अश्लील गाने की जो प्रथा चली आई थी, उसकी भी मनाही करवा दी गई। उसने प्रजा के जीवन को 'कुरान शरीफ़' के नियमानुकूल बनाने के लिए कुछ फ़रमान निकाले, जिनमें कुरान में जिन बातों का विरोध किया गया है, यथा—शराब पीना, जुआ खेलना, व्यभिचार आदि उन्हें बन्द करने तथा उपवास तोड़ने व नमाज़ न पढ़ने के लिए सजा देने की घोषणा की गई। इसी प्रकार पुरानी टूटी मस्ज़िदों की मरम्मत कर उनमें इमाम सिद्धि की नियुक्ति करना, दरबारियों को हिन्दू पद्धति से एक दूसरे को प्रणाम करने की मनाही तथा सलाम-अलै-कुम करने का आदेश आदि भी इन्हीं फ़रमानों में सम्मिलित थे।

कट्टरपंथी होने के कारण औरंगज़ेब ऐसे इस्लामी राज्य की स्थापना करना चाहता था, जिसमें गैर-मुस्लिम कोई न हो। राज्य का प्रत्येक कार्य, उसकी प्रत्येक नीति इस्लाम को ही प्रश्रय देने तथा उसी का प्रचार एवं प्रसार करने के लिए हो। कट्टर इस्लाम धर्म में जिस आदर्श मुस्लिम राज्य का आग्रह किया जाता है, उसमें एकमात्र सच्चा धर्म इस्लाम को ही माना जाता है। उसी को चारों ओर फैलाना तथा उसका पालन करना ही प्रत्येक राजकीय शासन का उद्देश्य माना जाता है। यानी, संपूर्ण जनसमाज को इस्लाम धर्म में लाना ही मुसलमानी राज्य का आदेश है।[२] गैर-मुस्लिम को यह किसी भी स्थिति में मुसलमानी राज्य का नागरिक नहीं मानता[३] उन्हें कर के रूप में कुछ धन (जजिया) देना

२. His Policy towards mohammadans was one of suspicion, while his bigotry and presecutions rendered him hateful to his Hindu subjects. In his old age his wearied spirit could not find no solace no tribe of brave and confiding men gathered round him.
—History of Sikhs, P.67

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अनिवार्य है।[४] कट्टर इस्लाम के अतिरिक्त अन्य किसी भी जाति या धर्म के प्रति उदारता दिखाना उस धर्म के अनुसार पाप है। काफिरों के देश (दार-उल-हर्ब) में[५] युद्ध को उस समय तक चलाया जाना भी इस्लाम के सच्चे अनुयायी के कर्तव्यों में शामिल है जब तक कि वह देश इस्लामी राज्य के दायरे (दार-उल इस्लाम) में पूर्ण रूप से शामिल न हो जाये। किसी भी इस्लाम समाज में कोई क़ाफ़िर यदि शेष रह जाये, तो उसे तभी रहने दिया जा सकता है, जब इस दोष को तत्काल मिटाना संभव न हो। ऐसी परिस्थिति केवल कुछ काल के लिए रह सकती है। इस्लाम राज्य के अनुसार ऐसे विधर्मी को राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा जाना चाहिए ताकि शीघ्र ही उस व्यक्ति को अनोखी आध्यात्मिक ज्योति प्राप्त हो जाये और उसका नाम भी सच्चे मुसलमान धर्मावलंबियों में लिखा जा सके। प्राणदान के उपकार के बदले में कर रूप में ऐसे काफ़िरों को कुछ धन (जज़िया) तथा अपनी ज़मीन के लिए भी कर (खिराज़) देना अनिवार्य हो जाता है। चूँकि आदर्श मुस्लिम राज्य की स्थापना तथा इस्लाम राज्य का प्रसार ही औरंगज़ेब का लक्ष्य था, इसलिए कट्टर इस्लामपंथियों द्वारा निर्धारित नीति-विधान का उसने कड़ाई से पालन शुरू कर दिया तथा इस्लाम के प्रसार के लिए सांप्रदायिक अंधशक्तियों का इस्तेमाल किया।

औरंगज़ेब उपर्युक्त वर्णित आदर्श इस्लाम राज्य की स्थापना के लिए प्रयासरत होने के साथ-साथ स्वभाव से ही नृशंस एवं असहिष्णु था, इसलिए पूर्ववर्ती मुगल शासकों की तुलना में उसके राज्य में हिन्दुओं पर किए जाने वाले अत्याचार भी अपनी सभी सीमाएं लाँघ गये थे। पूर्ववर्ती शासकों ने तो यदा-कदा बुद्धिमान और गुणी हिन्दुओं को प्रोत्साहन भी दिया, साहित्य और कला की उन्नति करने के लिए उन्हें प्रेरित किया तथा उन्हें धन और ऊँचे पद आदि भी प्रदान किये, किंतु औरंगज़ेब के शासनकाल में तो हिन्दू धर्म को विनष्ट करने के प्रयत्न ही लगातार चलते रहे। उसकी विभेदीकरण की नीति का मुख्य आधार धर्म था। अतः सभी हिन्दू उसकी कट्टरता के भाजक बने, चाहे वे कितने ही गुणवान व मेधावी क्यों न हों। अकबर ने जज़िया कर को बंद करके (१५६४ ई.) अपनी अधिकांश प्रजा पर से एक राजनीतिक असमानता एवं अधोगति के इस द्वेषपूर्ण कलंक को हटा दिया था, किन्तु औरंगज़ेब ने अनुदार नीति का आश्रय लिया और २ अप्रैल १६७९ ई. को एक शाही हुक्म जारी करके साम्राज्य के सब भागों में प्रत्येक गैर-मुस्लिम के लिए कर के रूप में राज्य को कुछ धन (जज़िया) देना अनिवार्य कर दिया। इससे बड़ी रकम तो वसूल होने लगी किंतु इसका मुख्य उद्देश्य हिन्दुओं को परेशान कर। उन्हें मुसलमान बना लेना था। दिल्ली और आसपास के प्रदेशों के हिन्दुओं ने एकत्रित होकर औरंगज़ेब से इस कर को हटा लेने के लिए बड़ी करुण प्रार्थना की। परन्तु बादशाह ने यह सब अनसुनी कर दी। इसी समय शिवाजी ने भी तर्क युक्त विचारपूर्ण संयत शब्दों में एक पत्र लिखकर नए कर की इस अनीति को दूर करने के लिए औरंगज़ेब से प्रार्थना की। मानव मात्र के लिए ईश्वर एक ही है और उस ईश्वर का सच्चा विश्वास करनेवाले सारे धर्म ईश्वर

---

३. Encylyopaedia of Islam, I, P. 959.

४. Yadunath Sarkar, History of Aurangzeb, Part III, P.249-50

५. Encylyopaedia of Islam, 1, P. 958

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के लिए समान ही हैं—उस महान सत्य की ओर ध्यान देने के लिए भी शिवाजी ने अपने इस पत्र में विशेष आग्रह किया था, परन्तु शिवाजी के इस पत्र की ओर औरंगज़ेब ने कोई ध्यान नहीं दिया, बल्कि उसकी कट्टर नीतियाँ दिनोंदिन बढ़ती गईं।[६]

बड़े-बड़े राजाओं को राज्य सौंपे जाने के अवसर पर बादशाह द्वारा स्वयं उन्हें तिलक या टीका किया करता था। हिन्दू प्रथा होने के कारण इसे भी १६७९ ई. में बंद कर दिया गया। राज्य ज्योतिषियों और खगोल पंडितों को भी पदच्युत कर दिया गया। कट्टर इस्लाम की पुनर्स्थापना के प्रयासों एवं हिन्दुओं के प्रति उसकी घृणा के भाव ने हिन्दुओं को भी उससे दूर ही रखा। परिणामस्वरूप वह हिन्दुओं की एक निष्ठता को जीतने में भी असमर्थ रहा।[७] अवस्था बढ़ने के साथ-साथ उसकी धर्मान्धता एवं कट्टरता में और भी वृद्धि होती गई, जिसके कारण हिन्दुओं में उसके प्रति प्रतिरोध की भावना का पनपना स्वाभाविक था, भले ही वे उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति में समर्थ थे। लोगों की धार्मिक-नैतिक आस्थाओं में हस्तक्षेप, उनकी धार्मिक, सांस्कृतिक एवं वैचारिक स्वतंत्रता को सदा-सदा के लिए मिटा देने के लिए निरंतर किए जाने वाले उसके प्रयत्न इस बात का प्रमाण हैं कि औरंगज़ेब ने हिन्दुओं पर अत्याचार करने का कोई अवसर हाथ से जाने नहीं दिया। कार्ल मार्क्स ने एक स्थान पर लिखा भी है कि अपने खुदगर्ज़ स्वभाव के बावजूद वह मराठों के साथ शुरू से ही एक गधे की तरह तथा बाद में (१६८० ई.) एक बैल की तरह व्यवहार करता था।[८] यह भी सर्वविदित है कि सन् १६७० ई. में जब छत्रपति शिवाजी ने महावत खाँ की मुगल फौजों को बुरी तरह पराजित किया था, तब से औरंगज़ेब अपना संतुलन खो बैठा था और साधारण जनता, सूफ़ियों तथा गुरुओं पर भी अत्याचार करने लगा था।[९] प्रसिद्ध सूफ़ी फ़कीर सरमद को दिया गया प्राणदंड तथा हुसैन मलिक को पैगम्बर के साथियों के प्रति अनादर सूचक शब्द प्रयोग करने के अपराध में दिया गया मृत्यु दंड इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

चूँकि शासन का समर्थन उन कट्टरपंथियों को ही प्राप्त था, जो संतों और सूफ़ियों से चिढ़ते थे तथा काज़ियों और मौलवियों से प्रभावित थे, इसलिए सूफ़ी संतों से प्रभावित ऐसे उदारपंथी मुस्लिम मतावलंबी भी हिन्दुओं के लिए कुछ कर पाने में असमर्थ थे, जिनके हिन्दुओं से अच्छे संबंध थे। कट्टरपंथी और उदारपंथी मतावलंबियों का यह संघर्ष उस समय के राजनीतिक संघर्ष का ही प्रतिबिम्ब है, जिसके एक ओर औरंगज़ेब था तो दूसरी ओर दाराशिकोह। दाराशिकोह के वध के साथ ही जैसे देश की सांस्कृतिक एकता भी दफ़न हो गयी थी। रामधारी सिंह दिनकर ने एक स्थल पर लिखा है—"जिस दिन दाराशिकोह मारा गया और औरंगज़ेब गद्दीनशीन हुआ, सामाजिक संस्कृति का कलेजा, असल में उसी रोज फटा और तब से यद्यपि हम इस फटन को बार-बार सीने

---

६. यदुनाथ सरकार, औरंगज़ेब पृ. १५३
७. Encyclopedia of Islam, I. P. 959
८. Karl Marx, Notes on Indian History, Moscow P. 51, 53.
९. गुरु प्रताप सूरज, १२/२८, अंक १-३

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

की कोशिश करते आ रहे हैं, किंतु वह ठीक से सिल नहीं पाती।"[१०] यह सच है कि औरंगज़ेब के गद्दीनशीन होते ही भारतीय संस्कृति की एकात्मकता के ह्रास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। मुस्लिम शासकों में से अकबर ने बलपूर्वक मुसलमान बनाने की नीति का विरोध भी किया था[११] किन्तु औरंगज़ेब के काल में ऐसी उदारता केवल कल्पना का विषय थी। गैर-मुस्लिम जातियों के प्रति जेहाद खड़ा कर अपने धर्म के काज़ियों तथा उलेमान को प्रसन्न करना उसने अपना ध्येय बना लिया था।

औरंगज़ेब ने हर क्षेत्र में हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए अलग-अलग कानून लागू किये। १० अप्रैल, १६६५ ई. को मुस्लिम सौदागरों की वस्तुओं की बिक्री के लिए २ प्रतिशत और हिन्दुओं की वस्तुओं की बिक्री के लिए ५ प्रतिशत चुंगीकर लागू कर दिया गया। ९ मई, १६६७ ई. को मुसलमान सौदागरों पर से यह कर उठा लिया गया। कर वसूल करने के लिए सभी मुसलमानों की ही नियुक्ति की जाए, ऐसी घोषणा की गई। सब शासकों और ताल्लुकेदारों को आज्ञा की गई कि वे अपने हिन्दू पेशकारों और दीवानों को निकालकर उनके स्थान पर मुसलमानों को नियुक्त करें। अनेक वंशक्रमानुगत पदों पर, जिन पर हिन्दू वंशों का अधिकार था, उनके मुख्य पुरुषों को उन पदों पर नियुक्ति की मनाही कर दी गई, जिन पर उनके पूर्व-पुरुष थे। यहाँ तक कि शाही हुक्म द्वारा राजदूतों के सिवाय दूसरे सारे हिन्दुओं को हाथी, घोड़े और पालकी पर चढ़ने तथा शस्त्रधारण करने की भी मनाही कर दी गई। इतना ही नहीं, १६६८ ई. में उसने तीर्थ स्थानों पर लगने वाले मेलों के आयोजन की भी निषेधाज्ञा लागू कर दी। दीवाली आदि त्यौहारों को भी बाजार से बाहर नियंत्रित रूप से मनाए जाने के आदेश जारी किये गये।[१२]

औरंगज़ेब की धर्मान्धता तब अपनी चरम सीमा पर पहुँचती हुई दिखाई देती है जब वह मुस्लिम राज्य की स्थापना के उद्देश्य से प्रेरित होकर हिन्दुओं को धर्म परिवर्तन के लिए भी प्रेरित करता दिखाई देता है। कहने का तात्पर्य यह कि धर्म का नाम ले-लेकर 'कुरान शरीफ़' की ही मान्यताओं के ठीक विपरीत धर्म प्रचार के लिए बल का प्रयोग किया जाने लगा। यद्यपि 'कुरान' ऐलान करता है कि धर्म में बल का प्रयोग नहीं होना चाहिए, विश्वास लाने के लिए कोई मज़बूर नहीं किया जा सकता। विश्वास केवल परमात्मा की प्रेरणा से हो सकता है, फिर भी इस्लाम के प्रसार में तलवार का ही हाथ रहा।[१३] मुस्लिम धर्म स्वीकार करने वालों को राजकीय संरक्षण एवं उच्चपद आदि प्रदान किया जाता।[१४] पालकी अथवा घोड़े पर बैठा कर उनका जुलूस निकाला जाता। जब ऐसे प्रलोभनों

---

१०. संस्कृति के चार अध्याय, पृ. ४०४
११. अकबरनामा, पृ. १५९
१२. A History of Aurangzeb, P. 147
१३. A Short History of India, P. .250
१४. पीतांबर दत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ. २

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के बावजूद अधिक संख्या में हिन्दुओं के मुसलमान बनने की दिशा में अधिक प्रगति होती दिखाई नहीं दी तब औरंगज़ेब ने दमन की नीति का आश्रय लिया। प्रारंभिक काल में तो उसने यह घोषणा की थी कि 'उसका धर्म नए मन्दिर बनाने की आज्ञा नहीं देता। साथ ही वह पुराने मंदिरों को नष्ट करने की आज्ञा भी नहीं देता', किंतु कालांतर में उसने पुराने मंदिरों की मरम्मत करवाना तो बन्द कर ही दिया। मंदिरों को मस्ज़िदों में बदलना भी शुरू कर दिया। सन् १६४४ ई. में जब वह गुजरात का सूबेदार था, उसने अहमदाबाद में तत्काल ही बने हुए चिन्तामणि के मंदिर में गोवध करवा कर उसे भ्रष्ट कर दिया और बाद में उसे मस्जिद में बदल दिया। नवम्बर १६६४ ई. में उसने गुजरात के अनेक मंदिरों को गिरवाया। अप्रैल सन् १६६९ ई. को उसने एक घोषणापत्र जारी कर कटक से लेकर मेदिनीपुर तक उड़ीसा के सभी मंदिरों को गिरवा देने तथा उनकी धार्मिक प्रथाओं को दबाने और सामूहिक आचरण बन्द कर देने आज्ञा दी। वाराणसी के विश्वनाथ मंदिर को अगस्त १६६९ ई. में गिरा दिया गया और इसके स्थान पर मस्ज़िद बना दी गई।[१५] उसी वर्ष वहाँ के गोपीनाथ मंदिर को भी ध्वस्त किया गया।[१६] जनवरी १६७० ई. के रमज़ान मास में मथुरा के केशवराय का प्रसिद्ध मंदिर भी गिरा दिया गया, जिसे वीरसिंह बुन्देला ने ३३ लाख रुपये की लागत से बनवाया था। उसके स्थान पर एक भव्य मस्ज़िद बना दी गई।[१७] मालवा, उड़ीसा, खण्डेला, जोधपुर, उदयपुर, अम्बर, उज्जैन, गोलकुंडा, हैदराबाद, महाराष्ट्र आदि के मंदिरों को भी धूलिसात् कर दिया गया। साम्राज्य के सारे सूबों, परगनों, शहरों और महत्त्वपूर्ण स्थानों में जनता के सदाचार की देख-रेख करने के लिए मुहतसिब नियुक्त किए गये, जिनका एक प्रधान कर्तव्य यह भी होता था कि वे हिन्दुओं के तीर्थों और मन्दिरों को ध्वस्त कर उन्हें तहस-नहस कर दें। यह क्रम चलता रहा, जून १६८० में आम्बेर के स्वामिभक्त राजा की राजधानी के भी सारे मंदिर तुड़वा डाले गये। आम्बेर से दक्षिण की यात्रा के दौरान औरंगज़ेब ने मार्ग में पड़ने वाले सारे मन्दिरों को नष्ट करने की आज्ञा दी। गुजरात में हिन्दुओं को धर्मार्थ वजीफ़े के रूप में जो भी ज़मीनें दी गई थीं, वे सब सन् १६७४ ई. में ज़ब्त कर ली गईं।[१८]

औरंगज़ेब के उपर्युक्त फरमानों के फलस्वरूप ब्राह्मणों को उत्पीड़ित करके उनके धार्मिक चिह्नों एवं प्रतीकों को मिटा कर हिन्दू धर्म को समाप्त करने के उद्देश्य से बनारस, हरिद्वार, कुरुक्षेत्र, कश्मीर आदि स्थानों के ब्राह्मणों पर घोर अत्याचार किये गये। ऐसे अनेक अत्याचारों से पंजाब और कश्मीर में हाहाकार मच गया।[१९] जनता में भीतर ही भीतर औरंगजेब के अनीतिपूर्ण आचरण के विरुद्ध

---

१५. मासर-ए-आलमगीरी, पृ. ८८
१६. वही
१७. वही
१८. औरंगज़ेब, पृ. १५१
१९. श्रीराम शर्मा, मुगल शासकों की धार्मिक नीति, पृ. १९०-९६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

प्रतिरोध कीअग्नि तो सुलगती रही किन्तु उसकी अभिव्यक्ति के साधनों का अभाव उसे कुंठित कर देता था।

बीच-बीच में प्रतिरोध के ऐसे छिटपुट प्रयास अवश्य सामने आते हैं, किन्तु उतनी ही तीव्रता से उन्हें मुगलों द्वारा कुचल दिये जाने के प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। १६६९ ई. में मथुरा के एक जमींदार गोकुल के नेतृत्व में उस प्रदेश के जाटों द्वारा उस मुगल फ़ौजदार और उसके सिपाहियों को मार गिराना जिन्होंने मथुरा के मंदिर तोड़े थे, जनवरी १६७१ ई. में छत्रसाल के नेतृत्व में बुदेलखंड में औरंगज़ेब के विरुद्ध किया गया युद्ध, मार्च १६७२ ई. में दिल्ली के निकट नारनौल नामक स्थान पर सतनाम संप्रदाय के अनुयायियों द्वारा मुगल शासन के विरुद्ध किया गया विद्रोह, १६७९ ई. में राजस्थान में वीर दुर्गाराज और महाराजा राजसिंह द्वारा मुगल सेनाओं के विरुद्ध किए गये वीरतापूर्ण संघर्ष तथा १६८६ ई में पुनः राजाराम के नेतृत्व में दूसरा जाट-विद्रोह ऐसे ही उदाहरण हैं, जो शासकीय अत्याचार के खिलाफ़ हिन्दुओं द्वारा आवाज बुलंद करने के प्रयास कहे जा सकते हैं।

दक्षिण में छत्रपति शिवाजी ने अपने मराठा सैनिकों को साथ लेकर लगातार औरंगज़ेब की नाक में दम कर रखा था। यों मुगलों के साथ उनका प्रथम युद्ध सन १६५७ ई. में ही हो चुका था, १६६३ ई. में पूना में उन्होंने शायस्ता खां पर आक्रमण किया और १६६४ ई. में तो उनके सूरत नगर को लूट कर अपार धन संपत्ति प्राप्त करने से औरंगज़ेब बौखला गया। मई १६६६ ई. में जब औरंगज़ेब ने छल-फरेब से उन्हें आगरा बुलाकर कैद कर लिया, तब शिवाजी अगस्त १६६६ ई. में स्वयं अपने पुत्र सहित मिठाई की टोकरियों में छिपकर भाग निकले। औरंगज़ेब तिलमिला कर ही रह गया। १६६७ से १६६९ ई. तक मुगलों से हुई नई सन्धि के तहत शिवाजी अवश्य शांत रहे किन्तु १६६९ ई. में जब उनकी जागीर का कुछ भाग कुर्क कर लिया गया, तब वे पुनः बागी हो गये। अपने किलो को वापिस लेना, सूरत को दोबारा लूटना, साल्हेर के किले पर अधिकार करना, मुगल प्रदेशों पर दूर-दूर तक आक्रमण करना आदि उसी दौरान के प्रयास हैं। १६७३ ई. में उन्होंने पन्हाला, पार्ली और सतारा के किले जीत लिए। १६७४ ई. में रायगढ़ में उन्होंने स्वयं अत्यंत धूमधाम से अपना राज्याभिषेक किया। १६७७-७८ ई. में उन्होंने कर्नाटक, मैसूर के पूर्वी मध्य भाग आदि पर विजय प्राप्त की। मई १६८० ई. तक, जब तक वीर शिवाजी जीवित रहे, औरंगज़ेब के दिन का चैन, रातों की नींद हराम रही। निरंतर किये जाने वाले अपने आक्रमणों से हिन्दुओं में आत्मरक्षा एवं शत्रु को पराजित करने की सामर्थ्य का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते रहे। किन्तु शिवाजी द्वारा किये गये युद्ध सुदूर दक्षिण में होने के कारण उनके प्रभावस्वरूप उत्तर भारत में विद्रोह की भावना का उसी रूप में विकसित होना संभव न था, दूसरे पंजाब के निकटवर्ती स्थानों पर किए गये प्रतिरोध के प्रयासों में से अधिकांश को मुगलों द्वारा क्रूरता से कुचल दिया जाना भी जनता के लिए अत्याचार के विरुद्ध सिर उठाने की बात तक न सोचने की चेतावनी था।

इसके साथ ही पंजाब के हिन्दुओं की अवस्था पहले ही शोचनीय थी। भारत का यह प्रान्त अन्य सभी प्रान्तों के पहले ही पराजित हो चुका था। मुसलमानों की दो प्रबल राजधानियों अर्थात् दिल्ली और काबुल के बीच में स्थित होने के कारण मुस्लिम राज्य यहाँ अत्यंत दृढ़तापूर्वक जमा हुआ था। मुस्लिम धर्म को अपनाने की धारा भी यहाँ अत्यंत वेग से प्रवाहित हो रही थी। यहाँ हिन्दू गौरव के सभी चिह्न मिटा दिये गये थे, हिन्दू मंदिरों को गिरा दिया गया था। हिन्दू विद्यालयों के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्थान पर मस्ज़िदें खड़ी कर दी गई थीं। जो लोग धर्म-परिवर्तन से किसी प्रकार बच गये थे, उनसे भी प्रायः वे समस्त पदार्थ छीने जा चुके थे, जोकि मनुष्य जीवन के मान तथा गौरव को बनाये रखते हैं और वास्तविक धर्म को अंधविश्वास तथा पाखंड से पृथक् करते हैं। इतिहास की ओर नज़र दौड़ाई जाये तो मालूम होता है कि पंजाब के अंतिम हिन्दू सम्राट, राजा अनंगपाल के परास्त होने के समय से गुरु नानक के आगमन तक साढ़े चार शताब्दियों तक पंजाब के शासकों में किसी भी हिन्दू का नाम नहीं आता।[२०]

औरंगज़ेब की उपर्युक्त कट्टर सांप्रदायिक नीतियों से उत्साहित मुगल सैनिकों ने भी मज़हबी जोश में हिन्दुओं को असह्य यातना देना प्रारम्भ कर दिया। उनके यज्ञोपवीत उतरवाकर उन्हें जबरन मुसलमान बनाया जाने लगा।[२१] हिन्दुओं को काफ़िर मान कर उनकी धन-सामग्री पर इस्लाम का अधिकार मानना, उच्च पदों पर अधीनस्थ हिन्दुओं को अपदस्थ करना, असंख्य स्त्री-पुरुषों को मौत के घाट उतार देना, धनाढ्य हिन्दू परिवारों को लूटना, स्त्रियों को अपमानित करना आदि उनकी दिनचर्या में शामिल हो गया। हिन्दू पुरुषों को गुलाम बना लिया जाता, स्त्रियों को सतीत्व की रक्षा के लिए अग्नि समाधि लेनी पड़ती। सुन्दर हिन्दू कन्याओं को जबरन मुसलमानों से विवाह करना पड़ता अथवा उनकी लौंडी बनकर जीने के लिए विवश होना पड़ता। किसी भी योग्य बुद्धिमान, कुशल हिन्दू कारीगर अथवा कलाकार को जबर्दस्ती मुसलमान बनाना अथवा उसकी हत्या कर देना मुगलों के बायें हाथ का खेल था। विद्रोह करने वाले गैर-मुस्लिम के लिए दो ही विकल्प बचते थे—मौत अथवा इस्लाम स्वीकार करना। स्पष्ट है कि इन परिस्थितियों में औसत हिन्दू धन, सामग्री, साधन आदि के अभाव में शासक के अत्याचार के विरुद्ध सिर उठाने की बात तक न सोच सकते थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि मुगल शासकों द्वारा दैनिक जीवन-व्यवहारों, धार्मिक आस्थाओं आदि में की जाने वाली दिन-प्रतिदिन की दखलअंदाज़ी के साथ-साथ वे आपसी फूट से भी अत्यंत दुर्बल हो चुके थे। इस कारण उनके पास विद्रोह तो क्या विरोध करने के लिए भी साहस न बचा था। इस सम्बन्ध में गोकुलचंद नारंग का कथन है—"हिन्दू चूँकि स्वभाव से अत्यधिक सौम्य थे और इच्छाओं की दृष्टि से अत्यधिक संतुष्ट थे, उनकी आकांक्षाएँ अत्यंत मर्यादित थीं। शारीरिक उद्यम में भी उनकी रुचि न थी। वे आतंक से पीड़ित और हतोत्साहित थे, किन्तु एक बात थी कि वे अपने धर्म के साथ मज़बूती से जुड़े हुए थे।"[२२] किंतु यह भी उतना ही सत्य है कि धर्म के साथ

---

२०. Transformation of Sikhism P. 19.

२१. तुरकन अधिक अनीति उठाई । हिन्दू कीय सबै तुरक बनाई. ।
इक दिवस ओहु ठौर मझारा । तग्ग सवा मन प्रकट उतारा ।
—भाई सुक्खा सिंह, गुरु विलास, ५/१०-११

२२. The Hindus were too mild by nature, too contented in their desires, too modest in their aspirations, too averse to physical exertion and terrorstricken and demoralised, even though strongly attached to their religion."
—Transformation of Sikhism, P. 78-9.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अत्यधिक संबद्धता के बावजूद उनकी उत्साहहीनता एवं शताब्दियों की परतंत्रता में निरंतर वृद्धि ही हुई थी। उसका भी मुख्य कारण धर्म ही था।

धर्म के नाम पर व्याप्त भेदभाव ने जनता की शक्ति को नष्ट ही किया था। व्यक्ति और समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने और उसके संस्कारों में उदारता लाने के स्थान पर धर्म उसे क्षीण बनाने तथा विकृत बाह्याचारों से प्रदूषित वातावरण को और अधिक दूषित बनाने का कार्य अधिक कर रहा था। विभिन्न जातियों,उपजातियों,संप्रदायों आदि के आधार पर अलग-अलग समुदायों में बँटी हुई जनता अपने-अपने मत को सर्वश्रेष्ठ समझने तथा निरर्थक रीतियों, अनीतिमूलक अन्धविश्वासों आदि से आच्छादित होने के कारण परस्पर एक-दूसरे की पूजा-विधियों, उपासना-पद्धतियों,विश्वासों आदि के प्रति ईर्ष्या एवं वैमनस्य के भावों से युक्त थी। समुचित ज्ञान के अभाव के कारण और पाखंडी पंडितों द्वारा दिखाये जाने वाले ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूपों में दृढ़ आस्था रखने के कारण उनमें परस्पर द्वेष भाव के कम होने की कोई गुंजायश न दिखाई देती थी। यहाँ तक कि एक ही परिवार के विभिन्न सदस्यों की धर्म विषयक आस्था में पर्याप्त भिन्नता दिखाई देती थी। सबसे बड़ी बात यह थी कि सभी संप्रदाय आपस में एक-दूसरे को नीचा दिखाने,उखाड़ने में जितने सक्रिय थे,शासक की नीतियों के प्रति वे उतने ही निष्क्रिय थे। शासक द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों से किसी भी संप्रदाय को कोई सरोकार न दिखाई देता था। वास्तव में जनता विभिन्न मत-मतांतरों में ही उलझी रही,और उस ने कब शासकों की धर्मान्धता के समक्ष आत्मसमर्पण करने को ही अपनी नियति मान लिया, इस बात का उसे पता ही नहीं चला। विल डूरूंट ने "अवर ओरियंटल हैरिटेज़" नामक पुस्तक में लिखा है— 'जात पांत के भेद से दुर्बल हो जाने के कारण ही हिन्दू जाति आक्रामकों के सामने विवश होती गई। आक्रामकों के प्रहार सहते-सहते इसकी अवरोध शक्ति का दिवाला निकल गया और जब आत्मरक्षा का कोई उपाय नहीं रहा, तब हिन्दू लोग अलौकिक बातों में अपना त्राण खोजने लगे। अपने आप को दिलासा देने के लिए उन्होंने इस दलील का आश्रय लिया कि स्वाधीनता हो या पराधीनता,दोनों ही माया की वस्तु हैं। जीवन क्षणभंगुर है, अतएव व्यक्ति या समाज की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना कदाचित् ही आवश्यक कार्य हो। हिन्दू जाति के क्लेशपूर्ण भीषण इतिहास में से जो शिक्षा निकलती है,वह यह है कि निरंतर सावधानी बरते बिना सभ्यता की रक्षा नहीं की जा सकती। जातियों में शक्ति के लिए प्रेम होना ठीक है,किन्तु उन्हें अपने बारूद को गीला नहीं होने देना चाहिए।"

यह सच है कि उस समय तक हिन्दुओं के स्वाभिमान की आँच इस सीमा तक ठंडी हो चुकी थी कि ऐसा प्रतीत होता था जैसे स्वयं उष्णता के उद्‌गम स्रोत से भी उसे ऊष्मा प्राप्त होना कठिन है। आत्मगौरव शून्यता की यह धारा सामान्य जनता में ही प्रवाहित हो रही हो,ऐसा नहीं था,राजपूत राजा भी आकंठ इसी में डूबे हुए थे। उन्होंने भी औरंगज़ेब की चापलूसी कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने की चिन्ता की तथा जनता के प्रति कोई सरोकार महसूस नहीं किया। मिर्ज़ा राजा जयसिंह, राजा जसवंतसिंह राठौर आदि हिन्दू और राजपूत सरदार भी,जो मुगल साम्राज्य में उच्च पदों पर आसीन थे,ने हिन्दुओं के साथ होने वाले भेदभाव पर कभी आपत्ति नहीं की। केवल अपने पद और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सुविधाओं की चिन्ता ही उनके जीवन का उद्देश्य रहा। इस संबंध में कतिपय इतिहासकारों का यह मत उचित जान पड़ता है कि औरंगज़ेब की दमनपूर्ण कट्टर नीति के उत्तरदायी उस समय के हिन्दू ही थे, क्योंकि वे उस समय तक सर्वथा निर्बल, निराश एवं भाग्यवादी बन चुके थे। यदि औरंगज़ेब को अपनी भेदभाव की नीति के विरुद्ध किसी का सामना करना पड़ा होता तो संभवतः वह कुछ सोचने के लिए विवश होता और एक सीमा पर रुक जाता।[२३]

इसमें संदेह नहीं कि यदि राजपूत राजाओं ने अपने उत्तरदायित्व को समझा होता तो देश की दुर्दशा अपने चरम पर न जा पहुँचती। किन्तु उनके हृदय परस्पर ईर्ष्या, द्वेष एवं प्रतिस्पर्धा के भावों से पूरित थे। उनमें राजनीतिक चेतना शून्य के बराबर थी, जो परिस्थितियों को और अधिक विकट बनाने में सहायक सिद्ध हो रही थी। उन्हें अपने-अपने वंश की प्रतिष्ठा की चिन्ता अधिक थी, राष्ट्रीयता की भावना अथवा जनहित से कोई सरोकार न था। मुगलों को प्रसन्न करने के लिए वे हिन्दू जागरण के लिए किए जाने वाले अत्यल्प प्रयासों को भी विफल करने की ताक में लगे रहते थे। बुंदेलखंड के कई राजाओं द्वारा मुगलों का साथ देकर महाराजा छत्रसाल से किये जाने वाले युद्ध इसके प्रमाण हैं ही, अन्य अनेक उदाहरण भी उद्धृत किए जा सकते हैं। अपने-अपने मिथ्यां अहंकार में डूबे ऐसे राजपूतों से जनता के दुख-दर्द को समझने अथवा उसकी चिन्ता करने की अपेक्षा भला कैसे की जा सकती थी। जनता के समक्ष सत्ताधारी वर्ग की शक्ति एवं सामर्थ्य के दुरुपयोग और उसके अनीतिपूर्ण आचरण की पराकाष्ठा को चुपचाप सहने के अतिरिक्त और कौन सा उपाय शेष हो सकता था?

दूसरी ओर अभिजात वर्ग, जिसमें शासक वर्ग का विरोध करने की सामर्थ्य अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक थी, भी अपने उत्तरदायित्व के प्रति सचेत न था। वह भी भोग-विलास में डूबा हुआ था। सुरा-सुन्दरी की आराधना वहाँ चरम तक पहुँची हुई थी तथा धर्म, नैतिकता, मूल्य आदि शब्दों को निरर्थक समझकर रास-रंग, क्रीड़ा-विलास में ही जीवन का अर्थ तलाशा जा रहा था। बहु-पत्नी-प्रथा के कारण पति-प्रेम से वंचित पत्नियाँ जहँ विवाहेतर संबंधों में रुचि लेती थीं, वहीं बेगमों और रक्षिताओं की अगणित संख्या के बावजूद, अभिजात वर्ग के पुरुष वेश्याओं से अपना मनोरंजन करते थे। विलास में डूबी माताओं अथवा व्याभिचाररत पिताओं से संतान की शिक्षा एवं उचित पालन-पोषण की आशा करना व्यर्थ था। बाल्यकाल से ही शिक्षकों द्वारा जिसे काम-कला की शिक्षा दी गई हो, अथवा किशोरावस्था में प्रवेश करने से पूर्व ही जिसने नौकर-नौकरानियों के साथ प्रेम-क्रीड़ा करना सीखा हो, उस पीढ़ी से भविष्य में सुधार की आशा लगाये बैठना व्यर्थ था।

शासक, दरबारियों और राजकर्मचारियों के भोगविलास में डूबे रहने के कारण निम्न और मध्यवर्गीय जनता की संपूर्ण शक्ति एवं समय का अपव्यय उनके लिए विलास की सामग्री जुटाने में हो जाता था। रोज़ी-रोटी की समस्या से लगातार जूझते इस वर्ग से राजनीतिक उथल-पुथल से

---

२३. U.N. Day, Some Aspects of Medieval Indian History, P. 203

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सरोकार रखने की आशा करना भी गलत था। अत्यधिक परिश्रम के बाद भी इन्हें अपनी जीविका के निर्वाह के लिए पर्याप्त धन अथवा सुविधाएँ प्राप्त न थीं। श्रमजीवी और कृषक वर्ग अतिवृष्टि, अनावृष्टि जैसे प्रकोपों का सामना भी बिना राजकीय सहायता के स्वयं ही करता था। उस पर वह देश में विभिन्न स्थानों पर होने वाले सेनाओं के प्रयाणों और हलचल को भी झेलने के लिए मजबूर था। राजनीतिक कामों पर जाते हुए राजदूत भी रास्ते में पड़ने वाले गाँवों को लूटते एवं उजाड़ते जाते थे। जनता को वह सब भी सहना पड़ता था। शासन के निरंतर बने रहने वाले आतंक और हितैषियों के संरक्षण के अभाव ने उनकी प्रतिरोध की बची-खुची सामर्थ्य भी समाप्त कर दी थी। औरंगज़ेब का ज्यादा समय और शक्ति तो उपद्रवों का दमन करने में ही व्यर्थ हो जाती था, अतः शासन को सुदृढ़ एवं सशक्त बनाने तथा मध्यवर्गीय जनता की सुविधाओं और अधिकारों की ओर ध्यान देने का न उसके पास समय था, न उसकी मनोवृत्ति ही ऐसी थी। लगातार चलने वाले युद्धों और संघर्ष ने धीरे-धीरे राजकोष को भी खाली कर दिया था। औरंगज़ेब को अपनी नीतियों एवं अपनी अविश्वासी प्रवृत्ति के चलते अपने अधीनस्थों का पूरा सहयोग न मिल पाया था, अतः सहयोग के अभाव में इतने बड़े साम्राज्य की शासन व्यवस्था का सुचारु रूप से चलना वैसे भी असंभव था। जनता पहले ही करों के बोझ से दबी हुई थी। भ्रष्टाचार का यह आलम था कि जागीरदारों के अनेक प्रतिस्पर्धी कर्मचारी अपने राज्यकाल की अवधि में राजकीय करों की वसूली के माध्यम से अधिक से अधिक धन इकट्ठा कर लेने की लालसा में कृषकों का शोषण किया करते थे।

बुद्धिजीवी वर्ग, जिस पर समाज को उचित दिशा दिखाने का उत्तरदायित्व समझा जाता था, भी इसके गर्त में पूरी तरह डूब चुका था। नरेशों और नवाबों की कुत्सित अभिरुचियों की पूर्ति के लिए शृंगारपरक कविताएँ लिखकर वह अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ रहा था। युग के बारे में सोचने की उसे न आवश्यकता थी, न उसके पास इसकी फुर्सत ही थी। चूँकि उसकी आत्मसंतुष्टि एवं भौतिक लालासाओं की तृप्ति शासकों के मनोनुकूल काव्य रचना से हो जाती थी, वह कल्पनालोक में उड़ान भरते हुए ऐसे काव्य की रचना करता, जिसका उद्देश्य प्रशंसा एवं पारितोषिक प्राप्त करना ही होता। भले ही उन कविताओं का उदात्त भावों एवं जीवन के उच्च मूल्यों से दूर तक कोई सरोकार न हो। हाँ, अपनी सामर्थ्य का प्रदर्शन करने के लिए ये कवि अपनी कविताओं में काव्यशास्त्रीय नियमों का ज्ञान भर अवश्य करा दिया करते थे। दूसरी ओर शास्त्र के कृत्रिम विधान एवं काव्य-रूढ़ियों का विरोध करने वाले स्वतंत्र प्रकृति के कवियों ने अगर अन्तःप्रेरणा से युक्त कविताओं की रचना की भी तो उनके काव्य का विषय प्रेम अथवा शृंगार तक ही सीमित रहा। निराशा को आशा में परिवर्तित करने के लिए जिस कर्मठता, उत्तरदायित्त्व चेतना एवं परिश्रम के भाव को जागृत करने की आवश्यकता थी, उसकी ओर भूषण और लाल प्रभृति कवियों के अतिरिक्त अन्य किसी कवि का ध्यान नहीं गया। भूषण के 'शिवराज भूषण', 'शिवा बावनी', सूदन के 'सुजान चरित्र' लाल के 'छत्र प्रकाश' आदि वीर-रस संबंधी कतिपय ग्रंथों के अतिरिक्त वीर-काव्य का सृजन व्यापार, परिमाण एवं गुण—दोनों दृष्टियों से सीमित ही रहा। तद्युगीन अन्य कवियों की शृंगारेतर विषयों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पर आधारित छोटी अथवा बड़ी कविताओं में जीवन के भव्य मूल्यों की खोज करना मात्र एक स्वप्न बन कर रह गया ।

भक्ति के विभिन्न संप्रदाय भी युगीन परिस्थितियों के प्रभाव से अछूते न रह पाये थे । एक ओर संतों के निवृत्तिमूलक आदर्श जनता में किंकर्तव्यविमूढ़ता की भावना का संचार कर उन्हें नियतिवादी एवं अकर्मण्य बना रहे थे । दूसरी ओर सगुण भक्ति के विभिन्न संप्रदाय रसिकता में निमग्न हो चुके थे । शासक वर्ग की धार्मिक नीति के प्रति उदासीन ये संप्रदाय भक्ति के स्थान पर कामलोलुपता की भावना उत्पन्न कर रहे थे । मंदिरों में ऐश्वर्य और विलास की लीला होने लगी थी । राधा-कृष्ण की भक्ति में पहले ही ऐन्द्रियता एवं लोलुपता की भावनाएँ आ चुकी थीं। भाव से ओतप्रोत थी कृष्ण-भक्ति-परक काव्य की रचना तो पहले ही माधुर्य भाव से ओम-प्रोत थी,अब लोकरक्षक मर्यादा पुरुषोत्तम राम की भक्ति में भी पौरुष के स्थान पर स्त्रैण भावना ने प्रवेश कर लिया । नवल सिंह, भगवंत राय खींची, रामप्रियाशरण आदि कवि ऐसे ही रामकाव्य की रचना में लगे हुए थे । अन्य संप्रदाय भी रसिकता में निमग्न हो चुके थे । यहाँ तक कि सूफियों के अनेक संप्रदायों पर भी युगीन परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता था ।

कहने का तात्पर्य यह कि मूल्यहीनता की जिस प्रक्रिया की शुरुआत राजघराने से हुई थी,उसने धीरे-धीरे उच्चवर्ग और मध्यवर्ग को भी अपनी लपेट में ले लिया । सामान्य जनता तो भेदभाव से पीड़ित एवं प्रतिरोध क्षमता से हीन होने के कारण शोषित एवं अपमानित जीवन व्यतीत कर ही रही थी । राजनीतिक चेतना शून्य राजपूत राजा, उत्तरदायित्वहीन साहित्यकार तथा अश्लीलता में डूबे भक्तिपरक संप्रदाय भी शासन की ओर एक ऐसी निष्क्रिय तटस्थता की मुद्रा अपनाये हुए थे,जिसके चलते औरंगज़ेब की सांप्रदायिकता पर आधारित कुत्सित नीतियों को खुलकर खेलने का भरपूर मौका मिल गया । उसने भारतीय संस्कृति की एकात्मकता को पूरी तरह से छिन्न-भिन्न करने के लिए कोई कसर नहीं उठा रखी । हिन्दुओं की संस्कृति को नष्ट करना और उन पर जबरन इस्लाम लादना ही उसके जीवन का उद्देश्य बन गया ।

ज़ोर-जबर्दस्ती के इस माहौल में निम्न जातियों के लोगों ने तो अपनी परतंत्रता तथा हिन्दू धर्म के भेदभाव ऊँच-नीच आदि से छुटकारा पाने के लिए विजयी शासक वर्ग के धर्म को अपनाना प्रारम्भ कर ही दिया था, औरंगज़ेब उच्च जातियों को भी बलात् मुसलमान बनाने का इच्छुक था । इसी कारण उसने धर्म परिवर्तन का विशाल प्रयोग कश्मीर से शुरू किया, क्योंकि यदि शिक्षित कश्मीरी पंडित इस्लाम धर्म अपना लेते तो शेष देश के लोग स्वतः ही उनका अनुसरण करते । दूसरा कारण यह भी था कि काबुल और पेशावर के इस्लामी क्षेत्र कश्मीर के निकट थे और औरंगज़ेब का विचार था कि यदि कश्मीर निवासियों ने इस्लाम धर्म स्वीकार करने में आपत्ति की तो मुसलमान उनके खिलाफ ज़ेहाद करेंगे और अफ़गानों के विद्रोह का रुख इस तरफ पलट जायेगा । इस कारण औरंगज़ेब द्वारा सभी प्रांतीय शासकों के नाम जारी किये गये । उस फ़रमान का कश्मीर में भीषण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

प्रयोग किया गया, जिसमें काफ़िरों के विद्यालय एवं मन्दिर नष्ट करने तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा और धर्माचार को मिट्टी में मिला देने का आदेश दिया गया था। कश्मीर के शासक शेर अफ़गान खाँ ने शाही फ़रमान की तामील करते हुए हिन्दुओं के धर्म-परिवर्तन के चक्र को और तेज़ किया। जिन्होंने भी इस आदेश की अवहेलना की, उन्हें कत्ल कर दिया गया।

शासक का उपर्युक्त आदेश लागू करते हुए कश्मीर के गवर्नर इफ़्ख़ार खाँ ने ब्राह्मणों को बुरी तरह प्रताड़ित किया। स्थिति इतनी अधिक बिगड़ गई कि कश्मीरी पंडितों ने छह मास की मोहलत माँगी। गवर्नर इफ़्तखार द्वारा प्रताड़ित कश्मीरी ब्राह्मणों को अपना धर्म बचाने के लिए आनंदपुर में आशा की किरण दिखाई दी। उनके एक दल ने आनंदपुर पहुँचकर गुरु तेग बहादुर को औरंगज़ेब का वृत्तांत सुनाकर उनसे अपने धर्म रक्षा की अभ्यर्थना की। लाखों लोगों की वैचारिक, धार्मिक स्वतंत्रता के लिए दिए गये गुरु तेग बहादुर के बलिदान ने सदियों से प्रसुप्त जनता में स्वत्व की चेतना जागृत की।[२४] इस अभूतपूर्व घटना ही भारतवर्ष के इतिहास को नई दिशा प्रदान की। औरंगज़ेब की विजय डूबते सूर्य की अन्तिम लपट थी जबकि, गुरु तेग बहादुर की पराजय एक नवीन भविष्य की जीवनदायिनी भोर के पूर्व का क्षणिक अंधेरा था।[२५]

नौ वर्षीय बालक गोबिन्द पर पूज्य पिता के बलिदान का जो प्रभाव पड़ा, वह इससे पूर्व प्राप्त किये गये संस्कारों, नानाविध ज्ञानादि के प्रभाव से अधिक सशक्त था, जिसकी चर्चा 'सवा लाख से एक लड़ाऊँ' शीर्षक अध्याय में विस्तारपूर्वक की गई है। शोषित-अपमानित हिन्दुओं के प्रति करुणा एवं संवेदना की जिस अनुभूति के वशीभूत हो, उन्होंने पिता को बलिदान की ओर प्रेरित किया था, उनके बलिदान से भी उस समस्या को हल न होते देखकर, उन्हें यह एहसास हो गया था कि मानवता की मुक्ति के लिए उससे बड़ा कुछ करने की आवश्यकता है, एक महान आत्मा के बलिदान से जिस का श्रीगणेश मात्र हुआ है। किंतु समस्या यह थी कि उस बड़े कुछ का स्वरूप क्या हो तथा मौज़ूदा परिस्थितियों को उसकी प्राप्ति की दिशा में कैसे नियोजित किया जाये। विशृंखलता, विसंगति, भय एवं आतंक के माहौल में मानव मुक्ति की दिशा कैसे निर्धारित हो ? एक अरसे से जो समाज धर्मान्धता कुसंस्कारों एवं भेदभाव से ग्रस्त था, 'कोऊ नृप भये हमें का हानी' जिसकी रग-रग में समाया हुआ था, उसे एक मज़बूत संगठन में नियोजित करना और उसमें एकाधिकार एवं स्वातंत्र्य की चेतना उत्पन्न करना तथा उसे अत्याचार के विनाश के लिए संघर्ष की शिक्षा देना आसान काम न था। इतने

---

२४. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए इसी पुस्तक का अध्याय—'देखन आयो जगत तमासा' पृ. ९१-९४.

२५. Aurangzeb's Victory was but the false flicker before the sunset, while Guru Teg Bahadur's defeat was merely the moment of darkness before the life giving dawn of a new day.
Trilochan Singh "Divine Songs of Nirvana: Hymns of Guru Teg Bahadur", forward, Prof. K.R. Srinivasa Iyengar

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बड़े समाज के बुनियादी ढाँचे में बदलाव लाने के लिए जैसी सुनिश्चित, पूर्व निर्धारित योजनाबद्ध पद्धति की आवश्यकता हो सकती है, उसके लिए न तो बहुत अधिक समय था, न साधन अथवा सुविधाएँ ही। इसके लिए एक वीर के अडिग उत्साह, सैनिक के अनुशासित आचरण, नेता की संचालन क्षमता के साथ-साथ संत की निष्कलुषता, सहृदय की गुण ग्राहकता तथा कलाकार की संवेदनशीलता एवं सृजनशीलता से युक्त जिस संतुलित दृष्टि की आवश्यकता थी, वह किसी महामानव में ही हो सकती थी। अब देखना यह हैं कि नौ वर्षीय बाल गुरु इन प्रतिकूल परिस्थितियों में लगभग असंभव से प्रतीत होने वाले इस गुरु-गंभीर कार्य को किस प्रकार संपादित कर पाते हैं ?

■ ■ ■

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

देखन आयो जगत तमासा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मैं हौं परम पुरुख को दासा, देखन आयो जगत तमासा।
जो प्रभु जगति कहा सो कहिहौं, मृत्यु लोक ते मौन न रहिहौं।
अब जो जो मैं लखे तमासा, सो सो करी तुमै अरदासा।
जो प्रभु कृपा कटाछ दिखै है, सो तव दास उचारत जै है।

–गुरु गोबिन्द सिंह, विचित्र नाटक, 6/33, 14/2.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

देखन आयो जगत तमासा

भारतीय संस्कृति और समाज की निर्मिति में सन्त-महात्माओं और गुरुओं का महान महत्त्व है। अध्यात्म की प्राची पर उदित हुए अंशुमाली की तरह अपनी प्रभा को सर्वत्र प्रकीर्ण करने वाले दसवें गुरु, गुरु गोबिन्द सिंह का नाम सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित किया जाता रहेगा। अनेक विशिष्टताओं से विख्यात पटना शहर में संवत् १७२३ वि.(१६६६ ई.) में पौष मास की शुक्ल पक्ष की सप्तमी तिथि को [१] वे पिता गुरु तेग बहादुर तथा माता गूजरी के पुत्र के रूप में राष्ट्र और समाज को दिशा-दृष्टि देने के लिए अवतरित हुए। प्रभु ने स्वयं उन्हें अपना पुत्र बनाकर 'जगत् तमासा' देखने तथा सत्य मार्ग को प्रशस्त करने और अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करने के लिए इस सृष्टि में भेजा था।[२] प्रभु की इस आज्ञा का पालन उन्होंने अनेक कष्ट, विरोध और अवरोधों को अत्यंत दृढ़ता से सहन करके भी किया और इस प्रकार अपने वचन का भी निर्वाह किया[३] तथा सृष्टि में

---

१ (क) संवत् सत्रह सहस भनीजै। बीस तीन संग बरख गनीजै।
महि पोख सुन अधिक सुबीने। जगत प्रवेश कृपा निधि कीनै॥
—गुर विलास, पृ. ४६
(ख) पटना के गुरुद्वारे में स्मारक प्रस्तर पर अंकित
जिनै बेद पठ्यो सुवेदी कहाए।

२ मैं अपना सुत तोहि निवाजा, पंथ प्रचुर करबि कहु साजा।
जाहि तहां तै धरम चलाई, कुबुधि करन ते लोक हटाई।
मैं हों परम पुरुख को दासा, देखन आयो जगत तमासा।
जो प्रभु जगति कहा सो कहिहों, मृत्यु लोक ते मौन न रहिहौं।
—गुरु गोबिन्द सिंह, विचित्र नाटक, ५/२९, ४/३३

३ इह कारनि प्रभु मुहिं पठायों,
तब मैं जगत जनम धरि आयो।
जिमि तिन कही तिनै तिमि कहिहौं,
—विचित्र नाटक, ६/३१.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अपने जन्म के उद्देश्य को भी सार्थक किया। अन्य नौ गुरुओं के समान, गुरु गोबिन्द सिंह भी सूर्यवंशी भगवान रामचंद्र के वंश की शोभा को आगे बढ़ाने वाले बने। उनमें तेज, बल, पौरुष, करुणा, भक्ति और सामाजिक सरोकार के गुण वंशानुगत वैशिष्ट्य के अनुरूप प्रतिष्ठित हुए। शस्त्र और शास्त्र के सामंजस्य की ऐसी दिग्-दिगंत व्यापी कुशलता को धारण करने वाला प्रखर व्यक्तित्व संपन्न गुरु-योद्धा परशुराम के पश्चात् गुरु गोबिन्द सिंह को ही माना जा सकता है। हिन्दू समाज की स्वतंत्रता और अधिकार की रक्षा के लिए उन्होंने स्वयं आगे होकर समाज को संगठित किया। कुल मिलाकर वे भारत भू के वरेण्य सपूत और समाज के अविस्मरणीय गुरु के नाम से जाने जाते हैं।

बाल्यकाल से ही गोबिन्द का व्यक्तित्व किसी अलौकिक तेज से उद्भासित जान पड़ता था, जिससे कोई भी व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता था। उनके अद्भुत रूप सौंदर्य एवं अनुपम छवि से प्रभावित लोग उन्हें देवलोक का बालक मानते थे। अपनी चंचलता, चपलता, मधुरभाषिता और मीठी तुतली वाणी से वे अपरिचित का भी मन मोह लेते थे। बचपन में गंगा किनारे स्थित गोबिन्द घाट, जिसे चिमनी घाट भी कहते हैं तथा अमीर ज़मींदार फतेहचंद मैनी के निवास, मैनी संगत पर नित्य खेलता हुआ बालक गोबिन्द अनेक अतृप्त आत्माओं को तृप्त किया करता था। निःसंतान रानी मैनी रोज उन्हें खेलते हुए देखा करती थीं। एक दिन जब स्नेहवश उसने बालक गोबिन्द से कहा कि वह उन्हीं जैसा पुत्र चाहती हैं, तब उन्होंने रानी की गोद में बैठकर उसे प्यार से 'माँ' पुकारा। बालक गोबिन्द में ही रानी ने मानो ईश्वर के दर्शन पा लिए। उस ईश्वरीय अनुभूति के पश्चात् बालक और रानी में माँ-पुत्र का संबंध स्थापित हो गया। बालक गोबिन्द बाला प्रीतम बन गया। माँ के द्वारा गोबिन्द को खिलाया गया हलुआ और घुँघनी आज भी उसी तरह मैनी गुरुद्वारे में बच्चों को प्रसाद रूप में मिलता है।

जमींदार दंपती ही नहीं, जो भी बालक गोबिन्द के संपर्क में आता, उनकी मोहनी मूरत और चुंबकीय आकर्षण शक्ति से उनके वशीभूत होकर अपनी सुध-बुध भी खो बैठता। गंगा किनारे शिवदत्त नामक एक पंडित नित्य समाधि लगाकर ईश्वर का ध्यान करते थे। एक दिन विचारमग्न पंडित को बालक गोबिन्द दिखाई दिए। राम-भक्त पंडित शिवदत्त ने उस समय अपने जीवन की सार्थकता की अनुभूति की, जब उन्होंने गोबिन्द की चमकती आँखों में ऐसे प्रकाश पुंजों के दर्शन किये, जिन्होंने उनके हृदय को प्रदीप्त और मार्ग को प्रकाशित कर दिया। उन्हें वे आँखें ऐसे स्रोतों के समान प्रतीत हुईं, जिनसे जीवन की ऐसी धारा प्रवाहित हुई हो जो ज्ञान रूपी जल प्रदान करती हो तथा जिससे परमतत्त्व का ज्ञान तथा पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती हो।[४] कान से मुँह लगाकर 'ज्ञात' बोलते

---

४ "In the charming little face which met his eyes, he saw at once the glory of Sri Ram Chandra and the energy of Lord Krishna. The Bright round eyes quivering with child like mirth, appeared to the Pandit as two orbs shedding a light which illuminated his heart and lighted the way to his presence. They were founts from which flowed the life giving waters of knoweldge absolute and perfect realization"
—Prof. Kartar Singh, Life of Guru Gobind Singh, P. 20.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हुए चंचल बालक गोबिन्द के चेहरे पर ही भक्त को भगवान राम के प्रताप और भगवान कृष्ण के तेज के दर्शन हो गये ।

बाल्यकाल में दिखाई देने वाला यही अलौकिक तेज, बड़े होने पर पीड़ित-प्रताड़ित मानवता की मुक्ति के लिए अपूर्व प्रेरणास्रोत बन गया । शास्त्रों की यह उक्ति कि बाल्यकाल के संस्कारों के निर्माण की प्रक्रिया गर्भकाल से ही शुरू हो जाती हैं, तदुपरांत वातावरण एवं परिस्थितियाँ उसके व्यक्तित्व की निर्मिति में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं, गुरु गोबिन्द सिंह के जन्म एवं बचपन के संदर्भ में भी सर्वथा उचित प्रतीत होती है । पिता बालक गोबिन्द के जन्म के बाद करीब दो वर्ष आसाम रहने के बाद पटना लौटे थे । राजा राजाराम और चक्रध्वज के विवाद को सुलझाने के लिए वे आसाम जाते हुए गर्भवती पत्नी को कुछ शिष्यों सहित पटना छोड़ गये थे । उन्हें आसाम में ही पुत्र रत्न की प्राप्ति का समाचार प्राप्त हुआ था । पटना लौटने पर भी वे परिवार को वहीं रहने का निर्देश देकर पंजाब लौट गये थे । बालक गोबिन्द के बचपन के प्रारंभिक छह साल पटना में ही बीते । पिता के संग रहने का अवसर न मिलने पर भी इन वर्षों में गोबिन्द का रुझान वीरतापूर्ण खेलों की ओर अधिक रहा । पिता की निर्भय-निर्वैर दृष्टि भी बालक गोबिन्द के आचरण में सर्वत्र झलकती दिखाई देती ।

पैतृक संस्कारों की विरासत के साथ-साथ युगों-युगों से मानव की उन्नत भावनाओं द्वारा संचित उसकी संस्कृति, जिसमें वह पनपता है, भी उसके व्यक्तित्व की दिशा निर्धारित करती है । वह समाज, जो उसे निश्चित वातावरण में परवाण चढ़ाता है, वह परिवेश जो उसके जन्मगत मनोभौतिक संस्कारों को भी परिवर्तित करने की सामर्थ्य रखता है—सब उसके व्यक्तित्व के निर्माण में एक अहम भूमिका अदा करते हैं । परिवेश की लघुतम इकाई—परिवार और परिवार में भी माता का बालक के मनोभावों एवं आचार-विचार पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है । बालक गोबिन्द की माता गूजरी धर्मपरायण स्त्री थीं । वे 'रामायण' आदि धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त गुरुओं की वाणी का नित्य पारायण किया करती थीं । बालक गोबिन्द को वे महापुरुषों तथा वीरों की गाथाएँ सुनाया करतीं तथा सदा उन्हें धर्म एवं कर्तव्यपरायणता की ओर उन्मुख किया करतीं । माँ की धर्मपरायणता ने गोबिन्द को प्रभु-भक्ति में लीन सच्चे साधक का रूप दिया । कर्तव्यपरायणता के पाठ ने उन्हें मानवता को सुरक्षित रखने के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने की ओर प्रेरित किया । माँ के दृढ़ निश्चय एवं तपस्या से बालक गोबिन्द को ऐसे संस्कार प्राप्त हुए, कालांतर में जिसका प्रकटीकरण ऐसे बलिदानी पुरुष के रूप में हुआ, मानवता की रक्षा के लिए जिन्होंने अपना सर्वस्व बलिदान कर देने में भी संकोच नहीं किया ।

शैशवकाल से ही बालक गोबिन्द अपनी मृदुभाषिता एवं स्नेहशील व्यवहार से अपने संपर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अभिभूत कर देते थे, भले ही वह हिन्दू हो, मुस्लिम अथवा अन्य किसी धर्म को मानने वाला । उनके प्रशंसकों में हिन्दुओं के साथ-साथ अगणित मुस्लिमों का नाम भी लिया जाता है ।

बचपन में पटना में उनके अभिभावक सैयद भीखन, नवाब रहीम, नवाब करीम बख़्श आदि मुस्लिम थे । बालक ने अपने मृदु स्वभाव से उन्हें भी प्रभावित कर लिया था । नवाब के भाइयों द्वारा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दिये गये दो बाग और एक गाँव आज भी पटना के उस शिरोमणि गुरुद्वारे की संपत्ति हैं,[५] जहाँ गोबिन्द सिंह जी के बाल्यकाल से जुड़ी वस्तुएँ यथा—चक्र, तलवार, खड़ाऊँ वस्त्रआदि रखी हुई हैं। आनंदपुर जाते हुए मार्ग में जब गोबिन्द लखनौर शहर में रुके थे, वहाँ भी उन्होंने अपने गुणों द्वारा मुसलमानों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। इनमें पीर अलफ़दीन का नाम प्रमुख है।[६] पिता एवं पूर्व-गुरुओं से विरासत में पाए उदारतावादी संस्कार, बाल्यावस्था में परिपुष्ट होकर युवावस्था में विभिन्न धर्मों एवं जातियों के 'पंज प्यारों' से 'खालसा' की स्थापना में प्रतिफलित हुए दिखाई देते हैं। 'मानस की जात सबै एक पहिचानबो' का बीज उनके बाल्यकाल में ही खोजा जा सकता है, जिसके मूल में गुरु नानक द्वारा दिये मंत्र– 'न को बैरी न बेगाना' की विरासत निहित है।

इसी संदर्भ में ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि मुस्लिम अभिभावकों के बीच रहकर बालक गोबिन्द ने उनकी संस्कृति, रीति-रिवाजों आदि को बहुत नज़दीकी से समझा, जाना होगा। इसी कारण बड़े होने पर जब वे हिन्दू धर्म के पाखंडों की भर्त्सना करते हैं; तब मुस्लिमों के आडंबरपूर्ण जीवन की आलोचना करने से पीछे नहीं हटते। "**काहे कउ पूजत पाहन कउ कछु पाहन में परमेशर नाही**"[७] कहते हुए उतनी ही अधिकारपूर्ण वाणी में "**हाथ हिलाए सुरग न जाहू, जो मनु जीत सका नहीं काहू**",[८] पर भी उतना ही बल देते हैं। इसी प्रकार के अन्य अनेक कथन उनकी स्पष्टवादी एवं स्वस्थ आलोचक की दृष्टि की ओर तो संकेत करते ही हैं, दोनों धर्मों के उनके गहरे अध्ययन के भी परिचायक हैं, बचपन में पाये संस्कारों ने अवश्य ही जिसमें प्रमुख भूमिका अदा की होगी।

बचपन में पाई दृष्टि की उदारता ही आगे चलकर "**अलह अभेख ओई, कुरान ओ पुरान सोई**"[९] में विकसित होती दिखाई देती है। यहाँ एक और बात उल्लेखनीय है कि चूँकि मुस्लिम अभिभावकों का व्यवहार भी बालक गोबिन्द के प्रति स्नेह से परिपूर्ण था, इसलिए संभवतः उनसे प्राप्त स्नेह ने भी कालांतर में मुस्लिम शासकों एवं अधिकारियों की धर्मान्धता के विरुद्ध उत्पन्न विद्रोह के भाव को धर्म विशेष के प्रति सामान्यीकृत रूप ले लेने से रोकने में मदद की होगी। हमें यह स्पष्ट दिखाई देता है कि मुगल अत्याचारों के प्रति आक्रोश का भाव रखते हुए भी गोबिन्द सिंह जी के हृदय में उनके आचरण के प्रति उत्पन्न घृणा ने धर्म-विशेष के प्रति घृणा का रूप कभी नहीं लिया। यहाँ तक कि धर्म-परिवर्तन के मुद्दे को लेकर मुगलों द्वारा पिता का वध कर दिये जाने पर भी उनकी धर्म संबंधी स्वच्छ, निर्मल नीति असहिष्णुता अथवा अनुदारता से पंकिल नहीं हुई। वे समानता, स्वतंत्रता एवं सहिष्णुता पर आधारित समाज की निर्मिति की दिशा में अवश्य प्रयासरत रहे, किन्तु धर्म कभी इस दृष्टि का आधार नहीं बन सका। बाल्यकाल में संस्कारों में रच-बस गया औदार्य ही बड़े होने पर उनके मानवतावादी दृष्टिकोण के रूप में प्रकट होता दिखाई दिया।

---

५ प्रो. कर्त्तार सिंह, जीवन कथा गुरु गोबिन्द सिंह, पृ. ३५

६ वही, पृ. ४१

७ तैंतीस सवैये, २०.

८ वही, ६/५८.

९ अकाल उस्तत, ८६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बचपन से ही यह दिखाई देने लग गया था कि गोबिन्द साधारण बालक नहीं हैं। उनकी रुचियाँ, रुझान और प्रवृत्तियाँ कुछ ऐसा विशिष्ट रूप लिए हुए हैजो उन्हें छोटे-छोटे साधारण खेलों, खाने-पीने और आपसी लड़ाई-झगड़े में मस्त रहने वाले बालकों से अलग दर्शाती है। गुल्ली-डंडा, आँख-मिचौनी आदि के स्थान पर उन्हें शारीरिक व्यायाम और कुश्ती भाती थी। अपने मित्रों को भी वे कुश्ती के लिए प्रोत्साहित करते। मित्रों के दो दल बनाकर पक्ष और विपक्ष तय कर लिया जाता। वे स्वयं एक पक्ष के नायक बनकर युद्ध का अभ्यास करते। अनेक प्रकार के चक्रव्यूह की रचना उनसे बच निकलना आदि का अभ्यास चलता रहता।अदालत लगाकर संगी-साथियों की शिकायतें सुनना और नकली लड़ाई में सेनापति की भूमिका अदा करना, भाला चलाना आदि उनके प्रिय खेल थे। तीर और गुलेल का निशाना साधकर वे माता गूजरी के कुएँ पर पानी भरने आने वाली स्त्रियों के घड़े फोड़ा करते। कहने की आवश्यकता नहीं कि बड़े होने पर उनके व्यक्तित्व में दिखाई देने वाली सहानुभूति, नेतृत्व, विश्लेषण क्षमता एवं न्यायप्रियता आदि के बीज अनायास ही बचपन में खेले इन्हीं खेलों के दौरान अंकुरित हो गये थे, जो धीरे-धीरे पल्लवित होते रहे। कौन जानता था, बचपन में सैनिक वेशभूषा धारण कर के झूठे बाण, तोप, खड्ग आदि के द्वारा किया गया युद्धाभ्यास एवं नकली किलेबन्दी बड़े होने पर असली किलेबन्दी का रूप धारण कर लेगी और असली बाण, तोप तथा खड्ग आदि उनके ऐसे संगी-साथी बन जायेंगे कि जीवन-भर उन्हें आततायियों का उत्पात शांत करने के लिए इन्हीं का प्रयोग करना होगा। किसे पता था कि माता गूजरी के कुएँ पर पानी भरने आने वाली स्त्रियों के घड़े फोड़-फोड़कर किया गया बाणाभ्यास एवं लक्ष्य संधान आततायियों के शिरोच्छेदन में मदद देगा।

"**भै काहू को देत नाही, न भै मानत आनि**"[१०] का सूत्र पिता ने बालक गोबिन्द को घुट्टी में ही पिला दिया था। बाल्यकाल में ही उसके अंकुर उनमें पनपते दिखाई देते हैं। कहा जाता है कि एक दिन जब वे साथियों के साथ खेल रहे थे, पटना के नवाब की सवारी निकली। अरदलियों ने उन्हें उनके साथियों से नवाब साहब को सलाम करने के लिए कहा। झटपट बाल नेता आगे बढ़कर बोला—"नहीं भाई, सलाम नहीं करना, मुंह चिढ़ाना है।" सभी साथियों ने नेता की आज्ञा मानकर पंक्तिबद्ध होकर नवाब को मुँह चिढ़ाया और भाग खड़े हुए। बाल्यकाल की प्रस्तुत घटना कोई सामान्य घटना नहीं है। यह वह समय था जब प्रजा औरंगज़ेब के खौफ़ से सहमी हुई थी। शासनाधिकारियों के आतंक के कारण उसमें उनके समक्ष सिर उठाकर देखने तक की हिम्मत न थी। उनके हर हुक्म की तामील करना ही उसकी नियति बन चुकी थी। ऐसी स्थिति में बालक गोबिन्द के प्रस्तुत व्यवहार में ही कालान्तर में आततायी शासकों के खिलाफ़ खड़े किये जाने वाले जेहाद के बीज तलाशे जा सकते हैं। बालक मुँह उसी का चिढ़ाएगा, जिसे वह नापसंद करता हो, भले ही उसका कारण प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष। यहाँ कारण प्रत्यक्ष चाहे न रहा हो, किंतु गोबिन्द की नापसंदगी साफ़ दिखाई देती है। इस पर भी अहलकारों द्वारा आदेशात्मक ढंग से अकारण ही, नवाब

---

१० गुरु ग्रंथ साहब, सलोक, महला ९, २०.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

को सलाम करने के लिए कहना, स्वाभिमानी एवं निर्भय बालक को बर्दाश्त नहीं हुआ, खासतौर पर उनकी आवाज़ की सत्तात्मक 'टोन' के प्रति स्वाभिमानी बालक अपनी बाल सुलभ सामर्थ्य से विद्रोह करने के लिए तैयार हो उठा होगा, जो स्वयं नेता के कुछ विशिष्ट गुण धारण करके ही जन्मा था। जो स्वयं अपने साथियों के बीच उनका सेनापति और नेता बनकर दिशानिर्देश दे रहा हो, उसे अकारण ही किसी अनजान नेता के समक्ष झुकने के लिए विवश कौन कर सकता था ? बालक गोबिन्द के इस आचरण से स्पष्ट दिखाई देता है कि गुरु ने बचपन के प्रारंभिक वर्षों से ही निडरता, साहस एवं स्वाभिमान का परिचय भी देना शुरू कर दिया था, जबकि पिता से अभी उसका संपर्क भी नहीं हुआ था, जो संपूर्ण जगत को निर्भय और निर्वैर का मार्ग दिखा रहे थे।

सन १७२९ वि.(१६७२ ई.) में पिता ने उचित समय और अनुकूल वातावरण जानकर गोबिन्द राय को अपने पास आनंदपुर बुला लिया।[११] उससे पूर्व गुरु तेगबहादुर ने अपने परिवार को पटना ही रहने दिया था और स्वयं आनंदपुर लौट आये थे क्योंकि उन्हें अपने संबधियों तथा गुरु-गद्दी के प्रतिद्वन्द्वियों के तीव्र विरोध के चलते उन्हें अपने साथ-साथ अपने नवजात शिशु के प्राण भी संकट में दिखाई दे रहे थे। गर्भवती पत्नी को पटना छोड़ जाने का कारण भी संभवतः यही था। आनंदपुर पहुँचकर अपने परिवार को वापिस बुलाने से पूर्व वे स्थिति का जायज़ा लेना चाहते थे।

पिता द्वारा बालक गोबिन्द को अपने पास बुलाये जाने का समाचार जब पटना निवासियों को मिला, तब उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो किसी ने उनके सर्वस्व हरण का प्रस्ताव भेजा हो। कुशाग्रबुद्धि नटखट बालक गोबिन्द ने छः वर्ष के अल्प समय में ही मानो पूरे पटना शहर को अपना बना लिया था। हिन्दू ही नहीं, मुसलमानों के हृदय में भी उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। सभी प्रेमभाव से अनेक उपहार लेकर उन्हें विदा देने आ पहुँचे। बालक गोबिन्द बिना किसी भेदभाव के सबसे प्रेमपूर्वक मिले और शस्त्रादि साथ लेकर आनंदपुर के लिए रवाना हुए।[१२] पटना में उनके भक्तों ने माता गूजरी से यादगार के लिए बालक गोबिन्द का पालना माँग लिया, जो आज भी उपलब्ध है। पिता के आदेशानुसार मार्ग में वे काशी,[१३] प्रयाग, अयोध्या, लखनऊ,[१४] हरिद्वार,[१५] मथुरा, वृन्दावन

---

११ मद्र देस को अबहीं आवहुं। या महि रती न देर लगावहु।
आयस ले तब करी तियारी। भांति भांति की सौंज सुधारी।
तम्बू चार कनात मिआने, सतरंजी जाजम समिआने।
—**गुरु विलास, पृ. ५६**

१२ आयुध श्रीसतिगुरु के जेते। संदुकन लीन सुतेते।
खंजर बुगदे, तेग, कटारी। जिनकी अधिक सुकीमत भारी।
—**गुरु विलास, पृ. ५७**

१३ केतग मारग में दिन लाई। वाराणसी मधि पहुंचे आई॥
काशीपुरी अधिक बरसोहे, तवन खमस पुरी नहीं कोहे॥
वाराणसी नाम कह कहे, अनिक जल के किलविख दहे॥
—**गुरु विलास, पृ. ७०**

१४ गुरु विलास, पृ. ६८

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आदि हिन्दू तीर्थस्थलों के दर्शन करते हुए, अनेक स्थानों पर ठहरते हुए लखनौर पहुँचे। जहाँ-जहाँ वे ठहरते, अपने सद्व्यवहार से सबको अपने वशीभूत कर लेते। लखनौर में झंडू मसंद के घर पर निवास के दौरान उन्होंने पीर अरफ़दीन सहित अनेक मुस्लिमों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया।[१६] ऐसे उदाहरण बचपन से ही गुरु गोबिन्द सिंह के संस्कारों में रच बस गये समतावादी दृष्टिकोण के सूत्र खोजने में हमारी मदद करते हैं।

लखनौर से कीर्तिपुर होते हुए बालक गोबिन्द आनंदपुर पहुँचे, जहाँ अपने संबंधियों से मिलकर वे अत्यंत प्रसन्न हुए। गुरु-गद्दी के मालिक होने के कारण तेग बहादुर जी की मान्यता पूर्ववर्ती गुरुओं की तरह किसी बादशाह अथवा राजा से कम न थी। अतः गोबिन्द का लालन-पालन राजकुमारों की भाँति ठाठ-बाट से होना स्वाभाविक ही था। आनंदपुर के आध्यात्मिक वातावरण के नवीन आलोक में उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ। पिता से उन्हें प्यार और दुलार भी मिला और शिक्षा-दीक्षा एवं समुचित संस्कार भी। अपनी शिक्षा के बारे में वे स्वयं 'विचित्र नाटक' में लिखते हैं—

मद्र देस हमको ले आए। भांति भांति दइअन दुलराए।
कीनि अनिक भांति तन रच्छा। दीनि भांति भांति की सिच्छा।

(विचित्र नाटक, ७/२)

पिता स्वयं एक धर्मपरायण, उदारमना, साहसी एवं निर्भीक गुरु तो थे ही, साथ ही, वे कुशल साहित्यकार भी थे। बालक पर पिता के व्यक्तित्व की छाप पड़ना स्वाभाविक ही था। अतः उपर्युक्त सभी गुण उन्हें विरासत में प्राप्त हुए, परिस्थितियों के संयोग ने कालांतर में जिनके परिष्कार और निखार के लिए साधन सुलभ कराए। पिता ने उनमें उदात्त मूल्यों एवं महान आदर्शों की स्थापना करने के लिए उन्हें महापुरुषों के व्यक्तित्व से परिचित कराया। वे उन्हें साहसी वीरों के बलिदान की गाथाएँ सुनाते रहते थे। उन्हें समय की नब्ज़ की पहचान थी। देश की राजनीतिक स्थिति तो गंभीर थी ही, गुरु-गद्दी के साथ भी कई तरह के झगड़े जुड़े हुए थे। गुरु का जीवन आंतरिक और बाह्य— दोनों प्रकार के खतरों से खाली न था। इस कारण भी संभवतः उन्होंने बालक गोबिन्द के लिए प्रत्येक प्रकार की शिक्षा-दीक्षा का उत्तम प्रबन्ध करना आवश्यक समझा, ताकि वह आत्मिक, मानसिक और शारीरिक बल से युक्त होकर इन खतरों का सामना करने के लिए पूरी तरह तैयार हो सके।

पिता ने उन्हें समसामयिक परिस्थितियों से परिचित कराकर राष्ट्रीय एकता का महत्त्व भी समझाया। पटना निवास के दौरान बालक गोबिन्द बिहारी भाषा सीख चुके थे। हिंदी और पंजाबी

---

१५ केतक काल दयाल प्रभु हरि दुआरि पुरी निज भीतर गाये।
रूप अनूप पूरी सु विलोकत धन्न श्री मुख तीरथ गाये।
सेस सुरेस धनेस पुरी यह देखत ही तर सीस निवाय।
छीर समान खले गंग उदक जो परसे तिह पाप निसाए।
—गुरु विलास, पृ. ७०

१६ जीवन कथा गुरु गोबिन्द सिंह,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भाषा का भी अध्ययन कर चुके थे। देश के सांस्कृतिक गौरव एवं प्राचीन साहित्य से परिचित कराने तथा उसे आत्मसात करने के लिए उन्हें संस्कृत सिखाना भी आवश्यक समझा गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृत के दृढ़ आधार ने कालांतर में संस्कृत साहित्य के अध्ययन, चिंतन-मनन, विद्वानों से विचार-विमर्श तथा पौराणिक साहित्य के अनुवाद में सहयोग दिया, समाज में युगांतरकारी परिवर्तन लाने में जिसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। तद्‌युगीन दरबारी भाषा फारसी का अध्ययन भी ज़रूरी समझा गया। गुरु ने अत्यंत परिश्रम और लग्न से ये भाषाएँ सीखी होंगी तथा इनमें उनकी रुचि भी रही होगी। परवर्ती काल में फारसी में लिखी गई 'जफ़रनामा' तथा 'हिकायतनामा' रचनाएँ जिसका प्रमाण हैं। काज़ी पीर मुहम्मद को इस काम के लिए नियुक्त किया गया। गुरु बाणी का पाठ करने और उसके गूढ़ार्थ से परिचित कराने का काम मुंशी साहब चंद को सौंपा गया। यह बाल्यकाल के अध्ययन का ही सुपरिणाम था कि कालांतर में शिष्यों ने जब 'गुरु ग्रंथ साहब' की गुरु द्वारा प्रमाणित प्रति प्राप्त करनी चाही तो गुरु जी ने श्रुतलेख के माध्यम से पूरा ग्रंथ लिखवाया क्योंकि वह उन्हें पूरी तरह कंठस्थ था। शेष रहा शस्त्रास्त्र की विद्या का अर्जन, जिसके बिना किसी भी क्षत्रिय की शिक्षा अधूरी समझी जाती थी। गुरु-गद्दी के भावी उत्तराधिकारी के लिए यह यों भी अत्यावश्यक था, साथ ही पाँचवें गुरु अर्जुन देव ने अपने प्राणों का उत्सर्ग कर आत्मरक्षा के लिए शस्त्र धारण करने के महत्त्व को पहले ही प्रतिपादित कर दिया था। गुरु-गद्दी के आंतरिक खतरों को देखकर भी जिसकी अनिवार्यता को नकारा नहीं जा सकता था। इन स्थितियों में बालक गोबिन्द की रुचि एवं साहस देखकर पिता ने उन्हें शस्त्र-विद्या एवं घुड़सवारी की शिक्षा दी।[१७] उन्हें तीरंदाजी, नेज़ेबाजी आदि का भी अभ्यास कराया गया। इसके अतिरिक्त पटना की तरह यहाँ भी साथियों को दो दलों में बाँट कर नकली युद्धाभ्यास एवं सैन्य संचालन आदि के खेल पूर्ववत् चलते रहे। शस्त्र-विद्या एवं नेतृत्व-कला ने युवावस्था में गुरु गोबिन्द सिंह को शिष्यों को संगठित कर शस्त्र-संचालन का ज्ञान कराने में तो सहायता दी ही, मुगल सेनाओं एवं पहाड़ी राजाओं से किये गये उनके युद्धों में भी उसका सार्थक उपयोग हुआ। बाल्यकाल में शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध होने के कारण गुरु गोबिन्द सिंह न केवल धर्मशास्त्र, नीति, राजनीति, आध्यात्मिक आदि सभी विद्याओं में ही निपुण हो गये, अपितु शिक्षा ने उन्हें वह सूक्ष्म अन्तर्भेदी दृष्टि भी दी, जिससे किसी समस्या को सही ढंग से जाँचने-परखने एवं विश्लेषण करने के बाद उसका सही समाधान खोजने की ओर प्रवृत्त हुआ जा सकता है। बचपन में प्राप्त किया गया ज्ञान ही प्रकाश पुंज बनकर आजीवन मानवता के तिमिराच्छादित मार्ग को आलोकित करता रहा।

धर्मग्रंथों के अध्ययन ने गुरु गोबिन्द सिंह को परंपरा से जुड़ने का दृढ़ आधार तो दिया ही,

---

१७ Dharam Pal Ashta, The poetry of Dasham Granth, P. 311

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

विभिन्न धर्मावलंबियों के रीति-रिवाज़ों, धार्मिक-विश्वासों आदि से भी परिचित कराया, जिससे वे प्रत्येक धर्म में फैले पाखंडों एवं कुरीतियों का विरोध कर आडंबरहीन समाज की रचना की ओर प्रवृत्त हुए। इसी क्रम में पौराणिक कथाओं से सामरिक अंशों का चयन, उनका अनुवाद तथा पुनःसृजन शिष्य समुदाय में युद्धोत्साह संचरित करने का मुख्य साधन बना। माता से पाए भक्ति के संस्कारों ने ईश्वर को सदैव अपने अंग-संग मानने के विश्वास को जन्म दिया और प्रभु-भक्ति सदैव उनका आत्मसंबल बन विकट से विकट परिस्थिति में भी उनकी आस्था को बरकरार रखने में सहायक हुई। मानव-मन के गूढ़ अध्ययन की भी प्रत्येक स्थिति में जैसी उपयोगिता रही, वह बताने की आवश्यकता नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि बाल्यकाल के निर्माणात्मक काल (formative period) के दौरान बालक गोबिन्द ने परिवार एवं परिवेश में जो संस्कार अर्जित कर लिए थे तथा जो ज्ञान संपदा हासिल की थी, उसकी मानसिकता के निर्माण में उनकी अहम भूमिका रही। माँ से प्राप्त दृढ़ता एवं धर्मशीलता उन्हें प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अविचल बनाये रखती है और किसी भी सूरत में अपने प्रण से न डिगने को विवश करती है। साथ ही धैर्यपूर्वक बड़ी से बड़ी समस्या का भी हल खोजने की सामर्थ्य भी प्रदान करती है। पिता की चिन्तनशीलता एवं सूझ-बूझ प्रत्येक समस्या को चिन्तन-मनन एवं निरीक्षण-परीक्षण द्वारा अच्छी तरह समझ लेने की सामर्थ्य प्रदान करती है और एकाग्रता के बल पर उसके मुख्य बिन्दुओं की सही पकड़ और उनके सही-सही उपचार को भी संभव बनाती है। गुरुओं से प्राप्त ज्ञान समस्या के मूल्यांकन को सरल बनाता है तथा जबर्दस्त संप्रेषण शक्ति प्रदान करता है साथ ही अपनी बात को आग्रहपूर्वक प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त उद्धरण एवं उदाहरणों की प्राप्ति को सरल बनाता है। बचपन में साथ खेलने वाले साथियों को प्रभावित कर उनका नेता बनने की कला दलित समाज के असंख्य पीड़ितों एवं शोषितों को एक सामान्य प्लेटफार्म तक लाकर उन्हें बात ग्रहण करने की स्थिति तक पहुँचाने की क्षमता प्रदान करती है। कहना न होगा कि अपनी बात को जनता की ही शब्दावली में अत्यंत मनोवैज्ञानिक ढंग से उस तक संप्रेषित करने की उनकी कला ने उस सामाजिक परिवर्तन के लिए आधार भूमि का निर्माण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसके लिए गुरु गोबिन्द सिंह ने जीवन-भर साधना की। बचपन में सोखे हुए संस्कारों ने रिसते-रिसते गुरु जी के संपूर्ण व्यक्तित्व को इस कदर आर्द्र बना दिया कि मानव मात्र के प्रति करुणा एवं सहानुभूति उनके प्रत्येक कार्य की धुरी बन गई। समाज में इतना बड़ा क्रांतिकारी परिवर्तन भी उसी के बल पर संभव हो सका।

गुरु जी के शैशवकाल में प्राप्त संस्कारों में जिस महत्त्वपूर्ण घटना का सबसे अधिक योगदान रहा, वह था पिता गुरु तेग बहादुर द्वारा धर्म की खातिर दिया गया बलिदान। बालक गोबिन्द की आयु सात वर्ष की थी जब वे पटना से आनंदपुर पहुँचे थे। यहाँ पहुँचने के करीब दो वर्ष के अन्दर ही कश्मीर में औरंगज़ेब की कट्टर धार्मिक नीति से त्रस्त और पीड़ित पंडितों के एक दल ने उनके पिता श्री गुरु तेग बहादुर के पास फ़रियाद लाने का निश्चय किया। औरंगज़ेब ने जब सभी प्रांतीय शासकों के नाम फरमान जारी किए, जिसमें काफ़िरों के विद्यालय एवं मंदिर नष्ट करने तथा धर्माचार को मिट्टी में मिला देने का आदेश दिया गया था, तब कश्मीर के शासक शेर अफ़गान खाँ ने शाही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हुक्म की तामील करते हुए हिन्दुओं के धर्म परिवर्तन चक्र को और तेज़ कर दिया तथा उस आदेश की अवहेलना करने वालों को कत्ल कर दिया गया।[१८] कश्मीर के गवर्नर इफ़्तखार खाँ न ब्राह्मणों को धर्म परिवर्तन के लिए मजबूर किया क्योंकि शिक्षित कश्मीरी पंडितों के इस्लाम धर्म अपना लेने पर शेष देश द्वारा उनका अनुसरण किया जाना स्वाभाविक था। स्थिति के अत्यधिक बिगड़ जाने पर कश्मीरी पंडितों ने छह मास का समय माँगा और उनका एक दल धर्म-रक्षा की प्रार्थना लेकर गुरु तेग बहादुर के पास आनंदपुर पहुँचा[१९] इसे सुनकर गुरु जी गहरी चिन्ता में डूब गये और किसी महापुरुष के बलिदान की आवश्यकता पर विचार करने लगे, तब उनके नौ वर्षीय पुत्र गोबिन्द राय ने तत्क्षण अपनी राय प्रकट कर दी और पिता से कहा कि आपसे बढ़कर पुण्यात्मा और कौन है, जो धर्म के लिए अपना बलिदान दे–

तुरकन भार दुखत भई लोई। छत्री जगत न दिखीअत कोई।
जो निज अपनो सीस चढ़ावै। निधरत धरन भार ढहरावे।
तुम में और अधक को आही। देग तेग जाके गृह माही।

(गुरु विलास, ५/१५-१६)

पुत्र के इस सुझाव से उसके व्यक्तित्व में निहित करुणा एवं संवेदनशीलता का आभास पाकर गुरु तेग बहादुर अत्यधिक प्रसन्न हुए। उन्होंने ब्राह्मणों से कहा कि वे औरंगज़ेब से कहें कि यदि उनके संरक्षक गुरु तेग बहादुर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेंगे तो हम भी इस्लाम कबूल लेंगे।[२०]

औरंगज़ेब के पास जब सूचना पहुँची, तब उसने गुरु तेग बहादुर को दिल्ली बुलाया। मार्ग से आगरा में ही उन्हें कैद करके दिल्ली लाया गया। उन्हें धर्म परिवर्तन के लिए नाना प्रकार के प्रलोभन

---

१८ विस्तृत विवेचन के लिए देखिए इसी पुस्तक का अध्याय—'गुरु गोबिन्द सिंह: परिस्थितियाँ और युगबोध' पृ. ७२-७३, ७६-७८.

१९ (क) एक आसरा आप गुसाई। गहहु बांह समिजाई।
निज करूना तरनी वर धरो। करूनाधार बनि पारहि करो।
जुग ते विनसनि लगहि धरम जबि। प्रभु अवितार सुधरि तुरंत तवि।
बनहि सहाइक लगहि उबार। सुनि पति कथा पुरुन मझार।
रसहु जीव हिन्दुन की टेक। नाहिन जग माह रहे न एक।
धरम भ्रिसट जवि सगरे होई। पुजहि सुरादिक नहिं कोई।
हीम जगय सगरे विनसै के । बहुरे दैव किम विरधापे हैं।
परहि महा दुरभिच्छ घनेरे। जग भी विनसि जाई तिस वेरे।
याते अविही पुनि सहाइ। हिन्दु धरम की लसेह बचाइ।
सुर आदिक की इच्छा होई । रह जगत मिरजादा जोई।
—गुर प्रताप सूरज
(ख) अति और दुखि होई हिन्दु सभी हुकम गुरू ढिग आइ पुकारे।
हुकम अकाल पुरख का तुम को राखो धर्म हमारे।
—ज्ञानी ज्ञान सिंह, पंथ प्रकाश

२० गुरु प्रताप सूरज, १२/२९, अंक ६-७

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दिये गये, जब वे विचलित नहीं हुए तो औरंगज़ेब ने भय एवं आतंक का आश्रय लिया। किंतु वे अपने निश्चय से डिगे नहीं। 'गुरु गोबिन्द सिंह : विरासत का संदर्भ' शीर्षक अध्याय में इसकी चर्चा विस्तारपूर्वक की गई है। गुरु तेग बहादुर को अनेक यातनाएँ दी गईं, किंतु वे अत्यंत शांत भाव से सब सहते चले गये, लेकिन अपने धर्म पर आँच नहीं आने दी। अन्ततः उनके सामने उनके शिष्य भाई मतीदास की आरे से चीरकर और भाई दयालदास को तेल में उबालकर तथा भाई सतीदास के शरीर के टुकड़े-टुकड़े काटकर मार दिया गया। आतंक फैलाने के लिए उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर के चाँदनी चौक में टाँग दिये गये। किंतु गुरु जी की आँखों में क्रोध की हल्की रेखा तक दिखाई न दी। न वहाँ लेशमात्र घृणा ही थी, न दया की भीख। शंका, अस्थिरता, भय आदि भावों का वहाँ नामोनिशान तक न था। इसके विपरीत अभय की छाप से उनका मुख मंडल तेजोदीप्त हो रहा था। उनका लक्ष्य तो हिन्दुओं को आततायी शासक और क्रूर शासनतंत्र का सामना करने तथा अन्याय के विरुद्ध लड़ने के लिए जागृत करना था। इसलिए न तो वे औरंगज़ेब द्वारा दिये गये प्रलोभनों से विचलित हुए और न ही उसकी धमकियों का उन पर कोई असर हुआ। मृत्यु की उन्हें तनिक भी चिन्ता न थी क्योंकि, उनका विचार था कि—

'चिन्ता वाकी कीजिए। जो अनहोनी होय।'

और मृत्यु तो कोई अनहोनी नहीं है। उन्हें ज्ञात था कि—

'जो उपजिओ सो बिनसि है, परो आजु के काल'

(सलोक महला ९, श्लोक सं. ५२)

इसलिए उन्होंने मुगल बादशाह सहित सबको '**नानक हरि गुन गाइले छाडि सगल जंजाल**'[२१] की शिक्षा दी। उनके ऐसे भक्तिपरक उपदेशों का असहिष्णु औरंगज़ेब के अनुदारता से पूरित हृदय पर ठीक वैसा ही प्रभाव पड़ा जैसे तप्त भूमि पर गिरने वाली पानी की बूँदें क्षणभर में वाष्प बनकर उड़ जाती हैं। ऐसे उपदेशों से औरंगज़ेब और अधिक तमतमा उठा। वह एड़ियाँ रगड़कर रह गया लेकिन गुरु तेग बहादुर को नहीं झुका सका। औरंगज़ेब के आदेश से ११ नवंबर, सन् १६७५ ई. को दिल्ली के चाँदनी चौक में उनका सिर धड़ से अलग कर दिया गया किंतु उन्होंने उफ़ तक न की। उन्होंने 'श्रीमद्‌भागवद् गीता' के उपदेश "**स्वधर्म निधनं परधर्मों भयावहः**" के समान स्वधर्म पालन को ही श्रेयस्कर समझा। बलिदान से पूर्व एक कागज़ पर निम्नलिखित वाक्य अंकित कर उन्होंने उसे कंठ पर बाँध लिया—**सर दादमगर सिर री खुदा न दादम (दे दिया शीश मगर भेद खुदा का न दिया)** [२२]कहते हैं शीश तो कट गया, मगर वह कागज़ का पुर्ज़ा ज्यों का त्यों रहा।[२३]

---

२१ (क) गुरु प्रताप सूरज, १२/२९, अंक ६-७, पृ ४३४० (ख) गुर पुर प्रकाश,: ९०४८.२४-२६ पृ. १४०५

२२ पंथ प्रकाश।

२३ सगल स्रिसटि में ढांपी चादर धरम की जिनि पति राखी। अटल करी कलजुग में साखी।
सगल स्रिसटि जा का जस भयो। जिहते सरब धरम बचयो।
तीन लोक मैं जै जै भइ। सति गुरि पैज राखि हम लई।
तिलक जनेऊ अरि रमसाला। अटल करी गुरु भये दिआला।
—सेनापति, श्री गुरु शोभा, १/४-१६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उनके बलिदान की स्मृति में निर्मित भव्य गुरुद्वारा शीशगंज आज भी प्रत्येक हिन्दू को गुरु द्वारा हिन्दुओं के तिलक जंजु (यज्ञोपवीत) की रक्षा के लिए सर दे देने की याद दिलाता है। उन का बलिदान संवेदनशील बालक गोबिन्द के हृदय पटल पर अंकित हो गया, कालांतर में जिसकी महत्ता उनकी वाणी से यों निसृत हुई —

तिलक जंजु राखा प्रभु ताका। लीनो बड़ो कलू महि साका।
साधनि हेतू जिमि करी। सीस दिया पर सी न उच्चरी॥

(विचित्र नाटक, ५/१३)

धर्म रक्षा के लिए गुरु तेग बहादुर ने 'सीस' दिया पर 'सिररु' न दिया। कहते हैं, उनके बलिदान के समय बहुत तेज आँधी चली, जिसका लाभ उठाकर गुरु के एक शिष्य लखीशाह ने बैलगाड़ी में गुरु जी का धड़ ले जाकर अपने मकान में छिपा दिया और उसे मुगल अधिकारियों की कोप दृष्टि से बचने के लिए अपने मकान को आग लगाकर गुरु तेग बहादुर जी का अंतिम संस्कार किया। इस स्थान पर गुरुद्वारा रकाबगंज बना हुआ है। उनका शीश रंगरेटा नामक शिष्य ने आनंदपुर पहुँचाया, जहाँ सुपुत्र गोबिन्द ने उनका विधिवत् दाह-संस्कार किया।

औरंगज़ेब ने जिस धार्मिक, सांस्कृतिक तथा वैचारिक स्वतंत्रता को मिटा देने की हर संभव चेष्टा की, सांस्कृतिक लोकनायक गुरु तेग बहादुर ने उसके निमित्त अपना बलिदान देकर ऐतिहासिक भूमिका अदा की। अपने अद्वितीय बलिदान से उन्होंने हिन्दुत्व और भारतीय संस्कृति की रक्षा की। बलिदान से बहुत पूर्व उच्चरित उनकी इस वाणी—"भै काहु कउ देत नाहि" में ही बलिदान की आहट स्पष्ट सुनाई देती थी। धीरे-धीरे हृदय में अंकुरित होने वाले बलिदान के बीज अब परिपुष्ट हो चुके थे, जीवन के बड़े मूल्यों का प्रश्न आते ही अब "न भै मानत आनि" भी साथ ही जुड़ गया, जिसने उनकी विद्रोह भावना को पूरी तरह प्रदर्शित कर दिया। उनके विद्रोह की प्रेरक दृष्टि धर्म, दर्शन अध्यात्म और नैतिक आधार पद्धति है। यह सांसारिक जगत का निषेध करने वाली दृष्टि नहीं, बल्कि जीवन-जगत के तथ्यों-सत्यों की संगति में उभरी दृष्टि है। इस विद्रोह का कोई व्यक्तिगत आधार नहीं है, इसके पीछे पीड़ित-संतप्त लोगों की धार्मिक स्वतंत्रता को आघातित होते हुए देखकर उत्पन्न हुआ सात्विक भाव निहित है। औरंगज़ेब की धर्मान्धता की नीति से गुरु तेग बहादुर व्यक्तिगत रूप से प्रभावित हुए हों, ऐसा नहीं है। महापुरुषों के हृदय में निहित करुणा का विशाल सागर एक प्राणी मात्र की विवशता एवं निरुपायता देख कर ही पूरे आवेश से उमड़ पड़ता है। फिर गुरु तेग बहादुर के सामने तो सैकड़ों निरपराध लोगों का कत्लेआम था, जो उन्हें भीतर तक आंदोलित कर देने के लिए पर्याप्त था। समूची मानवता की संपूर्ण पीड़ा उनके सामने थी, जितनी तीव्रता से जिसने दीन-हीन लोगों के प्रति करुणा का भाव जाग्रत किया, उतनी ही नहीं, उससे भी कई गुना अधिक तीव्रता से शासन के प्रति विद्रोह का भाव उत्पन्न किया। विद्रोह की तीव्रता भी अत्यंत आकस्मिक हो, ऐसा नहीं था। उनके जीवनयापन की पद्धतियों तथा उनके संत व्यक्तित्व के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सर्जनात्मक पहलुओं की खोज करते हुए इसकी संगति स्पष्ट दिखाई दे जाती है। जब वे भाई मतिदाम को जेल ही में स्पष्ट कहते हैं कि वे अपने जीवन की बलि देकर मुगलों के साम्राज्य को खत्म कर देंगे,[२४] वे खाक में मिला देंगे पुण्य कर्मों को, जिन्हें सम्राट ने पिछले जन्मों में किया था और जिनके द्वारा उसे राज्य प्राप्त हुआ था।[२५] तभी उनके इन कथनों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि औरंगज़ेब के काले कारनामों का घड़ा ऊपर तक लबालब भर चुका था और दिन-रात त्राहि-त्रहि करती मासूम जनता उसे बद्दुआएँ देकर ईश्वर से मुक्ति की प्रार्थना किया करती थी। गुरु तेग बहादुर के उपर्युक्त कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि पूर्वजन्म के जिन पुण्य कर्मों के प्रभावस्वरूप औरंगज़ेब सिंहासनारूढ़ हुआ, पापमय कार्यों में प्रवृत्त होने के कारण वह उसका अधिकारी नहीं रह गया, क्योंकि पुण्य कर्म के परिणाम का भोक्ता तब तक ही शक्ति समर्थ रहता है, जब तक वह पुण्य कार्यों में रत रहता है। पाप की ओर प्रवृत्त होते ही पुण्य कर्मों की शक्ति क्षीण होने लगती है। गुरु तेग बहादुर का प्रस्तुत कथन उनके अहंकार का प्रतीक कदापि नहीं है, बल्कि इस बात का संकेत है कि उन जैसे महान आध्यात्मिक पुरुष के लहू से हाथ धोने के पश्चात् औरंगज़ेब महान पाप का भागी बनेगा और चूँकि उसकी पुण्य कर्म-शक्ति क्षीण हो जायेगी, अतः उसका साम्राज्य पाप की ओर अग्रसर होगा। वही हुआ भी।

गुरु तेग बहादुर जैसे महान संत के पास कुटिल राजनीति के प्रति विद्रोह करने के लिए बलिदान से बेहतर कोई अस्त्र न था और औरंगजे़ब के अमानुषिक अत्याचार इस सीमा तक पहुँच चुके थे कि उसे एक महान पुण्यात्मा के बलिदान से कम और कुछ प्रभावित कर ही नहीं सकता था। शासनतंत्र की धर्म विनाशक नीतियाँ उनके हृदय में आक्रोश को जन्म दे ही चुकी थीं, अत्याचारों का सिलसिला धीरे-धीरे निर्भय-निर्वैर की अवस्था तक पहुँचे उनके मानस में अवस्थित विद्रोह भाव को बढ़ाता रहा था। कश्मीरी पंडितों द्वारा की गई धर्म-रक्षा की अभ्यर्थना ने उस आक्रोश एवं विद्रोह को तीव्रता प्रदान कर बलिदान की पृष्ठभूमि तैयार करने में निर्णायक भूमिका अदा की। उनके बलिदान ने मनुष्य के सामने सत्य और स्वतंत्रता के द्वारा खोले और शासक की क्रूरता के विरोध में नवीन वातावरण की सृष्टि की। उनके बलिदान ने आदर्शों के प्रति दृढ़ता, सहिष्णुता एवं मानवीय अधिकारों के लिए मर मिटने के प्रण का तथा अन्याय, अत्याचार, असत्य आदि बुराइयों के विरोध में सर्वथा निर्विकार भाव से प्राण उत्सर्ग कर देने का एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया।

गुरु तेगबहादुर के बलिदान से जगत् में हाहाकार मच गया, सारा संसार शोकमग्न हो गया जिसका चित्रण करते हुए गुरु गोबिन्द सिंह लिखते हैं—

तेग बहादुर के चलत, भयो जगत को सोक।
है है है सब जग भयौ, जै जै जै सुरलोक।

(विचित्र नाटक, ३/१६)

---

२४ Macauliff, The Sikh Religion, Part III, P. 382.

२५ Do, P. 383.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उनके बलिदान ने प्रकाश पुंज बनकर पीड़ित जन-समुदाय के तमाच्छादित मार्ग को प्रकाशित किया—"संसार का इतिहास साक्षी है कि महान आंदोलनों और क्रांतियों की नींव शहीदों के खून से भरी जाती है। बलिदानी आत्माएँ अपने प्राणों का दान दे अपनी पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त कर देती हैं। संघर्षों के अथाह समुद्र में वे अपने अनुगामियों के मार्ग-दर्शन के निमित्त दीप-स्तंभ बन जाती हैं, जिनसे प्रकाश पा सुप्त और पराश्रित जातियाँ जाग उठती हैं और एक अद्‌भुत शक्ति और प्रेरणा से आगे बढ़ती हुई अत्याचारों का दमन करती हुई, विजय की मंजिल तक पहुँच जाती हैं। गुरु तेग बहादुर महापुरुषों के बलिदान के इस महत्त्व को जानते थे। इस लिए उन्होंने अपने बलिदान को स्वयं आमंत्रित किया।"[२६]

वास्तव में उनके जैसा हिन्दुत्व का संरक्षक सारे भारतीय इतिहास में मिलना कठिन है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहते हैं—

तेग बहादुर हाँ वे ही थे, भारत की माई के लाल।
तेग बहादुर हाँ वे ही थे, जिनका कुछ कर न सका काल।
तेग बहादुर हाँ वे ही थे, मर कर जिला गए जो जाति।
तेग बहादुर हाँ वे ही थे, जिनके अमर नाम की ख्याति।

कलियुग में दिए गये गुरु तेग बहादुर के बलिदान ने शहीदी के स्वरूप की अनुपम व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने बलिदान की संकल्पना को एक नए अर्थ में प्रस्तुत कर एक तरह से स्वाधीनता के संकल्प की आदर्श प्रक्रिया को सामने रखा। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनकी आत्माहुति से अन्याय एवं अत्याचार के प्रति विद्रोह की जो चेतना उत्पन्न हुई, गुरु गोबिन्द सिंह ने उसे ससम्मान ग्रहण कर, उसे आत्मसात् ही नहीं किया, बल्कि नवीन संस्कार से युक्त कँर भविष्य के लिए सकर्मक कार्यवाही का दिशा निर्देश दिया। गुरु तेग बहादुर के बलिदान ने मनुष्य के सामने सत्य और स्वतंत्रता का जो मार्ग प्रशस्त किया, उस पर चलकर गुरु गोबिन्द सिंह ने न केवल स्वयं बलिदान का अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया, अपितु सिंह के रूप में युद्ध करते हुए धर्मरक्षा के लिए मिटने वाले बलिदानियों की जमात भी तैयार की, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म सुरक्षित रह पाया और भारतीय संस्कृति की जीवंत परंपरा को संरक्षण प्राप्त हुआ।

■■■

---

२६ महीपसिंह, गुरु गोबिन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता, पृ. २१

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सवा लाख से एक लड़ाऊँ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

''भेड़ों को मैं शेर बणाऊँ, राउन के संग रंक लड़ाऊँ।
भूप गरीबन को कहवाऊँ, चिड़ियों से मैं बाज तुड़ाऊँ।
सवा लाख से एक लड़ाऊँ, तबै गोबिन्द सिंह नाम कहाऊँ।
इनहीं से राजे उपजाऊँ, राज करन की रीति सिखाऊँ।
इन्हीं को सरदार बणाऊँ, तबै गोबिन्द सिंह नाम कहाऊँ।

-प्रो. कर्त्तारसिंह, जीवन कथा श्री गुरु गोबिन्द सिंह, पृ. 451.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सवा लाख से एक लड़ाऊँ

पिता गुरु तेग बहादुर को बलिदान की ओर प्रेरित करने वाली भावना यदि निरीह और निरुपाय लोगों की विवशता से उपजी करुणा थी, तो पुत्र गोबिन्द ने भी उदात्त मानवता का भाव विरासत में प्राप्त किया था। पिता ने यदि जाति की छटपटाती आत्मा को सशक्त बनाने के लिए पल-भर में प्राण उत्सर्ग करने का निश्चय कर लिया था, तो पुत्र ने तलवार की नोक पर पीड़ित-प्रताड़ित लोगों को भयभीत करने वाले शासक के खिलाफ़ आजीवन विद्रोह के भाव को बुलंद करने का बीड़ा उठा लिया। विद्रोह का यह भाव वैयक्तिक कुंठाओं से उबरने का साधन मात्र नहीं था। इसमें अन्याय और अत्याचार का प्रतिरोध करने की, उसका सामना करने की, उससे जूझने की शक्ति निहित थी। विद्रोह का यह भाव कोरा निषेध या नकार न होकर, अपने भीतर सर्जनात्मकता की संपूर्ण प्रक्रिया लिए हुए था, जिसका एक सिरा भारतीय परंपरा से जुड़ा हुआ था तो दूसरा उसके अतिक्रमण की दृष्टि प्रदान कर बलिदान के लिए प्रेरित करता था। अत: गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा समाज को स्वाधीनता दिलाने के लिए सर पर कफ़न बाँध लेना, अपना सर्वस्व न्यौछावर करना, किंतु उफ़ तक न करना आश्चर्यचकित नहीं करता क्योंकि इसके पीछे पूर्व गुरुओं से विरासत में प्राप्त बलिदान के संस्कार थे। पिता गुरु तेग बहादुर ने इतिहास में अपनी जीवनाहुति स्वर्णिम अक्षरों में दर्ज की थी, तो गुरु गोबिन्द सिंह ने मूल्यों के संरक्षण के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर उसी परंपरा का पालन किया तथा बलिदान का मार्ग प्रशस्त किया। निर्बल, असहाय, दीन-दुखियों के प्रति सरोकर ही वह भाव था, जिसने गुरु गोबिन्द सिंह को बलिदान की ओर प्रेरित किया, जिसके वशीभूत हो उन्होंने समाज में इतना बड़ा क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का निश्चय किया। पूर्व गुरुओं से प्राप्त विरासत तथा बचपन से भीतर ही भीतर रिसते रहने वाले उत्तम संस्कारों ने उस निश्चय को वास्तविक रूप प्रदान करने में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

योगदान दिया। यों पिता को बलिदान देने के सुझाव में ही 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' वाली कहावत चरितार्थ होती दिखाई दे गई थी। इस सुझाव की स्वीकृति एवं ब्राह्मणों को दिया गया आश्वासन उस विद्रोह की अभिव्यक्ति यात्रा के प्रारंभिक बिंदु मात्र थे, जिन्हें अन्ततः बलिदान में पूर्णता प्राप्त हुई। मानवता के हित-चिन्तन के जो अंकुर बालक गोबिन्द के बाल्यकाल में दिखाई देते हैं, वे ही कालांतर में, विशाल वटवृक्ष के रूप में पल्लवित हुए।

यह मुक्ति के लिए छटपटाती मानवता के हित का ही प्रश्न था, जो गोबिन्द सिंह जी के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन गया और उनके जीवन की दिशा निर्धारित कर गया। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि समाज में कोई भी क्रांतिकारी परिवर्तन रातों-रात नहीं हो जाता। वह चंद मिनटों अथवा घंटों की उथल-पुथल का परिणाम भी नहीं होता। अपितु उसके पीछे एक लंबा इतिहास छिपा रहता है। परिवर्तन की धारा अपने दृश्य-अदृश्य रूप में एक लम्बे समय तक निरंतर प्रवाहित रहती है। परिस्थिति विशेष में, एक विशेष दबाव के चलते, जो अपने प्रचंड रूप में प्रकट होती है। गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा समाज की धारा को बदलने का प्रयास भी करीब ढाई दशक की अनवरत साधना का इतिहास सँजोए हुए है। 'खालसा' पंथ के रूप में समाज के इस युगांतरकारी परिवर्तन से हमारा परिचय भले ही सन् १६९९ ई. में होता है, किंतु इसके बीज नवें गुरु, गुरु तेग बहादुर की शहादत (१६७५ ई.) में ही ढूँढ़े जा सकते हैं। पिता का बलिदान ही वह क्षण था, जब बालक गोबिन्द राय ने मानवता पर होने वाले अत्याचार के विरुद्ध आजीवन विद्रोह करने का निश्चय कर लिया था। यही वह क्षण था, जब उन्होंने समाज को धार्मिक, सामाजिक, मानसिक, राजनीतिक—सभी प्रकार की दासता से मुक्ति दिलाने के लिए 'सवा लाख से एक लड़ाऊँ' की भीष्म प्रतिज्ञा धारण की थी। उसकी घोषणा भले ही बाद में की गई हो। पिता की शहादत ही की घड़ी में **"जहां तहां तुम धरम बिथारो, दुसट दोखियन पकरि पछारो"**[1] जैसी पंक्तियाँ मानसिक रूप से अस्तित्व में आ चुकी थीं। लेखनी के माध्यम से कागज़ पर उनकी अभिव्यक्ति बाद में होती रही।

शहादत के वे पल थे भी तो अकल्पनीय। कल्पना कीजिए, लाड़-प्यार में पलते, हँसते-खेलते, इकलौते नौ वर्षीय बालक की, स्वप्न में भी कभी ऐसी नृशंसता से जिसका वास्ता नहीं पड़ा था। जब पिता के वध का समाचार प्राप्त हुआ होगा तो उसके कोमल हृदय पर क्या बीती होगी ? पल-भर के लिए तो उसे विश्वास ही नहीं हुआ होगा। वह हतप्रभ, किंकर्तव्यविमूढ़ खड़ा रह गया होगा। किसी के राई समान दुख से भी पल-भर में द्रवित हो जाने वाले उस नन्हे बालक पर जिस क्षण अनायास ही दुख का पहाड़ टूट पड़ा था, वही क्षण उसके बचपन का अंतिम क्षण बन गया होगा। उसी क्षण मानो बचपन के पाँव उग आये और वह लम्बे-लम्बे डग भरता न जाने कहाँ तिरोहित हो गया। इधर नन्हा-मुन्ना बाला गोबिन्द, प्रौढ़ परिपक्व गोबिन्द राय में परिवर्तित हो गया, जिसके पास पिता की मृत्यु पर शोक मनाने का भी अवकाश न था, क्योंकि वह औसत बुद्धि का बालक न था। अत्यंत मेधावी, कुशाग्रबुद्धि और दूरदर्शी होने के कारण उस ने यह ठीक-ठीक समझ लिया था कि

१. विचित्र नाटक, ६/४२.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पिता का वध किसी तूफ़ान की समाप्ति की नहीं, बल्कि आने वाले बहुत बड़ी विपदा की पूर्व सूचना थी। पिता और उनके शिष्यों को वध से पहले जिस प्रकार कठोर यातनाएँ दी गईं, उससे औरंगज़ेब द्वारा भविष्य में अपनाई जाने वाली क्रूर नीतियों का अनुमान गोबिन्द जी ने सहज ही लगा लिया। धर्मगुरु के प्रति जिस शासक का व्यवहार इतना अमानवीय हो सकता है, सामान्य व्यक्ति के प्रति उसका बर्ताव कैसा होगा, यह समझना उनके लिए कठिन नहीं रहा। पिता का बलिदान ही जब औरंगज़ेब की कुत्सित घृणित वृत्तियों को बदलने में असमर्थ रहा, तब गोबिन्द जी के लिए यह अनुमान लगाना कठिन नहीं रहा कि सहिष्णुता, आत्मत्याग आदि गुण उसकी क्रूरुता में इज़ाफा ही करेंगे, क्योंकि वह यह समझ चुके थे कि औरंगज़ेब की शख़्सियत में इंसानियत की मांस-मज्जा कहीं इस्तेमाल नहीं हुई। अतः उन्हें हिन्दुओं द्वारा निरपेक्ष भाव से उसके अत्याचारों को सहते जाने में कोई अर्थ दिखाई न दिया। मानवता को बचाने के लिए, इससे भिन्न किसी बेहतर रास्ते के चुनाव का प्रश्न मुँहबाए खड़ा हो गया। इस स्थिति में पिता के बलिदान से उपजे शोक का स्थान दीन-हीनों के अस्तित्व की चिन्ता ने ले लिया, तो यह आकस्मिक नहीं था।

अस्तित्व ही की चिन्ता के कारण तो भयभीत हिन्दू अपनी ही खातिर बलिदान देने वाले धर्म गुरु, (गुरु तेग बहादुर) के शव की पहचान कर, उसे ससम्मान ले जाने की हिम्मत भी न जुटा पाए थे, गोबिन्दराय ने उनके हृदय में बैठे शासक के खौफ़ की भयानकता का अन्दाज़ा तभी लगा लिया। इसी कारण उसी, क्षण भेड़ों को शेर बनाने का निर्णय ले लिया गया। अपने कल्पना लोक में अपने चिड़िया रूपी सैनिकों को बाज रूपी शासकों पर झपटते, और उन्हें लहूलुहान करते उन्होंने पहले ही देख लिया था, "**चिड़ियों से मैं बाज तुड़ाऊँ**" सवा लाख से एक लड़ाऊँ का व्यावहारिक प्रकटीकरण भले ही बहुत में हुआ। शूरवीर कहलाने वाले हिन्दू, जिनकी सांस्कृतिक संपदा इतनी गौरवमय रही है, अपनी विरासत को भूल कर तुर्कों एवं म्लेच्छों से इतना डर जायें कि अपने धर्मगुरु के अपनी ही खातिर दिये गये बलिदान को भी शिरोधार्य करने में संकोच करें ? इस चिन्ता ने '**तुर्क मलेच्छन सों नहीं मिलना, ले हथियार सामने पिलना**', जैसी पंक्तियों के प्रारम्भिक रूप की सर्जना भी कर दी होगी और उसके व्यावहारिक पक्ष का निर्णय भी तभी ले लिया गया होगा। माँ के दुलार के रूप में गोबिन्द के हृदय में मानवता के बीज बचपन से ही अंकुरित थे। आज उनके पल्लवित एवं पुष्पित होने का समय आ गया था। यही कारण था कि नृशंस शासक के अत्याचार से पीड़ित प्रत्येक हिन्दू की मुक्ति की चिन्ता की छाया बालक के मुख पर साफ़ दिखाई देने लगी थी। इसी क्षण उन्होंने औरंगज़ेब की सांप्रदायिक कट्टरता को उखाड़कर प्रत्येक हिन्दू को सम्मानपूर्वक जीवनयापन का अधिकार दिलाने का प्रण कर लिया।

जीवन के इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर शेष जीवन को इसकी सिद्धि के लिए समर्पित कर देने का प्रण भी बालक गोबिन्द ने इसी क्षण किया होगा। समता पर आधारित समाज की स्थापना के निश्चय ने भी यहीं जन्म लिया, मार्क्स ने जिसकी कल्पना बहुत बाद में की। कहने का तात्पर्य यह कि पिता के बलिदान से उपजी परिस्थितियों में जब उनके बलिदान से उस समस्या का हल होता दिखाई न दिया, तब बालक को तत्काल यह एहसास हो गया कि मुगलों के भय और आतंक को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

समूल नष्ट करने के लिए उससे भी बड़ा कुछ करने की आवश्यकता है।

पिता की शहादत की घड़ी में ही बालक गोबिन्द को अपने जन्म का उद्देश्य स्पष्ट हो गया। **हम इह काज जगत मो आयो, धर्म हेत गुरुदेव पठायो**[2]— कहकर उन्होंने स्वयं तो धर्म की स्थापना की प्रतिज्ञा की ही, इसके लिए निर्भय वीरों की एक ऐसी जमात तैयार करने का संकल्प किया, जिसका एक छोर आध्यात्मिकता से संबद्ध हो तो दूसरा धर्म की स्थापना की खातिर बड़े से बड़ा बलिदान देने से जुड़ा हो। जो 'दीन के हित' लड़ने से हिचकिचाएँ नहीं और शत्रु को देखते ही उस पर धावा बोल देने की सामर्थ्य एवं हिम्मत रखते हों, जो न किसी को अकारण भयभीत करें न किसी का खौफ़ मानें। निर्भयता, समता एवं स्वाधीनता जिनकी रग-रग में प्रवाहित हो।

धर्मोद्धार के अपने कार्यों में, धर्म से जुड़ी जनता की आस्था जागृत करने को ध्यान में रखकर, स्वयं को अकाल पुरुष का दास और देवी कालिका को अपनी माता बताने की सोच भी तभी आरंभ हो गई होगी जोकि अकारण नहीं थी—

'मैं हों परम पुरख को दासा, देखने आयो जगत तमासा',

× × ×

सर्वकाल है पिता हमारा, देवी कालिका माता

(विचित्र नाटक, ६/३३)

यहीं एकल प्रयास के स्थान पर सामूहिकता को प्राथमिकता देने की अनिवार्यता साबित हो गई, क्योंकि उन्होंने यह अनुमान लगा लिया था कि यदि निडरता और सामूहिकता की भावना कुछ समय के लिए भी हावी हो गई होती तो पिता की शहादत तो टल ही जाती, औरंगज़ेब को भी अपनी नृशंस नीतियों में संशोधन करने के लिए मजबूर होना पड़ता। प्रश्न शहादत के समय मौज़ूद लोगों की संख्या का उतना न था जितना उनमें साहस, निर्भीकता एवं अत्याचार के प्रति विद्रोह के भावों के संचार का था। उपस्थित जनसमुदाय ने यदि सामूहिकता के पाठ के आद्यक्षर भी पढ़े होते, और साहस जुटाकर यदि वे शासकीय आज्ञा का पालन करने वाले वधकर्मियों पर टूट पड़े होते तो संभवतः उसी दिन एक नवीन इतिहास की रचना हो जाती। यही उधेड़बुन गोबिन्द राय को शिष्यों में एक-एक को सवा लाख नरभक्षियों से लड़ने में समर्थ बनाने, उन्हें सामूहिक बल से युक्त करने, मुगल तथा साम्राज्य की सांप्रदायिक कट्टरता को उखाड़ फेंकने के प्रण की ओर ले गई। क्योंकि इसके बिना मानवता को सुरक्षित रख पाना उन्हें असंभव दिखाई दिया।

सूरा सो पहचानिए जो लड़े दीन के हेत।
पुरजा-पुरजा कट मरे कबहुं न छांडे खेत।

कबीर की वाणी के उपर्युक्त अंश को जीवंत रूप प्रदान करने का जो निश्चय गोबिन्दराय जी ने किया था, उसी के अन्तर्गत दीन-हीन समाज को निर्भीक बनाने के लिए शस्त्र प्रदान करने की

---

२. विचित्र नाटक, ६/४२.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अनिवार्यता के भाव ने भी जन्म लिया। बाद में जो कृपाण की अनिवार्यता तथा अन्य पंच अस्त्रों को धारण करने की आवश्यकता के रूप में सामने आया। सामूहिक युद्ध में तो शस्त्र की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता, एकाकी सैनिक के मनोबल को भी ऊँचा रखने के लिए शस्त्र से संबद्धता का मनोवैज्ञानिक आधार तभी ग्रहण कर लिया गया होगा। शिष्यों के बाह्य पहचान-चिह्नों के अभाव से होने वाली क्षति से उनकी वेशभूषा तय करने का विचार भी पिता के बलिदान के क्षण ही गोबिन्द राय के मस्तिष्क में कौंधा होगा, कालांतर में जिसने 'पंच ककार' (केश, कंघा, कच्छा, कड़ा, कृपाण) का रूप लिया। साथ ही समाज में फैले आपसी भेदभाव, छुआछूत आदि बुराइयों के प्रति सरोकार ने "हरि हरिजन दुई एक हैं"[३] के भाव को पुख़्ता किया। इस सिद्धांत को मूलाधार बनाये बिना, विच्छृंखलित समाज को एक धरातल पर एकत्र करना संभव ही न था।

नौ वर्षीय गुरु के लिए यह कठिन परीक्षा का समय था। इतने बड़े संकल्प के साधने के लिए उससे भी गुरुतर तैयारी की अपेक्षा थी, आंतरिक और बाह्य—दोनों परिस्थितियाँ जिसके प्रतिकूल थीं। पिता गुरु तेगबहादुर के गुरु-गद्दी पर बैठने के समय से ही परिवार में गुरुपद से जुड़े हुए कई प्रकार के झंझट थे, जो अभी समाप्त नहीं हुए थे। उनके अपने संबंधी भी व्यक्तिगत कारणों से उनके प्रति द्वेष भाव रखते थे और उन्हें हानि पहुँचाने का कोई अवसर न छोड़ सकते थे। दूसरे, सत्ता का मुकाबला करने के लिए अपेक्षित धन, सामग्री, अस्त्र-शस्त्र आदि की चर्चा न भी की जाए तो भी शूरवीरों के अभाव में शीघ्र ही किसी प्रकार के टकराव की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। जहाँ तक जनता से सहयोग प्राप्त करने का सवाल था, चारों ओर नज़र दौड़ाने पर ऐसे ही लोग दिखाई देते थे, जो पूरी तरह निःसत्व हो चुके थे। औरंगज़ेब के नाम से काँपने वाले, आत्मग्लानि के शिकार ऐसे लोगों से समाज भरा हुआ था, जिनमें साहस और हिम्मत का नामोनिशां न था, जिनके रक्त में स्वाभिमान की ऊष्मा ठंडी हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त एक और बात महत्त्वपूर्ण थी, वह यह कि पंजाब में मुगलों का शासन अन्य राज्यों की तुलना में अधिक दृढ़तापूर्वक स्थापित था। पंजाब का प्रांत सबसे पहले विजय किया जा चुका था। काबुल और दिल्ली के बीच होने के कारण इस प्रांत का पूरी तरह निरीक्षण किया जाता था और अत्यंत दृढ़ता तथा बल के साथ वहाँ का शासन होता था। वहाँ पर मुसलमान प्रजा की संख्या सबसे अधिक थी और बहुधा कृषक होने के कारण पंजाब में ये लोग सबसे अधिक बलवान थे—उनसे यह आशा रखना कि वे किसी ऐसी चेष्टा के साथ सहमत हों, जिसका उद्देश्य मुसलमानी राज्य को उखाड़ फेंकना हो, सर्वथा असंभव था।[४] इन परिस्थितियों में मानवता के उन आदर्शों की प्राप्ति नितांत असंभव प्रतीत होती थी, जिन्हें प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय गुरु गोविन्द सिंह ने पिता की मृत्यु के बाद मन-ही-मन कर लिया था। असमानता, अत्याचार एवं अन्याय से मुक्त जिस स्वतंत्र-स्वाधीन समाज की कल्पना गुरु जी के दिलो-दिमाग पर छाई थी, ऐसे हालात में वह दूर की कौड़ी जान पड़ती थी। मानवता के जिस विशाल एवं भव्य

---

३. विचित्र नाटक, ६/६०.
४. Transformation of Sikhism, P. 122

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

प्रासाद की उन्होंने कल्पना की थी, उसकी नींव के लिए पत्थर तक जुटाना भी असंभव प्रतीत हो रहा था।

इन परिस्थितियों में गुरु ने अत्यंत धैर्य एवं दूरदर्शिता से काम लिया। धैर्यशीलता, आत्मविश्वास एवं सूझ-बूझ का परिचय तो वे पहले भी दे चुके थे, जब उन्होंने पिता को बलिदान के लिए प्रेरित किया था तथा तब, जब लोहे के पिंजरे में बंद पिता ने शरीर त्याग देने के निश्चय से उनके पास निम्नलिखित श्लोक लिखकर भिजवाया था—

बलु छुटकिओ बंधन परे कछु न होत उपाई।
कहु नानक अब औट हरि गहि जिउ होहु सहाइ।

(गुरु प्रताप सूरज, १२/६२)

और उत्तर में उन्होंने निम्न श्लोक लिखकर पिता के पास भेजा था, जिससे पिता को यह विश्वास हो गया था कि उनके पश्चात् वह गुरु-गद्दी के उत्तरदायित्व का वहन भली प्रकार कर पायेगा—

बलु होआ बंधन छुटे सभी किछु होत उपाइ।
नानक सभ किछु तुमरै हाथ में तुम ही होत सहाई।

(गुरु प्रताप सूरज, १२/६३)

यों धर्म और कर्तव्य को भलीभाँति समझने की स्थिति तक वे पिता के बलिदान से पूर्व ही पहुंच चुके थे, किंतु संकट की इन घड़ियों में उनकी उस सामर्थ्य की परीक्षा होनी बाकी थी, जिसमें पिता ने विश्वास प्रकट कर उन्हें गुरु-गद्दी सौंपी थी। कहना न होगा, परिस्थितियों को समझने तथा उन्हें अपने पक्ष में संयोजित करने और उनसे मनोनुकूल परिणाम निकालने का जैसा अद्‌भुत कार्य गुरु द्वारा संभव हुआ, वह अपने आप में अलौकिक चमत्कार से कम नहीं जान पड़ता। ज़रा सोचकर देखें, नौ वर्षीय बालक की क्षमता और उस पर शक्तिशाली मुगल सत्ता का दूर-दूर तक फैला आतंकवादी साम्राज्य—और चारों ओर उसके भय से सूखे पत्ते की तरह काँपती जनता। कैसे संभव हुआ होगा ऐसे साम्राज्य से टक्कर लेना?

इन परिस्थितियों में ही गुरु जी ने राज्य व्यवस्था का भार ग्रहण किया तथा यथाशक्ति धर्म का संचालन किया। ऐसा ही कथन वे स्वयं 'विचित्र नाटक' में भी करते हैं—

राज-साज हम पर जब आयो, जथा सकत तब धर्म चलायो।

(विचित्र नाटक, ८/१)

गुरु जी यह भी समझ रहे थे कि वे मुगलों की शक्तिशाली सेना के विरुद्ध जेहाद खड़ा कर पाने की स्थिति में भी नहीं हैं। औरंगज़ेब जैसे धर्मान्ध शासक से टक्कर लेना, जिसकी कट्टरता सदा मानवीय मूल्यों पर हावी रही हो, मानवतावाद के प्रशंसकों के लिए अत्यंत जोखिम का काम था। शासक की नीतियों की नृशंसता के अनुपात से ही अपने नीति निर्धारण में बरती जाने वाली सजगता एवं कुशलता का परिमाण तय करना था। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह थी कि जिस आयोजन की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कल्पना गुरु कर रहे थे, उसके लिए आवश्यक तैयारी करने के लिए समय, धन अथवा अन्य अस्त्र-शस्त्रादि युद्धोपयोगी सामग्री के अभाव के बावजूद उन्हें विश्वास था कि वे उन व्यक्तियों में से भी नेता उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखते हैं, जिनमें अपने निर्णय भी स्वयं करने का साहस नहीं है। वे अपने इस निश्चय पर दृढ़ थे कि वे उन सामान्य लोगों में से भी कुशल नेतृत्व करने वाले राजा उत्पन्न कर सकते हैं, जो धर्म-भीरु हैं, शस्त्र के नाम से जिनकी रूह काँपती है। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि सामान्य हिन्दुओं को ही वे राज्य करने की रीति सिखाकर सरदार बनायेंगे तथा उनमें सवा लाख विधर्मियों से अकेले ही जूझने की सामर्थ्य उत्पन्न करेंगे—

इनही से राजे उपजाऊ। राज करन की रीति सिखाऊं॥
इनही को सरदार बणाऊं। तबै गोबिन्द सिंह नाम कहाऊं॥

(प्रो. कर्त्तार सिंह, जीवन कथा श्री गुरु गोबिन्द सिंह, पृ. ४५)

गुरु जी जानते थे कि चित्तवृत्ति के अभाव में किसी भी कार्य से सफल होने का पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता, भले ही उसके लिए आवश्यक साधन एवं समस्त सामग्री जुटा ली गई हो। इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वह मनोभाव है, किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य के भली-भाँति संपादित होने के मूल में जिसकी उपस्थिति अनिवार्य है। फिर धर्म युद्ध जैसे महान कार्य में, जिसका आयोजन वे तद्‌युगीन दुष्टों के खिलाफ़ करने जा रहे थे, मनोवृत्ति की मौजूदगी उससे भी बेहतर होनी आवश्यक थी, जिस तरह धार्मिक अनुष्ठानों आदि को सुचारु रूप से संपादित करने के लिए होती है। कारण, कि जिस सत्ता की खिलाफ़त वे करने जा रहे थे, उसके समर्थक संख्या में तो अगणित थे ही, वे अत्याचारी एवं क्रूर थे तथा साधन, सामग्री, शस्त्रास्त्र आदि की दृष्टि से भी संपन्न थे। युद्ध-कौशल एवं रण-संचालन की नीतियों से भी वे अनभिज्ञ न थे। जबकि गुरु जी को अपने महत् उद्देश्य की ओर बढ़ते हुए जिस वर्ग को साथ लेना था, उसमें और शासक वर्ग में जमीन-आसमान का फ़र्क था। तब क्या यह समझ लिया जाता कि दानवी प्रवृत्ति वाले ऐसे आततायी शासकों से पार पाना निर्बल हिन्दू समाज के बस की बात नहीं ?

संत-सिपाही गुरु गोबिन्द सिंह ऐसी मिट्टी से बने ही न थे, जो हल्के से प्रहार को भी न सह सकें। उनके व्यक्तित्व का पूरा ढाँचा ऐसे फौलाद से बना था, भयंकर विपत्तियों की आँच भी जिसे कुन्दन ही बना सकती थी। वे ऐसे महामानव थे, जो प्रतिकूल परिस्थितियों से हार मानने वाले न थे, अपितु परिस्थिति जितनी कठोर और दुर्धर्ष हो, वे उससे भी बड़े संकल्प से उससे जूझने का साहस रखते थे। यह परिस्थितियों की प्रतिकूलता की सघनता ही थी, जिसने गुरु गोबिन्द सिंह को उनका सर्वोत्तम इस्तेमाल करने की ओर प्रेरित किया।

इतने बड़े पैमाने पर बदलाव लाने से पूर्व समाज के बुनियादी ढाँचे में कुछ परिवर्तन करना अनिवार्य था। जैसा कि कहा जा चुका है कि बदलाव के लिए जैसी सुनिश्चित, पूर्व निर्धारित योजनाबद्ध पद्धति की आवश्यकता हो सकती थी, उसके लिए समय, सुविधाएँ एवं सामग्री आदि अत्यल्प थे। किंतु फिर भी, गुरु गोबिन्द सिंह ने इन परिस्थितियों में ही निर्णय लेना था। यदि कोई

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दृढ़ आधार था भी, तो वह गुरु जी का अपना निर्भीक, निडर और शक्तिशाली व्यक्तित्व था। जिसमें ऊर्जा और उत्साह के साथ-साथ मानवीय करुणा का ऐसा अजस्र स्रोत था, जो किसी बड़वाग्नि अथवा दावाग्नि के चलते शुष्क नहीं हो सकता था। और थी--विलक्षण प्रतिभा एवं अद्भुत नियोजन क्षमता, जिसके मणिकांचन योग के समक्ष भीषण से भीषण आपदायें भी पानी भरती थीं। इन्हीं बुलन्द स्तंभों का सुदृढ़ आधार लेकर नए समाज की रचना होने जा रही थी। अनेक झंझावात झेलकर भी समाज यदि आज दृढ़तापूर्वक टिका हुआ दिखाई देता है, तो इसके पीछे गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा प्रदत्त पुख़्ता आधार है, समाज की स्थिरता में जिसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका को नकारा नहीं जा सकता।

गुरु जी की कल्पना का समाज ऐसा था जिसमें पौरुष, दृढ़ता एवं सशक्तता की निर्मल स्वच्छ धाराएँ नपुंसकता, आत्म-विश्वासहीनता एवं कायरता के काई युक्त गँदले पानी का स्थान ले सकें। इतिहास साक्षी है कि सर्वस्व बलिदान करके भी गुरु जी ने इस स्वप्न को साकार रूप प्रदान किया। ऊपर चित्तवृत्तियों में परिवर्तन की जिस आवश्यकता की चर्चा की गई थी वह भी कोई सरल काम न था। सदियों से गुलामी की मार सहते-सहते जिस जनता की अवरोध शक्ति चुक गई हो, शासक के आतंक से लम्बे समय से पीड़ित एवं हतोत्साहित होकर जिसका मनोबल टूट चुका हो, जिसने पराधीनता को ही नियति मान लिया हो, आपसी फूट और भेदभाव ही जहाँ कुंठा की अभिव्यक्ति के साधन रह गये हों, ऐसे समाज से रातों-रात कर्म भूमि की पुकारें सुन पाने की आशा लगाये बैठना व्यर्थ था। धर्म की साधारण जीवन से बढ़ती दूरी, मिथ्याडंबर, परस्पर अविश्वास, उत्तरदायित्वहीनता, अकर्मण्यता आदि के परिणामस्वरूप उपजी तटस्थता जहाँ अपनी जड़ें मजबूत किए बैठी हो, वहां इससे इतर की आशा भी नहीं की जा सकती थी।

लेकिन इस प्रकार की सोच हम जैसे साधारण मानवों की हो सकती है। गुरु जी का तो जन्म ही मानवता के पथ को आलोकित करने के लिए हुआ था। पीड़ित त्रस्त मानवता का संबल बनने वे स्वयं सतलोक से अवतरित हुए थे। भले ही वे स्वयं को अवतार मानने वालों की निन्दा करते रहे हो, किन्तु मानवता की रक्षा के लिए किए गये उनके कार्यों का महत्त्व धर्म की हानि के समय पृथ्वी पर जन्म लेने वाले अवतारों से कम नहीं माना जा सकता।

जिस लक्ष्य तक उन्हें पहुँचना था उसके लिए निरंतर निष्काम कर्म भावना और धार्मिक अनुष्ठान की सी जिस निष्ठा की आवश्यकता थी, गुरु गोबिन्द सिंह में उसका अद्भुत स्रोत दिखाई देता था। यही कारण है कि समाज के रूपांतरण की संपूर्ण योजना के एक-एक पहलू को उन्होंने अच्छी तरह सोच-विचार कर पहले ही से तय कर रखा था, यहाँ तक कि योजना के पहलू विशेष की क्रियान्विति पर समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का पूर्व आकलन उसके, प्रतिपक्ष की योजना आदि के साथ-साथ आकस्मिक संयोगों अथवा अनियमितताओं से निपटने के पूर्व प्रावधान आदि भी इसमें अत्यंत सहज रूप से समाहित थे। पिता के बलिदान के क्षण से करीब ढाई दशक तक अपने स्वप्न को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए की गई कठिन साधना जिसका एक अंग थी। इस दौरान समाज के विभिन्न

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पहलुओं का आकलन, उसके आचार-व्यवहार, रीति-नीति, क्षमता, प्रवृत्ति आदि का अध्ययन, नियोजन कला, सामूहिक मनोविज्ञान आदि की जानकारी, शस्त्र-संचालन, विभिन्न शास्त्रों एवं संस्कृति का ज्ञान, पौराणिक ग्रंथों का अध्ययन और न जाने कितना कुछ इतने लम्बे दौर में गुरु जी की दिनचर्या में इसलिए समाहित रहा ताकि उनका चिर स्वप्न 'खालसा' के रूप में आकार ग्रहण कर सके।

उसके लिए अपेक्षित तैयारी के पहले सोपान के रूप में गुरु जी ने पिता के बलिदान के प्रारंभिक लगभग आठ वर्षों तक आनंदपुर में ही रहने का निर्णय किया। बचपन में प्राप्त आध्यात्मिक ज्ञान का संचित कोष, धैर्य एवं आत्मविश्वास उनका सबसे बड़ा संबल बना। खेल-खेल में सीखे शस्त्र-संचालन ने अब वास्तविक सैनिक-संगठन एवं संचालन का रूप धारण कर लिया। पता ही न चला कब खेल-खेल में अपने साथियों को शस्त्र-विद्या, युद्ध-नीति, तीर-कमान, तोप आदि चलाने की जानकारी देने वाले बालक गोबिन्द ने गुरु गोबिन्द का रूप धारण कर लिया और अपने शिष्यों को शस्त्र संचालन, आखेट, व्यायाम, घुड़सवारी आदि की शिक्षा देनी शुरू कर दी। शिष्य समुदाय को उन्होंने अन्य उपहारों के स्थान पर अस्त्र-शस्त्र आदि लाने का आदेश दिया। बचपन में सीखी भाषाएँ इस समय विद्योपार्जन में सहायक सिद्ध हुईं। उन्होंने विभिन्न धर्मग्रंथों एवं महापुरुषों की जीवनियों, पौराणिक ग्रंथों आदि का नियमित अध्ययन शुरू किया तथा अपने शिष्यों को भी इनका ज्ञान कराया। उन्होंने पौराणिक ग्रंथों, 'महाभारत', 'रामायण' आदि में से सामरिक चेतना के अनुकूल अंशों का अनुवाद भी करवाया। सुदूर प्रदेशों से आये कवियों को अपने यहाँ आश्रय तो दिया ही, स्वयं भी काव्य-रचना कर अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में उसका सार्थक उपयोग किया।

गुरु के सर्वतोमुखी प्रयासों से थोड़े ही समय में उनकी वीरता एवं शौर्य की कीर्ति चारों ओर फैलने लगी। दूर-दूर से भक्त उनके दर्शन के लिए आने लगे। अनेक संभ्रांत व्यक्ति उनसे अपनी पुत्रियों का विवाह करने की इच्छा रखते थे। लाहौर निवासी सुभिखिया क्षत्री ने २३ आषाढ़ संवत् १७३४ (ई. १६७७) में गोबिन्द सिंह जी से अपनी सुपुत्री जीतो देवी का विवाह कर दिया।[५]

कुछ समय पश्चात् गुरु जी निकट के पहाड़ी राज्य सिरमौर में चले गये। यहाँ उन्होंने पाँवटा नामक स्थान में यमुना किनारे डेरा डाला[६] तथा १६८९ ई. तक इस एकांत स्थान में रहकर पठन-पाठन द्वारा अपने ज्ञान को समृद्ध किया, उन्होंने प्रभु-नाम-स्मरण से चित्त की स्थिरता हासिल की, और लगातार चिन्तन-मनन कर अपनी विचार शक्ति को और अधिक पैना बनाया। उन्होंने काव्य-रचना द्वारा अपनी हृदयगत भावनाओं को अभिव्यक्त कर, उद्देश्य साधन की दिशा में उनसे पूर्व पीठिका का निर्माण किया। कालान्तर में उनके शिष्य भारत, लंका, अफगानिस्तान, तिब्बत और मध्य एशिया

---

५. MThe Sikh Religion Vol. V, P.2.

६. देस चाल हम ते पुनि भयई। सहिर पांवटा की सुधि लयई।
कालिंदी तट करे बिलासा। अनिक भाति के पेख तमासा।
—विचित्र नाटक, ८/२

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

में वहाँ-वहाँ तक पहुँचे, जहाँ गुरु नानक की वाणी पहुँची थी।

इन डेढ़ दशकों में एकाग्रता के साथ किये गये अध्ययन, चिन्तन-मनन एवं विचार विश्लेषण के क्रम में गुरु गोबिन्द सिंह ने सर्वप्रथम जातीय भेदभाव से घिरे रुग्ण समाज को एक धरातल पर लाकर खड़ा करने और उनमें परस्पर सौहार्द उत्पन्न करने का निश्चय किया ताकि सबके हृदय में निर्धारित नीति का अनुसरण करने की प्रेरणा में समान भाव से जागृत हो। इसके साथ ही उन्होंने उन्हें भय से मुक्ति दिलाने तथा निर्भीकता से शत्रु का सामना करने में समर्थ बनाने के लिए उनकी चित्तवृत्ति में परिवर्तन लाने तथा शस्त्र की आवश्यकता भी महसूस की। इन सब के लिए उचित राह तलाशने की आवश्यकता थी। मनोविज्ञान के पारखी गुरु गोबिन्द सिंह जैसे महामानव ने शीघ्र ही तय कर लिया कि उन्हें भक्ति की राह से गुजरते हुए युद्ध क्षेत्र तक पहुँचना है क्योंकि वे यह बखूबी समझते थे कि जो समाज सदियों से अपने पोषण के लिए धर्म से खुराक प्राप्त करता रहा हो, उसके उपचार का विधान भी धर्म को हाशिए में डालकर नहीं खोजा जा सकता।

जैसा कि कहा जा चुका है, जातीय भेदभाव से घिरे, भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं के पूजकों के परस्पर वैर-विरोध का शमन कर उन्हें एकमात्र शक्ति की उपासना की ओर प्रेरित करने के लिए गुरु जी ने परस्पर विरोधी गुणों से युक्त, 'अकाल पुरुष' की संकल्पना की। 'अकाल पुरुष' का नवीन रूप ईश्वर के पूर्व प्रचलित रूपों से साम्य भी रखता था, और वैषम्य भी, जो गुरु जी की नवीन अवधारणा क्षमता का भी सूचक था। अंधविश्वासों, बाह्याचारों आदि से दुखी हिन्दू जनता गुरु गोबिन्द सिंह के अकाल पुरुष रूपी सुधारवादी आईने में अपने इष्ट देव के बदले हुए आकर्षक रूप को देखकर रीझ उठी और उसके हर रूप का अनुकरण करने के लिए तत्पर हो उठी। भक्तों के मनोभाव को ऐसी उठान देकर गुरु ने 'अकाल पुरुष' को हाथों में शस्त्र धारण कर दुष्टों के संहार में रत दिखा दिया, तेग तथा अन्य शस्त्रों और यहाँ तक कि धर्म-युद्ध को भी परमात्मा मान लिया। उन्होंने स्वयं तो ऐसे शक्ति रूपी प्रभु की आराधना की ही, अपने शिष्यों को भी ऐसा करने की प्रेरणा दी, मनोभूमि की अनुरूपता जिसमें सहायक सिद्ध हुई। इससे भी एक कदम आगे बढ़कर गुरु जी ने धर्मयुद्ध में दुष्टों का नाश करने वाले योद्धाओं को भी अकाल पुरुष का रूप स्वीकारा। कारण, कि वे उन्हें उन साधारण लोगों से श्रेष्ठ बताना चाहते थे, जो चुपचाप अत्याचार सहते हैं और अपने अधिकारों की माँग नहीं करते। अत्याचार सहने को भी पाप बताकर उन्होंने उसकी खिलाफ़त के लिए शस्त्र उठाने को धार्मिक कार्य के समकक्ष बताया। उन्होंने शिष्यों के हृदय में यह भाव उत्पन्न किया कि किसी भी पवित्र और धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए रणभूमि में वीरतापूर्वक किए गये युद्ध से बढ़कर धार्मिक कार्य अन्य कोई नहीं हो सकता और ऐसा युद्ध करते हुए प्राप्त की गई वीरगति ही अनन्य शुभ कार्य है—

देहु सिवा वर मोहि इहे, सुभ कर्मन ते कबहुं न टरौं।
न डरौ अरि सौं जब जाय लरौ निसचै करि अपनी जीत करौ।
अरू सिख हौ अपने ही मन कौ, इह लालच हौं गुण तौ उचरौ।
जब आव की अवध निदान बने, अति ही रन में तब जूझ मरौ।

(चंडी चरित्र उक्ति विलास, २३१)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आयु की अवध निदान बनने पर युद्ध भूमि में धर्मयुद्ध के लिए उतर पड़ना ही प्रत्येक क्षत्रिय का कर्त्तव्य होना चाहिए, ऐसा उन्होंने समझाया, "**छत्री को पुत हो बामन को नाहि, कै तपु आवत है जो करौ**"[७]—जैसी प्रेरणादायक उक्तियों से वे युवकों को सच्चे क्षत्रिय की तरह युद्ध लड़ते-लड़ते वीरगति पाने की प्रेरणा देते रहे। पौराणिक कथाओं में से अनुकूल अंश छाँटकर, देवी-देवताओं के असुरों के संहार के लिए किए गये युद्धों के माध्यम से गुरु जी ने यह स्पष्ट किया कि दुष्टता एवं अनाचार का विरोध प्रत्येक युग में होता आया है। ऐसा करना मानवता की रक्षा करना है, तथा धर्म का कार्य है। स्वाभाविक है कि बिना शस्त्र धारण किये धर्म के इस कार्य को संपादित करना संभव नहीं। इस प्रकार जनता की संपूर्ण श्रद्धा को एक बिन्दु पर केन्द्रित कर युद्ध और धार्मिक अनुष्ठान को एकीकृत रूप में प्रस्तुत कर गुरु जी अपने लक्ष्य तक पहुँच पाये। अन्याय के विरुद्ध लड़े जाने वाले युद्धों को धर्म युद्ध की संज्ञा देकर, आध्यात्मिक मूल्यों को युद्ध के साथ जोड़कर वे भक्तों के हृदय में युद्धोत्साह उत्पन्न करते हुए उन्हें युद्ध क्षेत्र तक ले जाने में सफल हुए। यही उनका लक्ष्य भी था—

अवर वासना नाहि प्रभु, धरम जुद्ध को चाई।

(कृष्णावतार, २४९९)

इतना ही नहीं, इससे भी आगे बढ़कर गुरु गोबिन्द सिंह ने शस्त्रों के प्रति पूज्य भाव उद्‌बुद्ध कर, उन्हें ईश्वर मानकर उनकी स्तुति की तथा उनसे अपनी रक्षा और दुष्टों के संहार की प्रार्थना की—

नमस्कारयं मोर तीरं तुफंगं। नमो खग्ग दग्णं अभेवं अभंगं।
गदायं गरिस्टं नमो सैहथीयं। जिनै तुल्लियं वीर बीथोन बीयं।

(विचित्र नाटक १/८०)

दुर्जनों का हनन करने वाली आरे के समान उज्ज्वल, रक्त में स्नान करने वाली मदमस्त कृपाण जिन्हें विजयपत्र प्रदान करने के लिए तत्पर हो, ऐसे युवकों को भला किस की सत्ता भयभीत कर सकती है। कृपाण का साहचर्य यदि उनमें अनोखे आत्मविश्वास का संचार कर उन्हें अद्‌भुत सामर्थ्य से युक्त कर देने के लिए पर्याप्त हो गया, तो यह स्वाभाविक ही था।

इस प्रकार समाज का रूपांतरण करने के लिए एक अनिवार्य स्थिति के तौर पर उभरी शस्त्र की आवश्यकता प्रभु नाम के साथ जुड़कर नाम-स्मरण एवं नाम-जाप को शस्त्र-स्मरण एवं शस्त्र-जाप तक ले आई। 'तुही तुही तुही तुही'—का जाप करने वाले भक्त साधक ही ऐसे वीर योद्धाओं में परिवर्तित हो गये जो हृदय में 'तुही तुही' धारण कर मुख से 'तेग-तेग, शस्त्र-शस्त्र' का उच्चारण करते हुए हाथ में शस्त्र धारण कर शत्रु पर टूट पड़ने के लिए आकुल हो उठे—

तद्‌युगीन समाज की आवश्यकता को पहचान कर उसे युद्ध दर्शन के रूप में ऐसी अद्‌भुत भेंट प्रदान करना गुरु गोबिन्द सिंह जी के ही बस की बात थी। आगे इसी अध्याय में जिसकी चर्चा

---

७. अकाल उस्तत, ८८.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

विस्तारपूर्वक की गई है। समाज को मुक्ति की दिशा में तत्पर करने के लिए गुरु के मस्तिष्क में निरंतर ऐसी मौलिक उद्भावनाएँ निर्बाध गति से प्रवाहित होने वाले जल की भाँति उत्पन्न होती रहतीं मानवता के संरक्षण में जिनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। लीक-लीक चलने के स्थान पर समाज के लिए उपयोगी परंपरा का सूत्रपात एवं नवीन मूल्यों की सर्जना करना गुरु जी के व्यक्तित्व का प्रमुख अंग बन चुका था। इसी कारण धर्म की राह से गुजरते हुए वे रणभूमि में पहुँच गये और उत्पीड़ित मानवता के लिए मुक्ति दूत बन गये। धर्म साधना के माध्यम से समाज को सुरक्षा, स्थायित्व एवं संरक्षण प्रदान करने का उनका यह प्रयास मौलिक तो है ही, अपने आप में विस्मय से चकित कर देने वाला भी है। ऐसी विशिष्ट धर्म साधना निःसंदेह श्लाघ्य है, जो केवल परलोक सुधारने तक ही सीमित नहीं, अपितु जिसका क्षेत्र सामाजिक उत्तरदायित्वों के घेरे से प्रारम्भ होकर संपूर्ण मानवता के हित साधन तक फैला हुआ है। भक्ति की परंपरा को शक्ति की ओर उन्मुख करके तथा ज्ञान की विरासत को कर्म के साथ-संबद्ध करके गुरु जी कितने सहज ढंग से इस महान उद्देश्य को प्राप्त कर पाने में सफल हुए, इसे देखकर आश्चर्य होता है।

यह आकस्मिक नहीं है कि उनकी समूची काव्य चेतना, भले ही वह भक्ति हो अथवा अन्य कोई भावधारा, युद्ध दर्शन की इसी धुरी में अपनी सार्थकता तलाश करती दिखाई देती है। पौराणिक रचनाओं के कतिपय कथा प्रसंगों को वीर काव्य का रूप देकर उन्हें प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करना उनके इसी सरोकार का परिचायक है। पाँवटा में रहते हुए लिखी गई 'कृष्णावतार' का उद्देश्य भी यही है। भगवान कृष्ण के योद्धा रूप को उद्घाटित करने में दृष्टि से लिखी गई यह रचना सन् १६८८ ई. में संपूर्ण हुई।[८] प्रस्तुत काव्य में भगवान कृष्ण द्वारा लड़े जाने वाले युद्धों का अत्यंत सजीव चित्रण करते हुए गुरुजी एक-एक उक्ति, घटना, वर्णन आदि का चयन इस भाँति करते हैं कि जिससे पाठकों पर ठीक वैसा प्रभाव उत्पन्न हो, जैसा वे चाहते हैं। गुरु जी के काव्य में वीरों द्वारा लड़े गये ऐसे युद्धों के चित्रण कोरे चित्रण नहीं हैं, उनमें विचारों का सुन्दर उपयोग किया गया है। वस्तुतः युद्ध की जो मानसिकता वर्तमान में थी, गुरु जी उसे अतीत में ले जाते हैं और कृष्णादि को वैसे ही लड़ते हुए दिखाते हैं, जैसा कि वर्तमान में योद्धाओं का मुगलों के साथ लड़ना अभिप्रेत है। उनकी मानसिकता अतीत में जाती है और अनुकूल चित्रों का सृजन कर फिर वर्तमान में लौट आती है। वर्तमान को अतीत से संपृक्त कर वे जनमानस को उससे जोड़ देते हैं तथा सांस्कृतिक गौरव, देश-प्रेम एवं स्वाभिमान आदि उदात्त भावों की व्यंजना करते हैं। वे प्रभु से कुछ माँगते भी हैं, तो सदैव धर्म युद्ध में संलग्न रहने का वरदान—

---

८. सत्रह सै पैताल महि सावन सुदि थिति दीप।
नगर पांवटा सुभकरन जमना बहै समीप॥
दसम कथा भागौत की भाखा करी बनाई।
—कृष्णावतार, २४९०-९१

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हे रवि, हे ससि, हे करुनानिधि। मेरी अबै विनती सुन लीजै।
अउर ना मांगत हँउ तुमते कछु, चाहत हउ चित्त मैं सोई कीजै।
ससत्रन सों अति ही रन भीतर जूझि मरो। कहि सांच पतीजै।
संत सहाहि सदा जग माहि क्रिपा कर स्याम इहै वर दीजै।

(कृष्णावतार, १९००)

साहित्य रचना एवं युद्धाभ्यास की दिनचर्या में सांसारिक उपलब्धियाँ भी होती थीं, किंतु गुरु की दिनचर्या न दुख की किसी घटना से आघातित हुई, न सुख की। इस बीच वे माता के आग्रह से रामशरन जी की पुत्री सुन्दरी जी से सन् १६८१ ई. में दूसरा विवाह कर चुके थे और उन्हीं की कोख से संवत् १७४५ में ही वैशाख मास में (सन १६८८ ई.) उन्हें प्रथम पुत्र रत्न अजीत सिंह की प्राप्ति हुई। मंगलोत्सव के बाद प्रतिदिन की तरह धार्मिक उपदेश तथा सैनिक शिक्षा का कार्य भी पूर्ववत् चलता रहा। गौर करने की बात यह कि गुरु जी के प्रथम विवाह के करीब ग्यारह वर्ष पश्चात् उनकी प्रथम संतान ने जन्म लिया था, किंतु पुत्र-जन्म से आह्लादित पिता ने अपने कर्त्तव्य-कर्म से एक दिन के लिए भी अवकाश ग्रहण नहीं किया। सुख-दुख में समभाव की ऐसी अनुभूति कोई महान आत्मा ही कर सकती है। वे महापुरुष, जिन्हें समाज में युगांतरकारी परिवर्तन लाना होता है, अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को उद्देश्य ही को समर्पित करते हैं। हर्ष-विषाद सभी स्थितियों में उनकी दृष्टि लक्ष्य ही पर टिकी रहती है, जिससे पलभर के लिए भी विचलन उन्हें स्वीकार नहीं होता, एक दिन की बात तो बहुत दूर की है। गुरु गोबिन्द सिंह ऐसे ही युगपुरुष थे।

पाँवटा निवास के दौरान गुरु जी साहित्य-रचना के साथ-साथ अन्य ऐसे अनेक कार्य भी सुचारु रूप से करते रहे, जिनसे भविष्य के बारे में उनकी योजना को सुदृढ़ आधार प्राप्त हुआ। शिकार, घुड़दौड़, शस्त्राभ्यास आदि उनकी दिनचर्या में सम्मिलित था। पाँवटा निवास के दौरान ही गढ़वाल का राजा फतेह शाह अकारण ही उन पर क्रुद्ध हो गया और अपने साथी राजाओं के साथ वह गुरु जी से युद्ध करने के लिए पाँवटा की ओर बढ़ा।[१] इस युद्ध का विस्तृत वर्णन गुरु जी ने 'विचित्र नाटक' में किया है। फतेहशाह के साथ यह युद्ध अप्रैल १६८९ ई. में पाँवटा से ६ मील की दूरी पर स्थित भंगाणी गांव में लड़ा गया। इस युद्ध को भंगाणी युद्ध भी कहा जाता है। हालाँकि गुरु गोबिन्द सिंह के जीवन का यह प्रथम युद्ध था।और पहले से इसके लिए कोई तैयारी की गई हो ऐसा भी नहीं था, किंतु फिर भी इस युद्ध में उन्हें अद्‌भुत सफलता मिली।

गुरु गोबिन्द सिंह ने वीर योद्धा संगोशाह और उसके चार भाइयों—गुलाबराय, जीतमल, संगतिया तथा लालचंद—के साथ सेना को भंगाणी के मैदान में भेजा। युद्धक्षेत्र में इन वीरों ने

---

१. फतेहशाह कोपा तबि राजा,
लोह परा हम सो बिनु काजा।
—विचित्र नाटक, ६/२

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भयंकर मारकाट मचा दी और असंख्य खान तथा पठान सैनिकों को मार गिराया—

कृपौ माहरु, काहरु रूप धारे।
जिनै खान खावीनियं खेत मारे।
कृपौ देव तेसं दयाराम जुध्धं।
क्रियो द्रोण की ज्यूं महाजुध्ध सुध्धं।

(विचित्र नाटक,८/६)

जब बुद्धूशाह के दो पुत्र वीरतापूर्वक लड़ते हुए शहीद हो गये और संगोशाह ने भी वीरगति पाई तथा जीतमल भी हरिचंद के बाण से मूर्च्छित हो गया, तब गुरु जी स्वयं युद्ध भूमि में उतरे। उनके तीरों की बौछार के समक्ष पहाड़ी सेना टिक न सकी। तब राजा हरिचंद युद्ध करने के लिए आया। उसने तीन तीर निशाना साधकर मारे। लेकिन गुरु जी का बाल भी बाँका न कर सका। गुरु जी ने निशाना बाँधकर एक बाण छोड़ा और हरिचंद धराशायी हो गया। इसका वर्णन करते हुए वे स्वयं लिखते हैं—

सबै बीर धाए सरोधं चलाए।
तबै ताकि बाणं हनौसो जुबानं।
हरीचंद मारे सु जोधा लतारे।
सु कारोड़ रायं कहै काल धायं।

(विचित्र नाटक,८/३२,३३)

हरीचंद की मृत्यु का समाचार सुनते ही पहाड़ी राजा सेना सहित मैदान छोड़ गये। फतेहशाह भी भाग कर श्रीनगर चला गया।[१०] गुरु जी की विजय से सिख सेना में उत्साह की लहर दौड़ गई। भंगाणी युद्ध में जिन पुरुषों ने भाग नहीं लिया था, गुरु जी द्वारा उन्हें नगर से निकाल देना[११] तथा युद्ध लड़ने वालों का यथोचित सत्कार करना उनकी नीति कुशलता को दर्शाता है। विजय प्राप्त कर गुरु जी पाँवटा लौटे, किंतु वहाँ रहना उन्हें रुचिकर प्रतीत न हुआ। वहां से वे कहलूर (हिमाचल प्रदेश का एक राज्य) पहुँचे।[१२] कहलूर के माखोवाल ग्राम (आनंदपुर) को उनके पिता गुरु तेग बहादुर ने

---

१०. फतेहशाह भाजियो। घरं जा विराजिओ।
नहा बैन बो लैं। समा सोई टोलै।
—गुरु विलास, पृ. १५८

११. जे जे नर तहंना भिरै, दीने नगर निकार।
जो तिहं ठौर भले भिरै, तिनै करी प्रतिपार।
—विचित्र नाटक, ८/३७

१२. जुहध जीत आये जबै। टिकै न तिन पुर पांव।
काहलूर मैं बांध्यो। आन आनंदपुर गांव
—विचित्र नाटक, ८/३६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया हुआ था। पिता के बलिदान के पश्चात् सैन्य-संगठन का कार्य प्रारम्भ करने के लिए गुरु जी ने इसी स्थान का चुनाव किया। यहाँ किये गये सैन्य निवास के दौरान शिष्यों को शस्त्र-संचालन, घुड़दौड़, व्यायाम तथा धनुष-बाण, शिकार आदि का अभ्यास कराना, शूरवीरों की विरुदावलियाँ सुनाना आदि कार्यों को उन्होंने अपनी दिनचर्या का अंग बना लिया। श्रेष्ठ जनों का उद्धार करने तथा दुष्टों को कष्ट दे-देकर मारने का काम यहाँ भी चलता रहा।[१३] आश्चर्य की बात तो यह थी कि युद्धादि विषयक कार्यों से सम्बन्धित व्यस्त दिनचर्या में भी साहित्य की शीतल जलधारा बराबर प्रवाहित होती रही। साहित्य और युद्ध कर्म का ऐसा अद्‌भुत सम्मिश्रण बहुत कम देखने को मिलता है। दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म हैं, दोनों को करने के लिए भिन्न-भिन्न मानसिकता की जरूरत है, किंतु गुरु एक ही समय में, समभाव से दोनों कर्म प्रतिपादित कर पाये। साहित्य की अन्तर्धारा ने गुरु जी को एक सहृदय योद्धा बनाया और रणस्थली के अस्त-व्यस्त जीवन ने एक यथार्थवादी साहित्यिक। न तो साहित्य-सृजन युद्ध भूमि में उनकी कर्मठता में न्यूनता ला सका, न युद्धकर्म उनकी रचनाशीलता में बाधक ही बना। बल्कि दोनों एक-दूसरे के पूरक बनकर एक नवीन समाज की रचना में सहायक हुए। सुबह-शाम की जाने वाली ईश स्तुति ने सभी सांसारिक कार्यों के प्रति संपूर्ण समर्पण एवं नैतिकता बोध की भावना को जन्म दिया। एक ओर ईश्वर से की गई प्रार्थनाओं ने आत्म-विस्मृति के क्षणों में 'जापु साहिब' तथा 'अकाल उस्तत' जैसी रचनाओं का रूप लिया जिसमें भक्ति भावना और दार्शनिक विचार उभर कर आये तो दूसरी ओर शस्त्रों को इष्टदेव मानकर की गई स्तुति 'शस्त्रनाममाला' के रूप में सामने आई, जिसमें विविध शस्त्रनामवाची प्रभु के नवीन रूपों के अनावृत्त करने की दृष्टि से कवि की काव्य प्रतिभा सचेष्ट हुई दिखाई पड़ती है। जिन बावन कवियों को गुरुजी ने दरबार में आश्रय दिया हुआ था, उनसे करवाये गये 'महाभारत', 'रामायण', 'श्रीमद्भागवद् गीता', 'चाणक्य नीति' आदि के अनुवाद भी विशिष्ट उद्देश्य के प्रति उनकी संलग्नता को दर्शाते हैं, पुस्तक में अन्यत्र भी जिस पर विचार किया गया है।

साहित्य के क्षेत्र में मौलिक उद्‌भावना की सामर्थ्य से युक्त गुरु सामरिक तैयारी के क्षेत्र में भी ऐसी ही उद्‌भावनाओं की क्षमता से संपन्न थे। उन दिनों राजा-महाराजाओं के पास नगाड़ा हुआ करता था, जिसे युद्ध तथा अन्य विशेष अवसरों पर प्रयोग में लाया जाता था। नगाड़े की ध्वनि को सेना को अनुशासित रखने तथा बहरे शासक वर्ग के कानों तक पीड़ित जनता का विद्रोही स्वर पहुँचाने की दृष्टि से उपयुक्त जानकर गुरु गोबिन्द सिंह ने रणजीत नगाड़ा तैयार करवाया, जिसे प्रतिदिन सुबह-शाम बजाया जाता। गुरु जी की माता ने उन्हें ऐसा न करने का सुझाव दिया, किन्तु निर्भीक एवं वीर गोबिन्द सिंह ने उनका सुझाव स्वीकार नहीं किया। नगाड़ा बजाकर उसकी दिल दहला देने वाली ध्वनि से वह अत्याचारी राजाओं को यह चेतावनी देना चाहते थे कि आततायी

---

१३. बहुत दिवस इह भांति बिताए, संत उबार दुस्ट सब धाए।
टांग टांग करि हने निदाना। कूकर जिमि तिनि-तजे पराना।
—विचित्र नाटक, ८/३८

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शासन से टक्कर लेने के लिए सिंहों की सेना तैयार हो चुकी है। नगाड़े की ध्वनि वास्तव में उनके हृदय में प्रज्वलित विद्रोह की अग्नि की सूचक थी। कालांतर में शत्रु सेना द्वारा अचानक किये गये आक्रमण के समय अपनी सेना को पल भर में इकट्ठा कर लेने के लिए नगाड़े की अत्यधिक उपयोगिता रही।

गुरु जी के प्रभावशाली व्यक्तित्व,उदारवादी दृष्टिकोण तथा कुशल सैनिक प्रशिक्षण के कारण हज़ारों शिष्य उनके पास युद्ध कला सीखने के लिए एकत्र होने लगे। शिष्य सैनिकों की बढ़ती संख्या के साथ-साथ समुचित मात्रा में शस्त्रास्त्र की आवश्यकता को समझते हुए गुरु जी ने दूर-दूर तक सिख समुदाय को हुक्मनामा भेजकर उनसे भेंट के रूप में अस्त्र-शस्त्र, धन, हृष्ट-पुष्ट घोड़े तथा युद्धोपयोगी अन्य सामग्री लाने के लिए कहा। अपनी सेना को शक्तिशाली बनाने की यह प्रक्रिया गुरु जी की दूरदर्शिता एवं सूझबूझ की परिचायक तो है ही,सैन्य संगठन एवं शक्ति अर्जन की उस योजना का महत्त्वपूर्ण सोपान भी है,जिसकी रूपरेखा का पूर्वनिर्धारण वे बहुत पहले ही कर चके थे।

उसी योजना की एक अन्य महत्त्वपूर्ण नीति, नवीन का ग्रहण एवं गलित का त्याग भी रही, जोकि गुरु जी के व्यक्तित्व की भी विशेषता थी। उनके शिष्य साल में एक बार उनके दर्शन करने आते तथा साथ में कुछ भेंट भी लाते थे। इनमें सभी वर्गों के शिष्य थे। गुरु जी ने अपनी भावी योजना को मद्देनजर रखते हुए मसन्दों की मध्यस्थता समाप्त कर,शिष्यों को सीधे उन्हीं के पास भेंट लाने का आदेश दिया।और पैसे के स्थान पर उन्होंने उनसे युद्धोपयोगी सामग्री मंगवाई। गुरु नानक के संदेश प्रचार करने तथा भक्तों से भेंट की वसूली के लिए गुरु अर्जुनदेव के समय में नियुक्त किये गये मसन्दों की यह संस्था धीरे-धीरे विकार युक्त हो गई थी। मसन्द स्वयं को गुरु से अधिक शक्तिशाली समझने लगे थे तथा गुरु के लिए लाई भेंटों में से अधिकांश वस्तुएँ वे स्वयं अपने पास ही रख लिया करते थे। गुरु जी ने इन लोगों के विरोध की परवाह न कर,परंपरा में आये इस विकार को शीघ्र ही दूर करने का निर्णय ले लिया और पुरानी सड़ी-गली रूढ़ियों को त्यागने में भय अथवा संकोच अनुभव नहीं किया। ये विकृतियां धर्म की भीतरी व्यवस्था को तो खोखला ही कर रही थीं, गुरु जी के महान उद्देश्य की प्राप्ति की दिशा में भी बाधक थीं। जन विरोध के भय से ऐसी विकृतियों की ओर से आँख मूँद लेना, गुरु जी के लिए संभव न था। दृढ़ आत्मविश्वास एवं कभी न टूटने वाले धैर्य ने उन्हें कठिनाइयों में भी चट्टान की तरह दृढ़ बनाये रखा परिणामस्वरूप वे शुभ कार्य का विरोध करने वाले प्रतिक्रियावादियों का भी दृढ़तापूर्वक सामना करने में समर्थ हुए और समाज के गलित-जड़ित अंगों का विच्छेदन कर उसे एक स्वस्थ,सुंदर काया प्रदान कर पाये।

इधर कहलूर का राजा भीमचंद,जिसके राज्य में गुरु अपनी सैन्य शक्ति का संगठन कर रहे थे, गुरु से ईर्ष्या रखता था। नगाड़े के निर्माण और गुरु जी की दिनोंदिन बढ़ती युद्ध-सामग्री,लोकप्रियता एवं सैन्य-संस्था को देखकर वह तथा कुछ पहाड़ी सरदार घबरा गये। किंतु अपने सलाहकारों के कहने पर उन्होंने गुरु जी से प्रत्यक्ष में सम्बन्ध वैसे ही बने रहने दिये। स्थिति को भाँप कर कुछ मसन्दों ने गुरु जी की माता से आग्रह किया कि वे गुरु से कहकर नगाड़ा बजाना,पेशेवर सैनिकों को अपने सेना में भर्ती करना, युद्धाभ्यास करना आदि कार्यों को स्थगित करवा दें और अपना सारा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

समय अपने आनुयायियों की अध्यात्मिक शिक्षा में लाने को कहें। किंतु अपने महान उद्देश्य के सामने गुरु जी ने माता की अनुनय पर ध्यान नहीं दिया और उन्हें चिंता करने से मना किया। युद्धों के वातावरण को दृष्टिगत रखकर गुरु गोबिन्द सिंह ने आनंदगढ़, लोहगढ़, केशगढ़ तथा फतेहगढ़ नामक चार किले बनवाये।

भंगाणी युद्ध में गुरु जी की वीरता और उनकी बढ़ती हुई शक्ति को देखकर पड़ोसी राजाओं ने उनसे संधि कर ली थी। राजा भीमचंद ने दरबार में आकर पुराने कुकृत्यों के लिए क्षमायाचना की तथा संधि प्रस्ताव किया। गुरु जी ने उसे क्षमा के साथ-साथ सरोपा भी भेंट किया और सम्मान सहित वापिस भेजा जो उनकी क्षमाशीलता, उदारता एवं बड़प्पन का परिचायक है। गुरु जी से संधि के बल पर पहाड़ी राजाओं ने मन ही मन मुगल सम्राट से सहयोग न करने और कर न देने का निश्चय कर लिया था। औरंगज़ेब चूँकि दक्षिण में गोलकुण्डा की रियासत को हस्तगत करने में मशगूल था, अतः कुछ वर्षों तक प्रतिरोध का यह भाव स्पष्ट ज़ाहिर नहीं हुआ, किंतु औरंगज़ेब के दिल्ली वापिस आते ही इसका अवसर भी आ गया। उसने मियाँ खाँ, अलिफ़ खाँ और ज़ुलफ़िकार खाँ को सेना सहित विद्रोही राजाओं से कर उगाहने के लिए भेजा। चूँकि भीमचंद और अन्य पहाड़ी राजा भंगाणी युद्ध में गुरु जी की सेना की वीरता देख चुके थे उन्होंने गुरु जी से मुगल सेना के साथ युद्ध के लिए सहायता मांगी जिसे गुरु जी ने स्वीकार किया।[१४] नादौन नामक स्थान पर यह युद्ध लड़ा गया। राजा पृथ्वीचंद, रामसिंह, जैदेव जसरोटिया की सेनाएँ मिलकर नादौन के मैदान में पहुँच गईं।[१५] कृपाल चंद ने भीमचंद की सेना के बहुत से सैनिकों का संहार कर दिया जिससे वह निराश हो गया। इतने में गुरु जी उसकी सहायता के लिए पहुँचे। एक टीले पर खड़े होकर उन्होंने बाणों की वर्षा की। शत्रु की सेना में हल-चल मच गई। बाणों और गोलियों की मार से दोनों ओर के वीर ऐसे लग रहे थे, मानो होली का मस्त खेल खेल रहे हों। जिसका वर्णन गुरु जी ने इस प्रकार किया है—

मिटे वीर भूमं सरं सांग पेलं। रंगे स्रोण वस्त्र मनो फाग खेलं।
लियो जीत बैरी कियो आन डेरं। तऊ जाई पारं रहे बारि केरं।

(विचित्र नाटक, ९/२०)

अन्त में दयाल सिंह की मृत्यु गुरुजी की गोली से हुई।[१६] सारी सेना भागकर जंगलों में छिप गई। सम्मिलित शक्ति के कारण मुगल सेना को मुँह की खानी पड़ी। राजा भीमचंद विजयी हुआ। हालाँकि पहाड़ी राजा इस युद्ध में भी विजयी हुए थे, किंतु उन्होंने महसूस कर लिया था कि मुगल सत्ता से टकराना टेढ़ी खीर है। शासन से प्राप्त होने वाली राजनीतिक सुविधाओं का मोह त्यागना भी इनके सुविधापरस्त व्यक्तित्व को गँवारा न था। साथ ही गुरु जी द्वारा छोटी समझी जाने वाली

---

१४. राजन के हित काने की उजुद्ध इमजान कथा जुह न दवान को बनेत ताहि बिआन
—सेनापति, गुरु शोभा, पृ. १५

१५. विचित्र नाटक, १/३

१६. The Sikh Religion, Volume V, P. 54.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जातियों को भी अपनी सेना में सवर्णों के समकक्ष स्थान दिये जाने के कारण उन राजाओं के उच्चता बोध एवं अहंभाव को भी चोट पहुँची थी। इस कारण भी वे गोबिन्द सिंह जी से मन ही मन चिढ़े हुए थे। अतः इधर गुरु जी आठ दिन व्यास नदी के तट पर रमणीय दृश्यों का आनन्द उठाकर आनंदपुर लौटे और उधर उन राजाओं ने मुगलों से संधि कर ली। 'विचित्र नाटक' में इसका संकेत देते हुए गुरु जी लिखते हैं—

नदी पै दिन अस्ट कीने मुकामं। भली भांति दैखै सवै राजधामं ॥
इत हम होइ विदा धरि आए। सुलह निमित वै उतहि सिधाए॥
सीध इनै उन कै संगि कई। हेतू कथा पूरन इति भई ॥

(विचित्र नाटक,९/२२-२३)

स्थिति की नज़ाकत को समझते हुए गुरु जी ने इस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं की। उन्होंने केवल समभाव से स्थिति का अवलोकन किया और मन ही मन भविष्य की अपनी सामरिक नीति के अगले सोपानों का निश्चय कर लिया जो निश्चय ही उनकी परिपक्व राजनीतिक सूझ-बूझ का द्योतक है।

गुरु जी की बढ़ती हुई शक्ति से सशंकित औरंगज़ेब ने लाहौर के सूबेदार दिलावर खाँ के पुत्र. रुस्तम खाँ को सेना सहित गुरु जी पर आक्रमण करने के लिए भेजा। उसकी सेना ने सतलुज नदी के उस पार डेरा डाला।[१७] समाचार मिलते ही गुरु जी ने रणजीत नगाड़ा बजवा दिया, जिसे सुनकर खां के सैनिकों के दिल दहल गये। उसकी सेना कायरों की तरह बिना युद्ध किये ही भाग खड़ी हुई।[१८]

दिलावर खाँ को जब अपने पुत्र रुस्तम खाँ से यह समाचार प्राप्त हुआ, तो वह अत्यधिक क्रोधित हुआ। उसने अपने एक गुलाम सेनापति हुसैन खाँ को गुरु पर आक्रमण करने के लिए भेजा। हुसैन खाँ भी युद्ध में बुरी तरह पराजित हुआ और मारा गया। औरंगज़ेब ने अपने बड़े लड़के मुअज़्ज़म को पंजाब की बिगड़ी स्थिति को सुधारने के लिए भेजा। उसकी सेना ने गाँव के गाँव नष्ट कर दिये, किंतु आनंदपुर पूरी तरह सुरक्षित रहा, जिसका श्रेय गुरु जी के अनन्य शिष्य भाई नंदलाल को दिया जाता है, जो गुरु जी की नौकरी में था। उसने गुरु जी के उच्च चरित्र एवं उदात्त व्यक्तित्व का शहजादे

---

१७. सुरा धूप दे सुमन चढ़ाई। श्री रणजीतह करी बढ़ाई।
पाकर चोब तिनकी सु निबहि। दीनों श्री रणजीत बजाई।
इह विध गरज्यो तबै नगारा। कंपत भई सपत ही धारा।
जैसे सिंध जलद धुन होई तस रणजीत नाद धुन सोई।
—गुरु विलास, पृ. १०४

१८. बज्जी भेर भुंकार धुंके नगारे। महावीर बाने तबके बंकारे।
लए बाहु आघात नच्चे मरालं। कृपासिंधु काली गरज्जी कराल।
नदीयं लखौ काल रात्रं समानं। करै सूरमा सीत पंगु प्रमानं।
इते बीर गज्जे भए नाद मारे। भजे खान खूनी बिना सस्त्र झारे।
—विचित्र नाटक, १०/५-६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के समक्ष इस भाँति परिचय दिया कि उसने गुरु जी पर आक्रमण करने के अपने इरादे को बदल लिया।[१९] कई इतिहासकारों का मत है कि मिर्ज़ा बेग आनंदपुर लूटने तो पहुँचा, परंतु गुरु जी से मिलकर तथा उनके धर्म कार्यों को देखकर इतना प्रभावित हुआ कि वहाँ से लौट आया।[२०] गुरु जी के व्यक्तित्व को देखते हुए दूसरी बात की संभावना अधिक लगती है। जो भी हो, इस प्रकार गुरु जी को अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने का समुचित अवसर प्राप्त हुआ।

इस बीच, गुरु जी को माता जीतो की कोख से द्वितीय पुत्र जुझार सिंह (चैत २१ संवत् १७४७, सन् १६९० ई.) की प्राप्ति हो चुकी थी।

ऐसा नहीं है कि शहजादे मुअज्जम की सहिष्णुता से गुरु जी ने यह समझ लिया हो कि भविष्य में कभी मुगल सत्ता से टकराव की स्थिति बनेगी ही नहीं। वे यह अच्छी तरह समझते थे कि यदि मुगलों के अन्याय और अत्याचार का प्रतिरोध न किया गया तो समाज की मौज़ूदा स्थिति में बदलाव की आशा नहीं की जा सकती। साथ ही जब-जब पहाड़ी राजाओं ने मुगल राजाओं के विरुद्ध युद्ध किया था, गुरु जी ने उनका साथ दिया था, किंतु अब जब पहाड़ी राजाओं का विद्रोह पूरी तरह दबा दिया गया था और वे मुगल सत्ता से भयभीत होकर संधि की मुद्रा अपना चुके थे। उन्हें ऐसा करते देख कर गुरु जी के लिए यह अनुमान लगाना कठिन न रहा था कि भविष्य में जब कभी उन्हें मुगल शक्ति का सामना करना होगा, तब उन्हें केवल अपने शिष्यों पर निर्भर रहना होगा। उन राजाओं में से कोई साथ न देगा। अतः बाह्य शक्ति के बिना केवल अपनी ही शक्ति से प्रत्येक स्थिति का सामना करने के लिए वे उन्हीं शिष्यों में से राजा उपजाने और उन्हें ही सरदार बनाने के अपने निर्णय पर दृढ़ थे—

इनही से राजे उपजाऊं। राज करन की रीति सिखाऊं॥
इनहीं को सरदार बणाऊं। तबै गोबिन्द सिंह नाम कहाऊं॥

शाहज़ादे के पंजाब से चले जाने के कारण पिछले कुछ वर्षों से व्याप्त तनाव भी थोड़ा शिथिल हो चुका था, गुरु जी ने इस शांत समय का सदुपयोग अपने स्वप्न को निर्णायक रूप देने में रह गई कसर को पूरा करने में किया। उन्होंने आनंदपुर में ही रहकर सैनिक-प्रशिक्षण, धर्म-प्रचार एवं साहित्य-साधना के द्वारा शेष काम पूरा कर अपने लक्ष्य को अंजाम देने का निश्चय किया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यों तो आजीवन उनका एक पैर युद्ध क्षेत्र में रहा और दूसरा साहित्यिक क्षेत्र में, करीब ६-७ साल के इस काल में तो और भी जोर-शोर से एक ओर सैन्य-संचालन, युद्धाभ्यास आदि चलते रहे तो दूसरी ओर शिष्यों को उत्साहित करने के लिए वीर रस की रचनाएँ लिखी जाती

---

१९. "Nandlal Private secretary to the prince, was however a follower of the Guru. He spoke to the prince, in glouring terms of the great virtues and lofty character, of the the Sikh leader and prevailed upon him to give up all idea of molesting the holy man. The Guru thus escaped without any harm"

—Transformation of Sikhisim, —P.91.

२०. तवारीख गुरु खालसा हिस्सा १, नंबर ३, पृ. १६२३

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रहीं। इसी दौरान माता जीतो की कोख से उन्हें तीसरे पुत्र रत्न, जोरावर सिंह (सावन १२, संवत १७५३ (सन् १६९६ ई.)) तथा चौथे पुत्र रत्न फतेह सिंह (सन् १६९८ ई.) की भी प्राप्ति हुई। सैनिक प्रशिक्षण एवं साहित्य रचना पूर्ववत् चलती रही। श्रीकृष्ण के योद्धा रूप का दिग्दर्शन कराने के लिए 'कृष्णावतार' रचना पाँवटा में ही लिखी जा चुकी थी, अब श्री रामचंद्र जी को नर रूप में मानवीय अधिकारों की प्राप्ति के लिए निःस्वार्थ भाव से वीरतापूर्वक युद्ध करते हुए दिखाकर, उन्हें अनुकरणीय योद्धा के रूप में प्रस्तुत करते हुए 'रामावतार' की रचना की गई, जिसका रचनाकाल संवत १७५५ वि. (सन् १६९८ ई.) माना गया है।[२१]

'रामावतार' में भी गुरु गोबिन्द सिंह ने 'वाल्मीकि रामायण' के अतिरिक्त 'रघुवंश', 'अध्यात्म रामायण', 'हनुमन्नाटक', 'रामचरितमानस', 'रामचंद्रिका' आदि ग्रंथों के अतिरिक्त किंवदंतियों का आश्रय लेकर तथा अपनी कल्पना शक्ति का उपयोग कर रामकथा में से युद्ध की अनेकानेक विधियों, विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों का संचालन आदि ऐसे प्रसंगों का चयन किया, जिनसे वे अपने युद्ध-दर्शन को अभिव्यक्ति प्रदान कर सकें। इसी कारण वैष्णव भक्तों को इसमें रामकथा के कतिपय महत्त्वपूर्ण अंशों का समावेश न देख कर निराशा हो सकती है। किन्तु वास्तविकता यह है कि कथा प्रसंगों का चयन रामकथा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के आधार पर नहीं किया गया, अपितु गुरु जी के अपने अभिप्राय की सिद्धि में सहायक होने के आधार पर किया गया है। यही कारण है 'रामावतार' में चित्रित राम तुलसी के 'रामचरित मानस' के मर्यादा पुरुषोत्तम राम से भी भिन्न है और वे केशव की 'रामचंद्रिका' के वैभवशाली सम्राट राम से भी भिन्न हैं। गुरु जी ने उनका चित्रण युद्धवीर के रूप में किया है, जिन्होंने विश्वामित्र द्वारा असुरों को समझाने के सभी प्रयासों के निष्फल हो जाने के पश्चात् उनके संहार के लिए विश्वामित्र के आदेश से शस्त्र धारण किया। कालान्तर में अन्य किसी उपाय के अभाव में ही, उन्हें इन जैसे दुराचार शासक के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करना पड़ा। रामचरित के माध्यम से यही समझाना गुरु जी का अभिप्रेत था। इसी कारण प्रस्तुत रचना युद्धों के विस्तृत वर्णनों से भरी हुई है। और मज़ेदार बात यह कि युद्ध क्षेत्र में युद्ध करती हुई सेनाओं को जिन स्थितियों से गुज़रना पड़ सकता है, अनुभवी कवि ने अपनी काव्य रचना के क्रम में उनमें से अधिकांश संभावित स्थितियों की कल्पना कर, उनका चित्रण भी साथ-साथ किया है और संभावित समाधान की ओर भी संकेत कर दिया है, भले ही मूल कथा में वे उस रूप में आये हैं या नहीं। प्रस्तुत प्रयास गुरु जी के प्रत्येक स्थिति के मनोवैज्ञानिक आकलन-मूल्यांकन की क्षमता का परिचायक है। ऐसी स्थितियों के चित्रण के माध्यम से वे योद्धाओं के युद्ध-भूमि के प्रारंभिक परिज्ञान के धरातल को पुख़्ता करने का प्रयास कर रहे हैं। काव्य में वर्णित युद्ध कौशल के ऐसे स्थल यदि शिष्यों के लिए सैद्धांतिक रूप से प्रशिक्षण स्थल का कार्य भी करते रहे हों, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

---

२१. नेत्र तुंग के चरण तर शतद्र वीर तरंग। श्री भगवन पूरन कियो रघुवर कथा प्रसंग।
संवत सत्रह सहस पचावन। हार बदि प्रिथम सुख दावन।
त्व प्रसादि करि ग्रंथ सुधारा। भूल परी लेहुलेहु सुधारा
—रामावतार, ८६१

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आनंदपुर साहब में ही निवास के दौरान गुरु जी ने 'विचित्र नाटक' शीर्षक से अपनी आत्मकथा लिखी। गुरु जी की आत्मकथा, 'विचित्र नाटक' का रचनाकाल तो नहीं दिया गया, किंतु इसकी रचना भी संभवतः १६९८ ई. में हुई।[२२] 'विचित्र नाटक' भी वीर काव्य ही है, जिसे काव्य नाटक शैली में रचा गया है। इसमें गुरु जी के अपने जीवन की कथा है, जो आत्मकथा सी सत्यता, प्रामाणिकता एवं यथार्थता लिए हुए है। चूँकि गुरु जी का प्रत्येक काव्य विशिष्ट उद्देश्य को लेकर लिखा गया, प्रस्तुत रचना भी युवा वर्ग में उत्साह, राष्ट्र-प्रेम एवं धर्मरक्षा आदि भावों का संचार करने के उद्देश्य से लिखी गई है। न तो इसका उद्देश्य आत्म विज्ञापन है, न आत्मस्तुति, अपितु अत्याचार एवं अन्याय के विरोध में धर्म युद्ध का चाव उत्पन्न करना ही इसका अभिप्रेत है। कुल चौदह अध्यायों की इस रचना में आठ अध्यायों में युद्ध-वर्णन किया गया है। "इसका युद्ध वर्णन रासो-ग्रंथों की टक्कर का है। युद्ध-वर्णन में कोई समसामयिक अथवा उत्तरकालीन रचना इसकी तुलना में नहीं ठहर सकती।"[२३] प्रथम अध्याय में महाकाल की आराधना करते हुए उसके शस्त्रधारी रूप का भी नमन किया गया है। द्वितीय अध्याय में उन्होंने स्वयं को भगवान राम का वंशज बताया। उन के पुत्रों लव और कुश में से लव से अपने सोढी वंश और कुश से श्री गुरु नानक देव के वेदी वंश का संबंध स्थापित किया। यह भी सोद्देश्य था। गुरु जी समझते थे कि स्वयं को भगवान राम के वंशधर बताने पर वे समस्त हिन्दू जनता, जिसकी जड़ें धर्म में गहरी धँसी हुई हैं, के आदर और श्रद्धा के अधिकारी होंगे, जिसका उपयोग समाज के रूपांतरण में किया जा सकेगा। साथ ही वे श्रीराम की तरह धर्मयुद्ध आरंभ कर दुष्टों को दंड देने तथा संतों के कष्ट निवारण का अधिकार भी प्राप्त कर लेंगे। भगवान राम के वंशधर होने के कारण उन्हें हिन्दू समाज से किसी प्रकार के विरोध का सामना नहीं करना पड़ेगा, उल्टे उनका सहयोग ही उन्हें प्राप्त होगा। द्वितीय अध्याय का यही मनोवैज्ञानिक आधार हमारी समझ में आता है।

शेष अध्यायों में लव और कुश के वंशधरों के युद्ध तथा गुरु जी द्वारा लड़े गये युद्धों के वर्णन के साथ-साथ सामाजिक कुरीतियों, जाति-पांति, धार्मिक पाखंडों की भर्त्सना, संयम का महत्त्व, नाम स्मरण सत्य एवं प्रेम की महत्ता आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। स्वयं अपने द्वारा लड़े युद्धों का चित्रण करते हुए गुरु गोबिन्द सिंह एक वीर योद्धा, कुशल सेना-संचालक, देश-प्रेमी, धर्मरक्षक, संत उद्धारक एवं कुशल मनोविज्ञानवेत्ता के रूप में सामने आते हैं। देश और धर्म की रक्षा के लिए वे सर्वस्व न्यौछावर करने को तत्पर हैं। प्रत्येक नवयुवक के लिए राष्ट्रनायक का ऐसा आदर्श व्यक्तित्व निःसंदेह अनुकरणीय है, साथ ही युद्धों का ओजस्वी चित्रण भी उन्हें खड्ग धारण कर युद्ध क्षेत्र की ओर बढ़ने की प्रेरणा देने में समर्थ है।

---

२२. (क) भाई रणधीर सिंह, शब्द मूरति, पृ. २३
(ख) Evolution of Khalsa, Part II, P. 172

२३. हरिभजन सिंह, गुरुमुखी लिपि में हिन्दी काव्य, पृ. २६१.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'विचित्र नाटक' के अंत की पंक्तियों में जो संकेत प्राप्त होते हैं, उससे 'चंडी चरित्र उक्ति विलास' तथा 'चंडी चरित्र (द्वितीय)' के भी 'विचित्र नाटक' की रचना (१६९८ ई.) के थोड़ा पहले संपन्न होने का अंदाज़ा लगाया जा सकता है।[२४] इन दोनों कृतियों का उद्देश्य न कौतुक की सृष्टि करना है न अलौकिकता से भक्तों के हृदय में श्रद्धा का संचार करना, क्योंकि इससे वीरों के हृदय में वीरता का भाव उत्पन्न नहीं किया जा सकता जोकि सदा गुरु जी के वीर काव्य का अभिप्रेत रहा है। यही कारण है कि दुर्गा से संबंधित तीनों कृतियों ('चंडी दी वार' सहित) में गुरु जी ने दुर्गा के अलौकिक रूप से बचते हुए उसे शुद्ध शक्ति के रूप में ग्रहण किया तथा उसके संहारक रूप को ही केन्द्र में रखा।[२५] इनका उद्देश्य धर्म की रक्षा के लिए दुर्बल राष्ट्र के वीरों को पुनः शक्ति का संचयन कर, संगठित रूप से धर्म युद्ध करने के लिए तत्पर करना है। गुरु जी के लिए चंडी सदैव उस शक्ति का प्रतीक रही है, जिसका निवास वे अपनी प्रजा में देखना चाहते थे। दुर्गा को जिन दानवों का संहार करते दिखाया गया है, वे उन आततायी शासकों का प्रतीक हैं, जो भोले-भाले जन-समुदाय का शोषण करते हैं। गुरु जी की चंडी पर आधारित रचनाएं इसी शोषण के विरुद्ध विद्रोह का स्वर बुलंद कर, उसे सशस्त्र क्रांति तक पहुंचाने का प्रयास हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भयग्रस्त वीरों के हृदय में वीरता के भावों का संचार करने के लिए युद्धभूमि में चुन-चुन कर दैत्यों का संहार करती हुई दुर्गा के अनेक चित्रों का महत्त्व उल्लेखनीय है—

सिंघ चढ़ा मुख संख बजावत जिउ धन में तड़ता दुत मंडी।
थक चलाई गिराई दयो अरि भाजत दैत बड़े बरबंडी।
भूत पिसाचनि मास अहार करे किलकार खिलार कै झंडी।
मुंड को मुंड उतारे दयो अब चंड को हाथ लगावत चंडी।

(चंडी चरित्र उक्ति विलास, ११५)

तीनों रचनाओं में दुर्गा के संहारक रूप संबंधी चित्रों की भरमार है, जो सोद्देश्य है। गुरु जी ने दिखाया है कि देवताओं के एकल प्रयास जिस आततायी शक्ति को नष्ट करने में असमर्थ रहे, देवी के गण रूप ने उसे संभव कर दिखाया। देवी की ऐसी विजय के माध्यम से गुरु इस संदेश की भी व्यंजना करते हैं कि उदासीन रहकर चुपचाप अन्याय सहने से किसी भी समस्या का निवारण नहीं हो सकता, कायरता का परित्याग कर आत्मगौरव एवं आत्मबल संचित कर, सामूहिक रूप से किये

---

२४. प्रथमै सति जुग निहि निधि लहा, प्रथमै देवि चरित्र को कहा॥
पहले चण्डी चरित बनायो। नख सिखते कुम भाख सुनायो।
छोर कथा तब प्रथम सुनाई। अब चाहत फिरि काँहू बड़ाई।
—विचित्र नाटक, १४/१०-११

२५. लैकरि चंड कुचंड प्रचंड महाबरबंड तबै इह कीनो।
एक ही बार निहार हकार सुधार बिदार सभै दलु दीनों।
द्वैत घने रन माहि हने लखि, जीन सके कवि इमन चीनो।
जिन खगराज बड़ो अहिराज समाज के काट कता करि लीनो।
—चंडी चरित्र उक्ति विलास, ३६०

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गये प्रयास ही अत्याचार के उन्मूलन की दिशा में सर्वाधिक उपयुक्त हो सकते हैं।

चंडी पर आधारित तीनों रचनाओं में प्रत्येक शिल्पगत उपकरण भी कवि के विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्रत्येक काव्य में दुर्गा के वीरतापूर्ण कृत्यों, युद्ध की भयावहता, भयभीत दानवों में मची भगदड़, विभिन्न शस्त्रास्त्रों की ध्वनियों आदि के सजीव चित्र तो प्राप्त होते ही हैं। अस्त्र-शस्त्रों के सौन्दर्य, सजीव उपमान, दृश्य एवं श्रोतृ बिम्बों, आनुनासिक एवं अनुकरणात्मक शब्दों आदि के प्रयोग से भयावह युद्ध को भी आकर्षक बनाने का प्रयास किया गया है।

गुरु जी के संपूर्ण वीर काव्य का अध्ययन यह दर्शाता है कि युद्ध गुरु जी के लिए मात्र एक विचार नहीं है, एक आवेगपूर्ण आस्था और विचार है जिससे उनका समूचा व्यक्तित्व जुड़ा है। युद्ध को न्याय के पक्ष में प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से वे राम, कृष्ण, दुर्गा तथा अन्य पौराणिक पात्रों की कथाओं को उनकी आवश्यकता के अनुरूप मोड़ देकर, ऐसी युद्ध कथाओं के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिनमें अन्याय के विरोध में किये गये युद्धों द्वारा न्याय की स्थापना दिखाई जा सके। वीर काव्य में तो युद्धों के विस्तृत वर्णन की संभावना थी ही, भक्ति रचनाओं में भी जहाँ-जहाँ अवसर मिला, वे सेना के प्रस्थान, द्वन्द्वयुद्ध आदि का चित्रण करते चलते हैं। इन रचनाओं में चित्रित युद्धों में गुरु की युद्धप्रियता को तो रेखांकित किया ही जा सकता है, इनका उद्देश्य धर्म-युद्ध में वीरों की रुचि उत्पन्न करना है। किन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये कोई युद्ध चित्रण नहीं है। इनमें जहाँ-तहाँ विचार का उपयोग भी दिखाई देता है। अपनी कृतियों कि माध्यम से गुरु जी अपने विचार सम्मुख रखते हैं, पुनः युद्ध-दर्शन-निर्माण के क्रम में उनका उपयोग करते चलते हैं। गुरु के ऐसे अनेक मौलिक प्रयासों से यह स्पष्ट हो जाता है कि रात-दिन 'धर्म-युद्ध को चाई' उनके मन-मस्तिष्क को इतनी सशक्तता से घेरे हुए है कि नित्यकर्म के अतिरिक्त उनकी दिनचर्या का शेष सारा भाग उसी को समर्पित है। युद्ध उनके स्नायुतंत्र का हिस्सा है। उठते-बैठते, सोते-जागते युद्ध ही के चाव से जुड़े जो भाव उनके चेतन-अवचेतन को आच्छादित करते हैं, वे ही चित्र रूप में रूपायित होकर काव्य के रूप में हमारे सामने उभर आते हैं। कभी पुराणों की कथा इन चित्रों का रूप तय करती है, तो कभी अपनी आत्मकथा, कभी कोई युद्ध इनमें रंग भरता है, तो कभी शासन को धिक्कारते हुए लिखा हुआ पत्र उसमें स्थान पाता है। काव्य-रचना के समय उनके मन मस्तिष्क में यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि उन्हें प्रत्येक उक्ति, घटना-वर्णन, चित्रण आदि का चयन इस भाँति करना है, जिससे पाठकों पर ठीक वैसा प्रभाव उत्पन्न हो, जैसा वे चाहते हैं। इसी कारण वे काव्य रचना के दौरान प्रत्येक माध्यम का उपयोग अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए करते हैं। वे कहीं अपने उद्देश्य से इतर नहीं भटकते, और यदि कहीं क्षण-भर के लिए ऐसा होता भी है, तो भी वे शीघ्र उसी बिन्दु पर लौट आते हैं, जिसे उन्होंने अपने काव्य की धुरी बनाया है। युद्ध उनके लिए केवल विचार नहीं है, उनकी पूरी मानसिकता इसके साथ जुड़ी है। भक्ति के मार्ग से युद्ध के मार्ग तक ले जाने का ऐसा अद्‌भुत प्रयास इससे पूर्व हिन्दी साहित्य जगत् में कहीं दिखाई नहीं देता। युद्ध को विचार और भावना के साथ संबद्ध करके, अत्याचार के विरोध में उसे एक संकल्पना के तौर पर इस्तेमाल करने का उनका यह प्रयास भारतीय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

इतिहास में अद्वितीय है। उससे भी कहीं ज्यादा अद्भुत है, उस संकल्पना के प्रयोगात्मक रूप लेने से पूर्व के सोपान। प्रथम सोपान में वे अत्याचारी शासकों प्रति विद्रोह उत्पन्न करते हैं। विद्रोह चूँकि मूल्यपरक है और उसमें शस्त्र का कोई काम नहीं, अतः विद्रोह से उत्पन्न की हुई चेतना का इस्तेमाल कर गुरु जी विद्रोह को सशस्त्र सामाजिक क्रान्ति की ओर ले जाते हैं। उसे एक व्यापक आधार देते हैं। विद्रोह-चेतना को वे शस्त्र के जरिए जन चेतना में रूपांतरित कर युद्ध का विचार देते हैं।

इस प्रकार शस्त्रों से जुड़कर विद्रोह को एक व्यापक सामाजिक धरातल प्राप्त होता हैजिसे सामूहिकता से संबद्ध कर गुरु जी जनचेतना में स्थानांतरित कर देते हैं। विद्रोह का आधार लेकर वे उसे क्रांन्ति तक ले जाते हैं। और युद्ध को एक आवेग के स्तर पर अपनी संपूर्ण मानसिकता के साथ ग्रहण करते हैं। इसी कारण उनका युद्ध दर्शन कोरा युद्ध दर्शन अथवा युद्ध का विचार नहीं रह जाता। बल्कि संपूर्ण समाज का भी दर्शन बन जाता है और क्रान्ति दर्शन भी। उनका यह दर्शन धर्म और अध्यात्म से जुड़ा अवश्य है, किंतु जब वे उसे शस्त्रों से संबद्ध कर देते हैं, तब वह धर्म और अध्यात्म की सीमाओं को लाँघता हुआ सामाजिक परिवर्तन और क्रांति बोध से जुड़ जाता है। इसी क्रांति-बोध से जुड़ी है, उनकी बलिदान चेतना जो उनके काव्य में मानवता के संरक्षण के एक संकल्प के रूप में है। बिखरी बंटी मानवता को एक समान धरातल पर एकत्र करना, एक समय में उन्हें एक सी अनुभूति करने में सक्षम बनाना और अन्याय के विरोध में मुख में हरिनाम और हाथ में शस्त्र लेकर युद्ध क्षेत्र में कूद पड़ने के लिए तत्पर करना अपने आप में कोई कम आश्चर्य की बात न थी। यही गुरु गोबिन्द सिंह की सबसे बड़ी उपलब्धि थी।

पिता के बलिदान के प्रेरक क्षण से ही गुरु गोबिन्द सिंह ने अपनी प्रत्येक गतिविधि, प्रत्येक भावना, प्रत्येक विचार और यहाँ तक कि अपने जीवन का एक-एक पल अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए समर्पित कर दिया। सोते-जागते, उठते-बैठते एक ही धुन उनके मन-मस्तिष्क को लगातार आंदोलित करती रही थी—'सवा लाख से एक लड़ाऊँ' ही वह स्वप्न था, जिसे वे निरंतर देखते आये थे। शिष्यों में संगठन, राष्ट्रीयता, दृढ़ता, वीरता एवं नेतृत्व के भाव उत्पन्न कर, उन्हीं में से सर पर कफ़न बाँध कर चलने वाले बलिदानियों की सेना तैयार करने का जो संकल्प उन्होंने पिता के बलिदान के क्षण लिया था, उसके लिए आवश्यक आधारभूमि का निर्माण भी वे लगातार करते आये थे। इतने लम्बे समय तक अपने विशिष्ट एवं सुनियोजित प्रयासों से उन्होंने जनमानस की मानसिक भूमि को धीरे-धीरे अपने उद्देश्य के अनुरूप, विद्रोह एवं बलिदान के बीज बोने के लिए तैयार कर लिया था। निरंतर किये जाने वाले अपने अनथक प्रयासों से गुरु ने अपने व्यक्तित्व के कण-कण को अपने शिष्यों के हृदय में स्थानांतरित करने के लिए शेष तैयारी भी संपन्न कर ली थी। अब वह उपयुक्त समय बिल्कुल निकट था, जिसकी प्रतीक्षा गुरु जी को करीब ढाई दशक से थी। उनकी बेचैन आत्मा पिता की शहादत की घड़ी से जिस उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न रही थी, जीवन के उस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य के श्रीगणेश की घड़ी अब आन पहुँची थी।

■■■

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

खालसा पंथ :
एक नवीन सामाजिक बोध

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"The distinct contribution of Guru Gobind Singh thus lay in organising a socio-political body of spiritually awakened but earth-aware people who were to spearheaded the moment for the liberation of a whole society and not merely remain content with the self-sufficient peace of the spirit or the material well being of an individual. In the transformation of whole corporate society through a well knit. dynamic conscious and frontal organisation delivering authority form and working society in the interest of the whole people in every detail of their life"

—Dr. Gopal Singh, History of the Sikh People, p. 327.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

खालसा पंथ : एक नवीन सामाजिक बोध

गुरु गोबिन्द सिंह के शूरता और वीरता भरे दृढ़ व्यक्तित्व के भीतर समाज के प्रेम की एक अजस्र धारा प्रवाहित रहती थी। वे हिन्दू समाज के उत्थान के प्रति पूरे समर्पण के साथ जागरूक थे। उन्होंने अनुभव किया था कि ऐसे विश्व-विख्यात समाज को विधर्मी मुसलमानों ने कष्ट देने और अपमानित करने के नये-नये तरीके अपनाये हुए थे। उसका एक बड़ा कारण हिन्दू समाज में संगठन का अभाव था। विशृंखलित सामाजिकता को अच्छा कर्णधार ही राह पर ला सकता है। यों तो उनसे पूर्व की गुरु-परंपरा के सभी नौ गुरुओं—गुरु नानक देव से लेकर गुरु तेग बहादुर तक—ने धर्म और समाज को अपनी मेधा, स्नेह, उदारता एवं चरित्रबल से आगे बढ़ाने का प्रयास किया था। पर गुरु गोबिन्द सिंह ने सामाजिक संगठन का एक व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया। उन्होंने १३ अप्रैल, सन् १६९९ ई. (संवत् १७५६) में आनंदपुर साहब के केशगढ़ के मैदान में समाज के विभिन्न वर्णों, जातियों एवं संप्रदायों के लोगों को एकत्रित होने का आह्वान किया। अपने जीवन में उन्होंने समाज के लिए उपयोगी अनुभूत उद्देश्यों को सबके सामने रखा और एक नवीन संगठन—'खालसा पंथ' की स्थापना की। वैशाखी का १३ अप्रैल का दिन वैसे भी सांस्कृतिक और सामाजिक समारोह मनाने का त्योहार था। इस उत्तम दिन, उत्तम खालसा पंथ की उद्घोषणा ने एक नई सामाजिकता का ऐतिहासिक सूत्रपात किया।

गुरु नानक के समय ही से बैशाखी की समारोहपूर्ण संगत की परंपरा चली आ रही थी। यों तो प्रतिवर्ष वैशाखी पर्व अत्यंत उत्साह एवं हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता था, किंतु आज १३ अप्रैल, १६९९ ई. का समारोह अन्य संगतों से अत्यंत विशिष्ट था। आज आनंदपुर के केशगढ़ के मैदान में एकत्रित संगत में उस महत्त्वपूर्ण कार्य को संपादित होना था, जिसके लिए शेष नौ गुरुओं ने करीब दो सौ वर्ष तैयारी की थी और स्वयं गुरु गोबिन्द सिंह ने अपनी करीब ढाई दशक की अनवरत साधना से उस महान कार्य के लिए निर्मित भूमि को उर्वरकादि देकर अपने उद्देश्य के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अनुकूल बनाया था । आज विशृंखलित हिन्दू समाज को उस पुण्य सूत्र में पिरोने का समय आ गया था,जिसके अभाव में वह सदियों से गुलामी एवं शोषण को चुपचाप सहता आया था तथा अपना सर्वस्व बलिदान कर गुरु ने जिसका आह्वान किया था ।

आज के समारोह में देश-विदेश के शिष्य सम्मिलित हुए थे जिनकी संख्या करीब ८० हजार मानी जाती है ।[१] इसमें प्रत्येक धर्म अथवा जाति से संबंधित लोगों को भाग लेने की पूरी छूट दी गई थी ।बिखरी,बँटी मानवता को एक समान धरातल पर एकत्रित करने तथा उन्हें एक सी अनुभूति करने में सक्षम बनाने का श्रीगणेश करने के लिए गुरु जी ने आज के दिन को प्रत्येक दृष्टि से उचित मानकर उसका चयन किया था । जनता का बिना किसी पूर्व तैयारी के अधिक से अधिक संख्या में मौज़ूद होने एवं साथ ही उत्साहित भी होने का यही अवसर हो सकता था । उपस्थित जनसमुदाय की मनःस्थिति का पूर्व आकलन,तथा मनवांछित परिणाम प्राप्त करने की दृष्टि से उसे प्रभावित करने की पद्धति का पूर्व निर्धारण गुरु जी ने बहुत पहले ही कर लिया था । मानव मनोविज्ञान के पारखी गुरु अपने महत्त्वपूर्ण अभियान के एक-एक चरण की विस्तृत योजना बना चुके थे । अपनी सुनिर्दिष्ट योजना को वास्तविकता का रूप देने के लिए अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर वे मंच पर उपस्थित हुए । उन्होंने उपस्थित जन-समुदाय के समक्ष अपने हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति की । अपनी ओजपूर्ण वार्ता से उन्होंने समूची संगत को अभिभूत कर लिया । व्याख्यान के इस क्रम में,जिस समय गुरु ने यह अनुभव किया कि सम्मोहित जन-समुदाय मंत्र-मुग्ध सा उनका अनुसरण करने के लिए तत्पर हो चुका है,उसी क्षण उन्होंने घोषणा की कि मेरी तलवार संघर्ष को चलाने के लिए तथा अन्याय के उन्मूलन और धर्म की स्थापना के लिए पाँच शिरों का रक्तपान करना चाहती है । है कोई धर्मी जो शीश देकर धर्म की रक्षा करे ?[२] गुरु जी की ललकार सुनते ही सभा में सन्नाटा छा गया, मानो उन्होंने कोई असंभव बात कह दी हो । वास्तव में विधर्मियों के शासन में विलुप्त होते धर्म को लेकर सभी चिन्तित थे । अत्याचार से भी सभी आतंकित थे तथा धर्म की संस्थापना के इच्छुक भी थे किंतु युगों-युगों की निष्क्रियता उनके भीतर कुंडली मारे साँप की तरह बैठी थी । जड़ता की स्थिति से उन्हें सक्रियता एवं क्रियात्मकता की ओर लाने तथा संगठनात्मक रूप से अत्याचार के विरोध में उनका सही प्रयोग करने की स्थिति तक पहुँचाने के लिए उन्हें सिंह की दहाड़ सी ललकार की आवश्यकता थी,जिसे गुरु गोबिन्द सिंह पूरा कर रहे थे । वे पुनः-पुनः उन्हें बलिदान के लिए ललकार

---

१. Kripal Singh Narang, History of the Punjab, P.154.

२. खड्ग खैचि कर लीनसि चकति । थहिरति मनहु दामनी दमकति ।
घन सुर सम बोले गुन खानी । सभि संगति गुर प्रिया महानी ॥
अति प्रिय सिख अहै को मेरा ? अपने सीस देहि इस बेरा ।
कारज परयो आन इस काला । पुरुवहि सिरदे अबहि बिसाला ॥
—गुरु प्रताप सूरज, पृ. २५, २४

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रहे थे,क्योंकि वे जानते थे कि बलिदान देने के लिए लालायित धर्मी भी इसी जन-समुदाय में मौजूद हैं। केवल हज़ारों सालों की तटस्थता ने उन्हें ऐसा वीतरागी बना किया है, कि वे उद्यम तथा पहल करने की बात सोच ही नहीं सकते और यदि सोचते भी हैं तो संपूर्ण निष्क्रिय समाज का मुँह इस प्रकार ताकते हैं,जैसे उनके द्वारा संपादित कर्म कोई अपराध हो और समाज की संभावित अस्वीकृति झेलना उनकी सामर्थ्य से बाहर हो। किंतु गुरु जी जानते थे कि वर्षों की निष्क्रियता ने भले ही उन्हें जड़ता प्रदान कर दी हो, किंतु बलिदानों की शृंखला में गुरु तेग बहादुर द्वारा हाल ही में दिये गये बलिदान से समाज में एकबारगी उमड़ पड़ने वाली उनकी विद्रोह भावना की सुगबुगाहट अभी शेष है। गुरु जी समझते थे कि विद्रोह के उस भाव को यदि अभिव्यक्ति का सही मार्ग बताया जाये तो अत्याचार के विरोध में उसका सर्जनात्मक उपयोग करना कठिन नहीं। इसी पहलू को ध्यान में रखकर उन्होंने मंच पर खड़े होकर पुनः ललकारा —कौन ऐसा धर्मी है जो बलिदान देकर धर्म की रक्षा करे ? सभा में पुनः सन्नाटा छा गया। एक—बारगी तो ऐसा लगा कि गुरु के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता। किंतु गुरु ने आशा नहीं छोड़ी,उन्होंने एक बार फिर ललकारा औरे तभी_ लाहौर का दयाराम खत्री उठ खड़ा हुआ। गुरु साहिब उसे दरबार के पिछले भाग में ले गये और रक्तरंजित तलवार लेकर लौटे। उन्होंने पुनः उतने ही उत्साह से दूसरे बलिदान के लिए ललकारा। वे जानते थे कि दूसरा बलिदान पहले बलिदान की अपेक्षा उतना कठिन न होगा क्योंकि साहस,उद्यम,पहल करने की भावना आदि भाव एक से दूसरे हृदय में शीघ्र ही स्थानांतरित होते हैं। वही बात हुई। इस बार दिल्ली का जाट धर्मदास,उसके बाद द्वारका का धोबी हुकुमचंद तथा जगन्नाथ का कहार हिम्मत राय तथा विदर का नाई साहबचंद बारी-बारी से अपना बलिदान देने के लिए उठ खड़े हुए। गोबिन्द सिंह जी प्रत्येक बार रक्त से सनी तलवार लेकर पुनः दरबार में आ जाते। थोड़ी देर बाद वे लोगों को आश्चर्यचकित करते हुए उन्हीं 'पाँच प्यारों' के साथ मंच पर उपस्थित हुए,जिन्हें वे बलिदान के लिए दरबार के पिछले भाग में ले गये थे। इनमें से एक खत्री था तथा शेष चारों नीची जाति के समझे जाने वाले थे।

नीचां अंदरि नीच जति नीची हूंअति नीचु ॥
नानक तिनकै संगि साथि वडिआ सिउ किआ रीसु ॥

कहकर गुरु नानक ने नीचों में जैसी नीच जाति के लोगों के साथ होने की घोषणा की थी, मंच पर पाँच प्यारों के साथ उपस्थित गुरु गोबिन्द सिंह अपने प्रस्तुत कार्य से गुरु नानक की ही शिक्षा को चरितार्थ करते हुए दिखाई दिये। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या पाँच युवकों के स्वयं को बलिदान के लिए प्रस्तुत कर देने के बाद उपस्थित जनसमुदाय में ऐसे व्यक्ति शेष न रहे थे, जिनसे बलिदान की आशा की जा सकती या गुरु जी केवल पाँच को ही प्रेरित कर सकते थे ? वास्तव में मानव मन के गूढ़ अध्येता गुरु जी पूरे समाज को ही बलिदान के लिए तत्पर कर पाने की अद्भुत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सामर्थ्य से युक्त थे और उस समाज में बलिदान के लिए तत्पर युवक भी असंख्य थे। किंतु गुरु जी अपनी पूर्व निर्धारित योजना में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं लाना चाहते थे। जैसा कि कहा जा चुका है कि मुगल सत्ता के विरुद्ध व्यापक अभियान छेड़ने के लिए विभिन्न आधारों पर बँटे हुए समाज में समन्वय स्थापित करना आवश्यक था। संपूर्ण समाज को साथ लिए बिना समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना संभव नहीं था। इसलिए उनका उद्देश्य विभिन्न स्थानों धर्मों, वर्णों एवं व्यवसायों के लोगों को एक जातिहीन नेतृत्व के अधीन लाकर खड़ा करना था। उनमें उत्साह, साहस एवं बलिदान की एक उमंग पैदा करने के साथ-साथ उनका दिशा-निर्देश करने के लिए नेतृत्व करने वाली एक ऐसी इकाई भी उत्पन्न करना भी उनका उद्देश्य था, जिसका चयन उन्हीं में से किया गया हो। पिता के बलिदान के समय ही वे औरंगज़ेब के अत्याचार से सहमी जनता में से ही राजा उत्पन्न कर उन्हें राज-काज सँभालने में सक्षम बनाने का निश्चय कर चुके थे। उनका विश्वास था कि अपने भीतर ही से उत्पन्न की गई पाँच बलिदानी आत्माओं की इस इकाई में विश्वास रखकर जनता दुष्टता के उन्मूलन की दिशा में प्राप्त निर्देशों को अपने ऊपर आरोपित किसी अन्य नेता के आदेशों की तुलना में स्वेच्छा से शिरोधार्य करेगी। अपने ही जैसे व्यक्तियों को राज-काज-संचालन, निर्णय एवं उसकी क्रियान्विति तथा अन्य महत्वपूर्ण कार्यों को संपादित करते देखकर उनकी सामर्थ्य के साथ-साथ अपने भीतर निहित शक्ति में भी जैसा विश्वास पैदा होगा, गुरु जी उसका सर्वोत्तम उपयोग करना चाहते थे। समाज को एकता, सामूहिकता एवं बलिदान का पाठ पढ़ाने के लिए उन्होंने भिन्न-भिन्न जाति, वर्ण आदि से संबंधित ऐसे नेताओं के चुनाव को आवश्यक समझा, जिनके चयन का आधार मात्र मानवता हेतु बलिदान के लिए पहल करने की भावना हो, अन्यथा संख्या के हिसाब से तो जनता की मौज़ूदगी गुरु तेग बहादुर की शहादत के समय भी पर्याप्त ही थी, प्रश्न नेतृत्व करने वाले उन बलिदानियों का था, जो मानवता की रक्षा के लिए प्राण हथेली पर लिए घूमते हो, जो शिष्यों का तो दिशा-निर्देश करें ही, स्वयं गुरु को भी शिक्षा प्रदान करें।

वास्तव में, गुरु जी नेतृत्व करने वाली ऐसी इकाई के माध्यम से एक ऐसे लोकतंत्र की स्थापना करना चाहते थे, जिसमें सर्वहित को वैयक्तिक हित से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाये। भिन्न-भिन्न प्रदेशों, जातियों तथा उपजातियों से संबद्ध पाँच प्यारों का चुनाव कर 'खालसा' के सार्ववर्णिक एवं सार्वदेशिक रूप की घोषणा करना तो उनका उद्देश्य था ही। वे समता एवं स्वतंत्रता पर आधारित एक ऐसे समाज का आश्वासन भी देना चाहते थे जिसमें विशेषाधिकार किसी एक व्यक्ति के पास न हों अपितु सामूहिक विवेक को शासन विधान तय करने का अधिकार प्राप्त हो। वस्तुतः तत्कालीन शासन व्यवस्था में साम्प्रदायिकता एवं अमानवीयता से युक्त सत्ता के क्रूर नाच को देखकर गुरु जी की राजनीतिक सूझबूझ से संपन्न दृष्टि ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण को समाधान के रूप में पहले ही तलाश लिया था। इस दृष्टि से देखा जाए तो गुरु गोबिन्द सिंह का व्यवहार कई शताब्दियों आगे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

का था। आधुनिक राजनीतिक लोकतंत्र की शुरुआत भले ही बहुत बाद में हुई हो, इसके सूत्र गुरु जी की प्रस्तुत व्यवस्था में खोजे जा सकते हैं। इस दृष्टि से उन्हें लोकतंत्रीय शासन प्रणाली का जनक मानना अत्युक्ति न होगी।

पाँच प्यारों को मंच पर लाने के बाद गुरु जी ने लोहे के बर्तन में जल भरकर उसमें अपनी खड्ग से बताशे घोल कर[३] पाँच वाणियों ('जपुजी साहब', 'जापु साहब', 'दस सवैये', 'चौपाई' और 'आनंद साहब') का पाठ करके अमृत तैयार किया—और प्रत्येक को वह पाँच-पाँच बार 'छकाया'। (उसका पान कराया) इस प्रकार गुरु नानक के 'पंचपरिवाणु पंचपरधानु' को मूर्त रूप प्राप्त हुआ। शिष्यों की आत्मा को आध्यात्मिक वाणी से शुद्ध करने की दृष्टि से वाणियों के पाठ का तथा उनकी आत्मा में मधुरता के वास की दृष्टि से बताशों का महत्त्व ज्ञापित किया गया। गुरु जी ने बताया कि जिस प्रकार खांडे (खड्ग) से काटने पर बर्तन या किसी बड़े पात्र में रखा जल फिर मिल जाता है, उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा भी जल की भाँति भिन्न-भिन्न नहीं है। अर्थात् खांडे द्वारा जल का काटा जाना मनुष्य की आत्मा-आत्मा में समानता को दर्शाने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना गया, भले ही उसकी जाति, धर्म, कुल अथवा गोत्र कोई भी हो। गुरु नानक ने '**सरब जोति रूप तेरा देखिआ, सगल भवन तेरी माइआ**' तथा '**जाणु जोति न पूछहू जाती। आगै जाति न हे**" (१, रहाऊ, राग आसा) कहकर तथा गुरु अंगददेव ने **सरब सबदं एक सबदं, जे को जाणे भेउ, नानकु ता का दासु है, सोई निरंजन देउ**" (गुरु ग्रंथ साहिब, पृ ४६९)' कहकर जाति-भेद को अस्वीकार किया था तथा मानव-मानव की एकता और समता को सर्वोच्च माना था, उसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए गुरु गोबिन्द सिंह ने भी **"मानस की जात सबै एकै पहिचानबो!"** का न केवल कथन ही किया, अपितु 'खालसा' में प्रवेश लेने से पूर्व उस जाति बोध की समाप्ति की घोषणा करके, जिसमें पाँच प्यारों जन्म लिया था, उसे क्रियान्वित भी किया। कुल नाश, धर्मनाश, कृत नाश तथा कर्म नाश (जाति, संस्कार, पूर्व जीविका आदि के नाश) को 'खालसा' में प्रवेश लेने के लिए अनिवार्य समझा जाना भेदभाव के उन्मूलन की दिशा में वैसा ही एक महत् प्रयास था, जिसकी विरासत उन्हें पूर्व गुरुओं से प्राप्त हुई थी। हिन्दू, मुस्लिम, ब्राह्मण, चांडाल सभी जातियों के लिए खुले 'खालसा' के द्वार तथा सदस्यता के लिए मात्र सिर हथेली पर रखकर प्राणों का उत्सर्ग कर देने की इच्छा का आधार—सच्चे वीरों के चयन की यह प्रणाली भी उस आधार से साम्य रखती है, जिसे कबीर ने सच्चे साधुओं की पहचान के लिए अपनाने की प्रेरणा दी थी—

जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।

---

३. गुरु द्वारा पवित्र एवं स्वच्छ जल में नित्य वाणियों के पठन व साथ-साथ खंड़े (खड्ग) के फेरने से जो अमृत तैयार होता है, उसे 'खण्डे दी पाहुल' कहा जाता है। गुरु नानक के समय अमृत छकाने की रीति 'चरणपाहुल' से यह भिन्न है। उसमें गुरु चरणों से स्पर्श हुआ जल अमृत का रूप धारण कर लेता था। उसे 'चरणपाहुल' की संज्ञा प्रदान की जाती थी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

संत कबीर का विश्वास था कि ईश्वर ने प्रथम ज्योति उत्पन्न की जिसके फलस्वरूप सृष्टि उत्पन्न हुई। अतः सभी एक ही ज्योति द्वारा उत्पन्न हैं, फिर छोटे-बड़े, भले-बुरे का भेद मिथ्या है।[४] 'खालसा' पंथ की स्थापना करते हुए गुरु गोबिन्द सिंह मानो कबीर जी की वाणी को अमली जामा पहनाते दिखाई देते हैं। पाँचों प्यारों को अमृत पान के पश्चात् एकसाथ बैठाकर भोजन कराना विभिन्न वर्गों, धर्मों एवं जातियों में फैले विरोध, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष आदि भावों को दूर करने की दिशा में किया गया प्रयास ही है। इससे भ्रातृत्व भाव उत्पन्न करने में तो सहायता मिली ही, एक विशिष्ट धरातल पर, कुलीन एवं संभ्रांत परिवार में जन्मे गुरु से स्वीकृति एवं प्रोत्साहन प्राप्त होने पर शिष्यों ने एक उच्चता बोध की भी प्रतीति की, जिसने उनमें स्वयं को महत्त्वपूर्ण समझने का भाव भर दिया। परिणामस्वरूप उनमें स्वाधिकार, समानता एवं स्वतंत्रता के लिए मर मिटने की ललक पैदा हुई। नाम के आगे जाति सूचक शब्द के स्थान पर 'सिंह' लगाने से मनोवैज्ञानिक रूप से उनमें सिंहवत् वीरता का भाव उत्पन्न हुआ। कहना न होगा कि भारतीय जनमानस में झाँककर दलित एवं अपमानित जीवन व्यतीत करने वाले लोगों के सामूहिक अवचेतन का सही-सही उपयोग कर, उन्हें स्वाभिमान की चेतना से युक्त करना तथा उन्हीं के बीच में से वीर योद्धा उत्पन्न करना, गुरु गोबिन्द सिंह के ही बस की बात थी। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि गुरु जी के संस्पर्श से वे मनुष्य, जिन्होंने कभी कृपाण को छुआ तक न था, और न बन्दूक को ही अपने कंधे पर रखकर देखा था, सशक्त वीर बन गये। उन्होंने झीवरों, धोबियों और चमारों को भी ऐसा सेनापति बना दिया जिनके आतंक से बड़े-से-बड़े राजा भी भयभीत होने लगे।[५] हृदय में ईश्वर का नाम धारण कर, हाथ में हथियार लेकर जब ये सूरमा अत्याचारियों पर टूट पड़ते तो उन्हें नाकों चने चबाने पर विवश कर देते—

महाकाल का करयो ध्याना।
घट में निरख हरि भगवाना।
तुर्क म्लेच्छन सों नहीं मिलना।
लै हथियार सामने पिलना।

यह सचमुच विश्व-इतिहास में जाति-प्रथा वाले देश में अपने ढंग का एक अनोखा चमत्कार था कि सदियों से दलित, दमित, शूद्र, गीदड़ भी शेर अथवा सिंहों में तब्दील हो गये। उनके दोषों को सुधार कर गुरु ने उन्हें 'खालसा' अर्थात् विशुद्ध और स्वतंत्र बना दिया। वस्तुतः समाजवादी समाज की नींव तो गुरु के प्रयासों से १६९९ ई. में ही रखी जा चुकी थी, करीब दो शतब्दियों से भी अधिक समय के बाद जिसका प्रकटीकरण एक क्रांति के माध्यम से होता दिखाई देता है।

समाजवाद में मनुष्य की उन कठिनाइयों को दूर करने के प्रयत्न किये जाते हैं, जिसमें कि उसकी

---

४. अव्वल अल्लह नूर उपाइआ। कुदरत के सब बंदे।
एक नूर ते सब जब जग उपजिआ। कौन भले कौन मंदे।
—गुरु ग्रंथ साहब

५. Tansformation of Sikhism, P.84.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उन्नति में बाधा पहुँचती है और जिनके कारण वह अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं कर सकता। समाजवाद के अनुसार व्यक्ति की उन्नति व्यक्तिवाद का मार्ग अपनाने में नहीं, अपितु सामूहिक जीवन से ही हो सकती है और सामूहिक जीवन तभी सफल हो सकता है, जब व्यक्ति एक-दूसरे के हितों का ध्यान रखें, एक-दूसरे से सहयोग करें और दूसरे की स्वतंत्रता की रक्षा को अपनी ही स्वतंत्रता के समान महत्त्वपूर्ण समझें, न कि कुछेक व्यक्ति अपने प्रभुत्व को दूसरे व्यक्तियों पर आरोपित करें। इसके लिए समाजवाद ऐसी परिस्थितियों के निर्माण पर बल देता है जिसमें व्यक्ति अपनी वैयक्तिक क्षमता का भी भरपूर विकास कर सके ताकि वह उन कार्यों को सुचारु रूप से कर सके, जिनके लिए उसने संसार में जन्म लिया है। और ऐसी परिस्थिति तभी पैदा की जा सकती है जब उसकी विरोधी शक्तियों का नाश किया जाए। समाजवाद के अनुसार व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा से परे, सामाजिक सेवा की भावना की पोषक यह स्थिति शोषितों के शोषण पर फलने-फूलने वाले शोषक वर्ग के एकाधिकार का बलपूर्वक हनन करने से ही उत्पन्न की जा सकती है, सशस्त्र क्रांति की जिसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कहना न होगा कि जन-चेतना की वाहक उस क्रांति के बीज तो गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा 'खालसा' के संगठन के दौरान ही बो दिए गये थे। संस्कार रूप में प्रदत्तबीज अनुकूल परिवेश पाकर धीरे-धीरे पल्लवित एवं पोषित होते रहे और अन्ततः क्रांति के रूप में प्रस्फुटित हुए। स्वाधीनता की आकांक्षा की अनुभूति करना और उसकी प्राप्ति को अपने जीवन का अंतिम लक्ष्य मान कर अपने सभी प्रयासों को उसी की ओर केन्द्रीभूत कर देना 'खालसा' संगठन द्वारा ही संभव हुआ। ऐसे संगठनात्मक प्रयास के अभाव में शोषित एवं प्रताड़ित वर्ग की छटपटाहट को अभिव्यक्ति एवं स्वाधीनता की दिशा प्राप्त होना संभव न था। गुरु गोबिन्द सिंह वास्तव में महान क्रांतिकारी जिन्होंने जनशक्ति की पहचान की, उसके स्रोत को समझा और उसमें अपनी अद्भुत आस्था प्रदर्शित कर, उसे मनोनुकूल दिशा की ओर मोड़ा।

'खालसा' हिन्दू समाज को गुरु गोबिन्द सिंह की एक ऐसी विशिष्ट देन साबित हुआ जिसके लिए संपूर्ण हिन्दू जाति शताब्दियों तक उनकी ऋणी रहेगी। इसमें संदेह नहीं कि गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा प्रदत्त इस सामाजिक तंत्र एवं संगठनात्मक यंत्र के अभाव में हिन्दू धर्म के सुरक्षित रह पाने की आशा न थी। यह और बात है कि हिन्दुओं की सुरक्षा के लिए संगठित किए गये 'खालसा' का जाति और वंश को भूल जाने का सिद्धान्त सदियों से जाति प्रथा पर आधारित हिन्दू समाज के ही अनेक ब्राह्मण और खत्रियों को स्वीकार नहीं हुआ। उनका गुरु की सभा से बहिष्कार, गुरु के समतावादी दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया का सूचक है। किंतु 'खालसा' ऐसे प्रतिरोधों से विचलित भी नहीं हुआ। जिस प्रकार उसके सामाजिक बहिष्कार का प्रयत्न किया गया उसी तरह उसने भी ऐसे व्यक्तियों का विरोध किया जो 'खालसा' के सिद्धांतों के विपरीत आचरण करते थे। पंडित केशोंदास ने जब सिख संगत की पंगत में खाना खाने से इसलिए मना कर दिया क्योंकि उसमें शूद्र और अछूत भी थे, तो संगत ने भी उनका बहिष्कार किया। स्वयं गुरु गोबिन्द सिंह ने इस प्रतिक्रिया का उल्लेख अपनी रचनाओं में किया है। सेनापति ने 'गुरु शोभा' के छठे अध्याय में इसकी चर्चा विस्तारपूर्वक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

की है।

केशोंदास का ऐसा व्यवहार भी अकारण नहीं था। दरअसल, उस समय पुरोहितों और ब्राह्मणों का समाज में सर्वोपरि स्थान था। उन्हें ईश्वर के मुख से उत्पन्न होने के कारण श्रेष्ठ माना जाता था। शूद्रों की स्थिति शोचनीय थी। ब्राह्मण और शूद्र का भेद-भाव पूरे समाज में व्याप्त होने के कारण किसी शूद्र का स्पर्श हो जाने पर पूरे वस्त्र सहित स्नान करने का विधान प्रचलित था। शूद्र न उच्च जाति के लोगों से मिल-जुल सकते थे, न उनके धार्मिक अनुष्ठानों में भाग ले सकते थे। वैदिक मंत्र पढ़ने का अधिकार भी शूद्रों को नहीं था। ऐसे परिवेश में 'खालसा' की स्थापना तो एक क्रांतिकारी कदम था ही, उसका सामाजिक बहिष्कार करने वालों का विरोध करना उससे भी बढ़कर हिम्मत की बात थी। प्रतिक्रिया कैसी भी हो, गुरु अपने लक्ष्य से कभी विमुख नहीं हुए। 'खालसा' में दीक्षा का आधार यदि ऊँच-नीच, जाति, धर्म, वर्ण, संप्रदाय आदि नहीं बना तो फिर ऊल-जुलूल बोलने वालों के कलुषित इरादे भी इस आधार को बदल नहीं पाये। गुरु जी ने इस अन्याय के सामने सिर नहीं झुकाया और 'खालसा' में दीक्षा लेने वाले शिष्यों को भी इसका प्रतिरोध करना सिखाया। 'खालसा' में शूद्रों, अन्त्यज जाति के लोगों, छोटे व्यवसाय से जुड़े अथवा आर्थिक रूप से विपन्न लोगों को भी उतना ही सम्मान दिया गया, जितना सवर्णों अथवा ऊँची जाति के लोगों को। विभिन्न आधारों पर बंटी जनता में व्याप्त भेदभाव दूर कर, उन्हें अन्याय का विरोध करने में सक्षम बनाने और एक ही लक्ष्य की ओर उन्मुख करने के लिए गुरु गोबिन्द सिंह ने उन्हें इस बात का एहसास कराना जरूरी समझा कि अनेकता का भाव निर्बल बनाकर, उन्हें उनके अधिकारों से तो वंचित कर ही रहा है, साथ ही उनकी सांस्कृतिक चेतना की धारा को भी क्षीण कर रहा है। उन्होंने उन्हें संगठन का महत्त्व समझाया तथा यह भी बताया कि अत्याचार करना ही नहीं अत्याचार सहना भी पाप है। अत्याचारी यदि अनुनय-विनय को दुर्बलता मानकर कुमार्ग से विमुख न हो तो, अपनी अस्मिता बचाने लिए तथा उसकी अनीतियों पर अंकुश लगाने के लिए स्वाभिमानी व्यक्ति द्वारा किये गये शस्त्रास्त्र के प्रयोग का अपना ही औचित्य है—

चूंकार अज़ हमहहीलते दरगुजुश्त। हलालस्त बुर्दन ब शमशीर दस्त

(ज़फ़रनामा, २२)

अन्याय के विरुद्ध विद्रोह का भाव उत्पन्न करने और उसे क्रांति की स्थिति तक पहुँचाने के लिए गुरु जी ने निर्जीव, निष्प्राण प्रतीत होने वाले समाज में एकता, संगठन, वीरत्व एवं क्षत्रियत्व की भावना प्रदीप्त करने का बीड़ा उठाया। कहने की आवश्यकता नहीं कि "सब में रव रहया प्रभु एक है" जिसके व्यक्तित्व में रच-बस गया हो, वही ऐसे अद्भुत कार्य करने में समर्थ हो सकता है और अपनी समतावादी दृष्टि से समाज में युगांतरकारी परिवर्तन ला सकता है। गुरु गोबिन्द सिंह ऐसी ही अद्भुत सामर्थ्य से युक्त महामानव थे, जिन्होंने सामान्य धर्म-भीरु हिन्दुओं में से ही राजा उत्पन्न करने तथा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उन्हें राज्य करने की रीति सिखाकर—सरदार बनाने तथा सवा लाख से अकेले जूझने में सक्षम बनाने का निश्चय किया था—

भेड़ों को मैं शेर बनाऊं, राउन के संग रंक लड़ाऊँ।
भूप गरीबन को कहवाऊँ, चिड़ियों से मैं बाज लड़ाऊँ।
सवा लाख से एक लड़ाऊँ, तबै गोबिन्द सिंह नाम कहाऊँ।
इनहीं से राजे उपजाऊं, राज करन की रीति सिखाऊँ।
इनहीं को सरदार बनाऊँ, तबै गोबिन्दसिंह नाम कहाऊँ।[६]

कहना न होगा कि गुरु गोबिन्द सिंह ने अपने निश्चय के अनुरूप अपने प्रत्येक अनुयायी को न केवल स्वयं निर्णय लेने में समर्थ बनाया, अपितु प्रत्येक के हृदय में वीरता, दृढ़ता एवं उत्साह का भाव जागृत करने तथा उन्हें दुर्जेय योद्धाओं में बदल देने में सफलता प्राप्त की।

समाज में ऐसा युगांतरकारी परिवर्तन लाना आसान काम न था। मनसा, वाचा, कर्मणा—तीनों स्तरों पर विशिष्ट एवं व्यापक ढंग से किये गये प्रयासों से ही उपर्युक्त मनोनुकूल परिवर्तन संभव हो पाया। गुरु जी ने अपने व्यक्तित्व एवं आचरण का आदर्श तो प्रस्तुत किया ही, अपनी लेखनी को भी लक्ष्य के संधान में इस्तेमाल किया। धर्म से जुड़े समाज में जनता की चित्तवृत्ति को एक निश्चित दिशा की ओर मोड़ने के लिए धर्म एक सेतु का काम कर सकता है, इसे गुरु जी बखूवी समझ चुके थे। अत: उन्होंने एक जन-नेता की तरह जनता को धर्म एवं भक्ति के मार्ग से युद्ध के मार्ग तक पहुँचाने का निश्चय किया। जिसके लिए उन्होंने अपने वीर काव्य में पौराणिक कथाओं का चित्रण कर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि दुष्टता एवं अनाचार का विरोध प्रत्येक युग में होता आया है। ऐसा करना धर्म का कार्य है, मानवता की रक्षा करना है। न्याय की स्थापना के लिए किये जाने वाले युद्धों को उन्होंने धर्म युद्ध की संज्ञा प्रदान की। अपने काव्य में उन्होंने निरंतर ऐसी स्थितियों का चित्रण किया जिनमें अत्याचार के चरम ने देवताओं अथवा सत्पुरुषों को शस्त्र उठाने पर विवश कर दिया। इस प्रकार देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा को उन्होंने उनके द्वारा लड़े गये युद्धों के अनुकरण की ओर प्रवृत्त करने का प्रयास किया। साथ ही भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं, अवतारों आदि की आराधना से हटाकर जनता को एक ऐसे समान धरातल पर पहुँचाने के लिए, जहाँ से उसकी प्रभु-भक्ति को युद्ध की ओर मोड़ा जा सके, उन्होंने ईश्वर के ऐसे सर्वशक्तिमान रूप की कल्पना की, जिसमें उस युग में प्रचलित ईश्वर के सभी स्तुत्य रूपों को तो समाहित किया ही गया साथ ही उसे नवीन वैशिष्ट्य से भी युक्त किया गया। ईश्वर के इस रूप को उन्होंने अकाल पुरुष की संज्ञा प्रदान की। गुरु जी द्वारा संकल्पित ब्रह्म का यह रूप उपनिषदों से लेकर परवर्ती स्त्रोत ग्रंथों में वर्णित सर्वज्ञ परमात्मा तत्त्व के तद्व्यावृत्ति और अतद्व्यावृत्ति रूप से साम्य भी रखता है, और उससे भिन्न भी है। वह निर्गुण होते हुए भी सगुण है, निराकार के निकट होता हुआ भी साकार है। ऊपरी स्तर पर दिखाई देने वाला यह विरोधाभास दार्शनिक स्तर पर गुरु गोबिन्द सिंह की विशिष्टता ओर अपूर्वता को दर्शाता है। इसे

६. जीवन कथा श्री गुरु गोबिन्द सिंह, पृ. ४५१.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उनकी समन्वय साधना कहा जा सकता है, जिसमें विभिन्न धर्मों, संप्रदायों आदि को समझने-समझाने के बाद, उन्हें आत्मसात् करने की उदार मानवतावादी दृष्टि परिलक्षित होती है। गुरु जी जब सभी धर्मों मत-मतांतरों के लोगों और उनके आराध्य देवों को भी एक अकाल पुरुष की वंदना करते दिखाते हैं, तब उनकी प्रस्तुत ब्रह्म-विषयक अवधारणा के पीछे निहित उनका महान लक्ष्य स्वयं ही उद्भसित हो उठता है। जब ब्रह्मा विष्णु, महेश आदि देवता भी अकाल पुरुष के चरणों में लीन रहने के लिए आतुर हों तब उनके भक्तों के लिए अपना सर्वस्व अकाल पुरुष के चरणों में समर्पित कर देने में संकोच करने का कोई कारण नहीं रह जाता।

ऐसी परम शक्ति को जब गुरु जी संतों तथा दीन-दुखियों की रक्षा के लिए शस्त्र धारण कर दुष्टों के संहार में रत दिखाते हैं, तब कृपालु, रक्षक, परम शक्ति में भक्तों की आस्था और अधिक दृढ़ होना स्वाभाविक है। इससे भी आगे बढ़कर जब वे अकाल पुरुष को ही खंडा, कृपाण, तेग, तलवार आदि नामों से विभूषित कर उन्हें दुष्टों का दमन तथा जगत् का उद्धार करने वाली शक्ति बता कर उसकी शरण में जाने की प्रेरणा देते हैं, तब उनका उद्देश्य और भी स्पष्ट हो जाता है—

सुख संता करणं दुरमति दरणं किल बिख हरणं असि सरणं।
जै जै जग कारण, सृष्टि उबारण मम प्रतिपारण जय तेगं।

(विचित्र नाटक, ।/१)

इससे पूर्व शस्त्रों के प्रति आदर का भाव अवश्य प्रदर्शित किया जाता रहा, किंतु उन्हें ईश्वर का प्रतिरूप मानकर उनकी वंदना पहली बार की गई। अपनी विलक्षण प्रतिभा एवं अद्भुत कौशल के बल पर गुरु जी ने शस्त्रों को विचार और भावना से जोड़ कर दर्शन, चिन्तनधारा एवं जीवनधारा—तीनों को मिला दिया। अपने भक्तों की ईश-भक्ति को धर्म युद्ध से संपृक्त कर, आराध्य देव के भिन्न-भिन्न रूपों में भटकती जनता को गुरु नानक के निर्भय, निर्वैर ईश्वर के रूप के दर्शन कराकर गुरु जी ने अपनी आध्यात्मिक यात्रा तो संपन्न की ही, अपने समय की बहुत बड़ी आवश्यकता को भी पूरा किया। ईश्वर के सम्मुख नमन अब तेग धारण कर, अन्याय के दमन में रूपांतरित हो गया। किसी भी पवित्र और धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए रणभूमि में वीरतापूर्वक किये गये युद्ध से बढ़कर धार्मिक कार्य अन्य कोई नहीं रहा, और ऐसा युद्ध करते हुए पाई गई वीरगति अनन्य शुभ कार्य एवं प्रभु चरणों में दी जाने वाली सर्वोत्तम भेंट हो गई—

देहु सिवा वर मोहि इहे, सुभ कर्मन ते कबहूं न टरौ।
न डरौ अरि सौं जब जाय लरौं, निसचै कर अपनी जीत करौ।
अरु सिख हो अपने ही मन कौ, यह लालच हौ गुण तौ उचरौ।
जब आव की औध निदान बने, अति ही रन में तब जूझ मरो।

(चंडी चरित्र उक्ति विलास, २३१)

समाज का रूपांतरण करने के लिए, राष्ट्र को स्वाधीनता दिलाने के लिए एक अनिवार्य स्थिति के तौर पर उभरी शस्त्र की आवश्यकता, प्रभु नाम के साथ जुड़कर नाम स्मरण एवं नाम जाप को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शस्त्र-स्मरण एवं शस्त्र-जाप तक ले आई। देखते ही देखते प्रभु नाम का जाप करने वाले साधक ऐसे वीर योद्धाओं में परिवर्तित हो गये, जो हरि नाम स्मरण करते हुए हाथ में शस्त्र लेकर शत्रु पर टूट पड़ने के लिए आकुल हो उठे—

'मुख में हरि चित्त में जुधु बिचारै'

समन्वय के इसी बिन्दु पर गुरु जी का युद्ध दर्शन खड़ा है, जिसका एक छोर अध्यात्म से बँधा है तो दूसरा सशस्त्र क्रांति से। शत्रु चूँकि शक्तिशाली थे, क्रूर एवं निर्मम भी, अतः उन्हें पछाड़ने के लिए मात्र भुजबल पर्याप्त नहीं हो सकता था। उसके लिए शस्त्र की आवश्यकता थी ही और शस्त्र से भी पूर्व आवश्यक था दुष्टों को देखते ही, उन्हें कुचल देने का भाव । इस आवश्यकता की पूर्ति गुरु जी ने शक्ति और भक्ति के अपूर्व समन्वय द्वारा की, जिसने उस युग में आश्चर्यजनक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। अपनी आध्यात्मिक भावना को समुचित मोड़ देकर शस्त्रों की आराधना, सम्मिलित प्रयास और कर्मठता के रूप में गुरु जी ने जो समाधान प्रस्तुत किया वह अद्भुत था। इतना ही नहीं, गुरु जी ने युद्ध को क्षत्रिय की बपौती समझे जाने वाले पुरातन सांस्कृतिक मूल्य के स्थान पर युगानुकूल नवीन मूल्य की सर्जना की जिसके लिए पुनः उन्होंने अपनी समर्थ लेखनी का आश्रय लिया। उन्होंने साबुनगीर, ठठेरे, माली, स्वर्णकार, दर्जी, बढ़ई, नट आदि व्यवसायों को अपनाने वाले तथा अन्त्यज जातियों के लोगों में भी युद्ध से संपृक्ति उत्पन्न करने के लिए अपने काव्य में पौराणिक कथाओं का चित्रण करते हुए ऐसे उपमानों का प्रयोग किया, जिन्हें पढ़कर निम्नजाति के लोग स्वयं को पौराणिक काल से ही युद्धों से जुड़ा हुआ महसूस करें।[७] चूँकि छोटी जातियों और छोटे व्यवसायों से जुड़े लोगों का युद्ध से कभी कोई सरोकार न रहा था, न सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के तहत ऐसी कोई व्यवस्था ही थी कि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें युद्ध से संबद्ध किया जा सके और न कभी इन लोगों की ओर से इस संबंध में किसी तरह का विरोधभाव प्रदर्शित किया गया था। विरोध की बात तो बहुत दूर रही, इस बारे में उन्होंने कभी सोचा तक न था, और न कभी स्वयं को युद्ध करने लायक समझा था। ऐसे लोगों की शताब्दियों से चली आने वाली

---

७. (क) जिउ दरजी जम म्रित के सीत मै बागे अनेक कता करि डारे।
(ख) पै दल मै दल मीज दयो तिल ते जिमु तेल निकारत तेली।
(ग) मूँगर लाइ हुलाइ मनो तरू काछी ने पेड़ ते तूत गिराए।
(घ) जिउ धुबिया सरता तट आइकै लै पट को पट साथ पछारयो।
(ड.) मानहु सार की तार लै हाथ चलाई है सावन को सबुनगीर।
—चंडी चरित्र उक्ति विलास, १५, १५७, २००, ३४, २०२।
(च) जापे कटे बाढ़िआँ रुख चंदन आरी।
—चंडी दी वार, ४८
(छ) जण हलवाई सीख नाल विंन्ह वड़े उतारे।
—चंडी दी वार, ५२

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सोच-समझ को पूरी तरह से बदलने के लिए गुरु जी को कितना परिश्रम करना पड़ा होगा, इसे समझना कठिन नहीं। इतिहास साक्षी है कि उनके द्वारा लड़े गये युद्धों में सर्वाधिक योगदान शूद्रों एवं तथाकथित छोटी जाति के लोगों का ही रहा।

गुरु जी ने पौराणिक कथाओं के युद्ध-चित्रण के माध्यम से भक्तों को धर्म युद्ध की ओर प्रेरित किया ही, अन्य अनेक प्रयासों से वे प्रभु भक्तों को युद्धक्षेत्र तक पहुँचाने का सामान जुटाते रहे। देवी दुर्गा को अकाल पुरुष की शक्ति मानकर उसकी स्तुति में तीन-तीन काव्यों (चंडी चरित्र, चंडी चरित्र उक्ति विलास, चंडी दी वार) की रचना करना, विभिन्न शस्त्रास्त्रों से परिचित कराने तथा उनसे संपृक्ति का भाव उत्पन्न करने तथा उपयुक्त समय पर उनके उचित प्रयोग की विधि सिखाने के लिए एक संपूर्ण शस्त्र काव्य (शस्त्र नाम माला) लिखकर तेग को ही ईश्वर मानना,[८] पौराणिक कथाओं में आवश्यकतानुसार युद्ध विषयक नवीन उद्भावनाएँ करना, सर्वकाल को अपना पिता तथा देवी कालिका को माता बताना[९] आदि अनेक ऐसे प्रयास लक्ष्य के प्रति गुरु के सरोकार की सघनता को ही स्पष्ट करते हैं। वास्तव में, जब जैसी आवश्यकता पड़ी, प्रत्युत्पन्नमति गुरु ने उसी के अनुरूप समाधान भी तलाश लिया, कभी अतीत की ओर झाँककर, कभी वर्तमान को निहार कर तो कभी शताब्दियों आगे की सोच कर। समाज में इतने विशाल पैमाने पर ऐसा क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए उसी स्तर की तैयारी भी अपेक्षित थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि गुरु गोबिन्द सिंह नीति के प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म बिन्दु पर दृष्टिपात कर, उसके पक्ष-प्रतिपक्ष की योजना के साथ-साथ उसके माध्यम से पड़ने वाले मनोवैज्ञानिक प्रभाव का पूर्व आकलन कर जिस सुव्यवस्थित ढंग से सावधानीपूर्वक उसे क्रियान्वित करते हैं, उससे लक्ष्य कितना ही दुरूह क्यों न हो, उसकी प्राप्ति में कोई संदेह नहीं रह जाता।

संगठन निर्माण से पूर्व अनेक वर्षों तक मानव मन के पारखी गुरु की सूक्ष्मान्वेषी दृष्टि प्रतिक्षण इसी खोज में रही थी कि संगठन की रूपरेखा, सिद्धांत, निर्माणात्मक विधि आदि कैसी होनी चाहिए ताकि लक्ष्य की सिद्धि में उसके प्रत्येक पहलू का अधिकाधिक एवं सर्वोत्तम उपयोग किया जा सके। 'खालसा' नाम ही अपने भीतर 'खालिस' (विशुद्ध, पवित्र) भाव का लिए हुए है, जो यह दर्शाता है कि इसका प्रत्येक अनुयायी आध्यात्मिक नैतिक दृष्टि से विशुद्ध एवं पवित्र भाव धारण कर, ऐसे ही भावों का प्रचार-प्रसार करने तथा दुष्टता एवं अनीति का उन्मूलन करने के लिए प्रयासरत है। अर्थात् 'खालसा' ऐसे सैनिकों की जमात न थी, जो नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों को हाशिए में डाल कर लड़े जाने वाले युद्धों से जुड़े हों, अपितु ये उन बलिदानियों की संस्था थी जिनके द्वारा लड़ा गया प्रत्येक युद्ध पीड़ित-शोषित मानव को त्राण दिलाने के लिए था। मानव मात्र की समता तथा एकता में दृढ़

---

८. (क) सैफ़ सरोही सैहथी यहै हमारे पीर।
(ख) तुमी गुरज तुमी गदा तुमही तीर तुफंग।
—शस्त्रनाम माला, ३, १३

९. सरब काल है पिता हमारा, देवी कालिका माता।
—विचित्र नाटक, ५/१४

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

विश्वास तथा किसी अन्य मत अथवा संप्रदाय का विरोध नहीं, अपितु मात्र असत्य और अन्याय के प्रति विरोध का भाव वह दृढ़ आधार था जिस पर 'खालसा' की नींव रखी गई थी। 'खालसा' की स्थापना के पीछे गुरु जी की संवेदनशील एवं मानवतावादी दृष्टि को तो परिलक्षित किया ही जा सकता है, जो मानवीय मूल्यों और मानवता के प्रति मंगलकामना से जुड़ी हुई है, उनके व्यक्तित्व के अन्य अनेकानेक विशिष्ट पहलुओं को भी पहचाना जा सकता है, जो एक-दूसरे के साथ सुन्दर ढंग से गुंथे हुए है। 'खालसा' के साथ-साथ चलते हुए हमारे सामने उनके बहु-आयामी व्यक्तित्व के विभिन्न आयाम एक के बाद एक खुलते चले जाते हैं और अनेकानेक गुणों का अद्भुत समुच्चय एक-साथ देखकर हम बरबस दाँतों तले अंगुली दबा लेते हैं। वाणी मानो साथ छोड़ देती है, भाव अवरुद्ध हो जाते हैं ।

कहीं हम उन्हें आवश्यकतानुसार निराश सैनिकों को प्रबोधन दे दुगुने उत्साह से कर्तव्य-पालन की ओर उन्मुख करते हुए देखते हैं, तो कहीं उनकी ज़बर्दस्त आत्मसंप्रेषण शक्ति और ओजस्वी वाणी से अभिभूत होते हैं, समय-समय पर सैनिकों का मनोबल ऊँचा रखने के लिए किये गये उनके विविध उपायों को देखकर उनके कुशल मनोविज्ञानवेत्ता होने का आभास होता है। शिष्यों को शस्त्र-संचालन, सेना-संगठन, विभाजन, नियुक्ति, व्यूह, आक्रमण, संग्राम आदि का अभ्यास कराते हुए वे वीर सेनापति एवं अद्भुत प्रशिक्षक का रूप धारण कर लेते हैं। उन्हें अवतारों की कथाओं को लौकिक धरातल पर उतारकर उन्हें सर्वग्राह्य बनाने तथा अपने लक्ष्य की सिद्धि में उनका उपयोग करते हुए देखकर उनकी पैनी सूझबूझ, विलक्षण प्रतिभा एवं काव्यकौशल को लक्षित किया जा सकता है तो उनके द्वारा किया गया 'खालसा' का नामकरण, सिद्धाँत, वेशभूषा तथा जयघोष आदि का पूर्व निर्धारण हमें उनकी समाज के समूहगत मनोविज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन तथा व्यक्ति अथवा पदार्थ की भीतरी पर्तों का भी उद्घाटन करने वाली 'एक्स-किरणों' (X-Rays) की सी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से परिचित कराता है।

जैसा कि कहा जा चुका है कि संगठन के नामकरण का चयन पवित्र उद्देश्य के लिए संगठित कोरे सिपाही नहीं, संत सिपाहियों के ऐसे संगठन का आभास कराता है, वैयक्तिक हित लाभ, राज्य-विस्तार अथवा बदला लेने की भावना से जिसका कोई सरोकार न था। साथ ही पवित्र (विशुद्ध, खालिस) उद्देश्य से जिसका संगठन किया गया था, जिसके परिणामस्वरूप प्रत्येक खालसा का हृदय विशुद्ध मानवता की ज्योति से आलोकित हुआ। इसी प्रकार पाँच प्यारों को अमृतपान कराने के बाद किये जाने वाले जय घोष—'वाहे गुरु जी का खालसा, वाहे गुरु जी की फतह' के माध्यम से शिष्यों के हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव की कल्पना भी गुरु जी द्वारा पहले ही कर ली गई थी, उन्होंने अवसर के अनुकूल शब्दावली का चयन कर जयघोष तथा उसकी उच्चारण पद्धति का निर्धारण किया था। प्रस्तुत जयघोष शिष्यों को खालसा की विजय का विश्वास दिलाने में समर्थ है और 'गुरु जी का' होने के कारण उसे गुरु का संरक्षण सदैव प्राप्त रहेगा, ऐसा विश्वास निश्चय ही सैनिकों को गुरु के संरक्षण में दुष्कर से दुष्कर कार्य को संपादित करने का बल भी प्रदान करेगा क्योंकि गुरु के नेतृत्व, उनकी कार्यक्षमता, उनके महान व्यक्तित्व से सभी शिष्य अच्छी तरह परिचित हैं। उनके द्वारा इससे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पूर्व लड़े जाने वाले सभी युद्धों में किस प्रकार शत्रु को हमेशा मुँह की खानी पड़ी है यह वे देखते आये हैं, तथा इस भाव से वे सदैव अपने को गौरवान्वित महसूस करते रहे हैं। उसी गुरु की छत्रछाया में संगठित समुदाय की विजय अवश्यंभावी है और साथ ही चारों ओर गुरु के खालसा की वाह-वाह (जय-जयकार) का प्रसार भी निश्चित है। यहीं, इसी जयघोष में दूरदर्शी गुरु, खालसा सैनिकों द्वारा किए जाने वाले सत्कर्मों की रूपरेखा भी तय कर लेते हैं। चूँकि प्रत्येक खालसा गुरु के निर्देशानुसार गगनभेदी जयजयकार सुनने के लिए आतुर था, इसलिए स्वाभाविक था कि उसके कार्य भी उसी से प्रेरित हों। अत: वह जनहित विरोधी कार्य कर ही नहीं सकता था। अर्थात् प्रस्तुत जय-जयकार में मानव-हित के कार्यों का संपादन और सामूहिकता का भाव जुड़ा ही हुआ है। इतना ही नहीं उसकी उच्चारण पद्धति भी सैनिकों के हृदय में जोश उत्पन्न करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है : **'वाहे गुरु का खालसा-आ-आ-आ/'वाहे गुरुजी की फते-ए-ए-एह।'** में 'खालसा' और 'फतेह' शब्दों पर दिया गया बल दोनों को पर्याय बना प्रत्येक कर खालसा को जी जान से फतेह (विजय) प्राप्त करने की ओर जुट जाने के अद्‌भुत जोश को जन्म देता है।

'खालसा' के शिष्यों के लिए एक निश्चित वेशभूषा के विधान की आवश्यकता तो गुरु जी ने तभी महसूस कर ली थी, जब गुरु तेग बहादुर के बलिदान के समय शाही फरमान द्वारा यह घोषणा की गई थी कि—'जो गुरु का शिष्य हो वह उनकी देह ले जाये, किंतु एक भी शिष्य शाही कोप के भय से अपनी ही खातिर बलिदान देने वाले गुरु तेग बहादुर की देह लेने के लिए आगे नहीं बढ़ा था। छोटी समझे जाने वाली जाति (रंगरेटा) के जेता ने ही आनंदपुर में गुरु जी का शीश लाकर दिया था। बाह्य पहचान चिह्नों के अभाव से होने वाली इस क्षति को सहन कर दूरदर्शी गुरु गोबिन्द सिंह ने तभी यह निर्णय ले लिया था कि उन्हें गुरु नानक जी के सिद्धांतों में किसी प्रकार का मौलिक परिवर्तन लाये बिना, शिष्यों की एक ऐसी संस्था स्थापित करनी होगी जिसमें उनमें व्याप्त जातिगत भेदभाव को तो पूर्णतया समाप्त किया ही जा सके, एक ही बार में उन्हें अन्य हिन्दुओं से अलगाया भी जा सके। ताकि शिष्य किसी भी स्थिति में शिष्य होने से इंकार न कर सके। वेशभूषा की विधिवत् घोषणा 'खालसा' पंथ की स्थापना के बाद अवश्य हुई थी, किन्तु वास्तव में इसका निर्णय पिता के बलिदान के क्षण ही लिया जा चुका था। इसमें पंच ककारों ('क' अक्षर) को सर्वोपरि स्थान देते हुए उन्हें धारण करना प्रत्येक खालसा के लिए अनिवार्य माना गया। इसमें केश, कृपाण, घुटनों तक की काछ (कच्छा), कंघा और लोहे का कड़ा सम्मिलित है।[१०] 'क' अक्षर से शुरू होने के कारण इन्हें सम्मिलित रूप से 'पंच ककार' कहा गया।

बाह्य पहचान के ये 'पंच ककार' केवल यों ही नहीं तय कर लिये गये। ये केवल पहचान के ही चिह्न नहीं हैं अपितु अपने प्रतीकात्मक रूप में ये शिष्यों के मनोविज्ञान के साथ जुड़े हुए हैं।

---

१०. निशाने सिखी ई. हरफ़ पज काफ़। हरगिज़ न बाशद ई पंज मुआफ़।
कड़ा कार दो कच्छ कंघा बिदां। ठिला केश हेच असत जुमलह निशां।
—१, २, दशम ग्रंथ, पृ. ७४९-५०

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जिनका निर्धारण अत्यंत सोच-समझकर, सैनिक मनोवृत्ति के अनुरूप किया गया जान पड़ता है। केशों से शिष्य की पहचान तो संभव है ही, ये ठीक उसी प्रकार पुरुष के प्राकृतिक शृंगार के भी प्रतीक हैं जैसी केसरी सिंह का केसर। प्राचीन काल से ऋषि-मुनि केश धारण करते आ रहे हैं। ये ऋषियों के समान मोह-माया से मुक्त रहने और त्यागमय जीवन जीने के प्रतीक हैं। केशों की स्वच्छता एवं उनके ठीक से गुँथे होने के लिए उनके साथ कंघे की उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है, अतः कंघा 'खालसा' के स्वच्छ आचरण एवं स्फूर्तिमान होने का प्रतीक है। लोहे का कड़ा विभिन्न शंकाओं पर विजय का प्रतीक है। दायें हाथ में पहना जाने के कारण यह शिष्य को प्रत्येक कार्य करने से पहले इस बात का स्मरण कराता है कि वह गुरु का शिष्य है, गुरु की शिक्षाओं से बँधा है, अतः उसका प्रत्येक कार्य उन शिक्षाओं से इतर नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कड़े के माध्यम से तलवार के आक्रमण के समय निहत्थे होने पर उसके वार से बचा जा सकता है। काछ उच्च आचरण तथा लंगोट के पक्के होने की प्रतीक है तथा खालसा के चरित्रवान होने की परिचायक है और किसी भी ढीले-ढाले वस्त्र के स्थान पर उसे धारण करना पुनः खालसा के चुस्त-दुरुस्त होने का सूचक भी है। कृपाण दीनों की आत्मरक्षा का आवश्यक साधन है, शक्ति की सूचक है। लौह धातु शस्त्र से जुड़कर शक्ति की प्रतीक भी हो जाती है। यह अधर्म के नाश, धर्म की विजय तथा आर्थिक-सामाजिक स्वतंत्रता एवं स्वाभिमान की प्रतीक है। कृपाण धारण करना, दीन-हीन की सेवा के भाव की ओर उन्मुख करता है और दलितोत्थान का भाव तत्कालीन शासकों के सक्रिय विरोध की ओर ले जाने में सहायक है, सारा का सारा आयोजन जिस उद्देश्य के लिए किया गया है।

स्पष्ट है कि संगठन का नाम-निर्धारण ही नहीं, वेशभूषा और बाहरी चिह्नों के निर्धारण में भी गुरु की सूझबूझ लक्षित करने योग्य है। इन चिह्नों को धारण कर निर्बल से निर्बल कापुरुष का भी मरने-मारने के लिए तत्पर हो जाना कोई अचरज की बात नहीं। मनोवैज्ञानिक रूप से इनसे संबद्धता ही प्रत्येक अनुयायी में बल का संचार करने के लिए पर्याप्त है, फिर कृपाण धारण करके स्वयं को आततायी शासकों का मुकाबला करने में सक्षम समझने का आत्मविश्वास तो सैकड़ों शत्रुओं को मार गिराने की भी सामर्थ्य प्रदान कर सकता है। चूँकि 'खालसा' की शिष्यता स्वीकार कर धर्म स्थापना के लिए बलिदान देने की शपथ-ग्रहण की गई है, अतः बाह्य-पहचान चिह्नों की मौजूदगी के कारण किसी भी स्थिति में शिष्य के लिए संशय में पड़ने की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। गुरु के शिष्य का युद्ध से विमुख होना—अपने आप में ही अपमान बोध की जिस तीव्रता को सँजोए हुए है, कोई भी शिष्य सार्वजनिक तौर पर उसके लिए तैयार न होगा। सामूहिक मनोविज्ञान के पारखी गुरु ऐसा जानते थे। हाँ, बाह्य-चिह्नों के अभाव में भले ही भ्रम में पड़ने अथवा बच निकलने की संभावना हो सकती थी। सार्वजनिक रूप से दी गई स्वीकृति का अपना विशेष महत्त्व है, इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का गुरु जी सर्वोत्तम उपयोग करते हुए दिखाई देते हैं।

'पंच ककारों' की पवित्रता के साथ-साथ शिष्यों के लिए पंच अस्त्र—तीर, धनुष, नेजा, कृपाण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और अग्नि दंड धारण करने को भी गुरु ने 'खालसा' के लिए आवश्यक माना। ताकि आवश्यकता पड़ने पर उनका उचित उपयोग किया जा सके। प्रत्येक 'खालसा' के लिए "रहत मर्यादा" का पालन भी आवश्यक समझा गया, जिसके चार नियमों में शरीर के किसी भी अंग के बाल न काटना, धूम्रपान, तंबाकू अथवा मद्यपान का निषेध, हलाल बकरे का मांस न खाना तथा मुस्लिम औरतों का अपमान न करना सम्मिलित हैं।[११] 'दशम ग्रंथ' में गुरु जी ने इन चारों नियमों की चर्चा इस प्रकार की है—

हुक्का हज़ामत हलालो हराम, बाची शोहिनां कर दरु स्याह फाम।

(४, पृ.-७५०)

उपर्युक्त नियम आचरण की शुद्धता पर बल देने के साथ-साथ नारी को गौरव का पद प्रदान करते हैं। आचरण की पवित्रता ही पर बल देने के लिए गुरु गोबिन्द सिंह जी ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया कि परनारी गमन पाप है, स्वप्न में भी पर-स्त्री का ध्यान नहीं करना चाहिए तथा अपनी पत्नी से प्रेम करना चाहिए। उन्होंने अपने शिष्यों को समझाया कि दूसरे की पत्नी का प्रेम तीक्ष्ण तलवार की भाँति है और स्वयं को अत्यंत चतुर समझकर जो दूसरे की पत्नी से आनंद प्राप्त करना चाहते हैं वे अंत में कुत्तों की मौत मरेंगे।[१२] कहने की आवश्यकता नहीं कि गुरु जी द्वारा दिये गये उपर्युक्त उपदेश आज भी प्रत्येक सिख को चिन्तन एवं आचरण की पवित्रता एवं शुद्धता धारण कर 'खालसा' नाम को सार्थक करने की प्रेरणा देते हैं। गुरु का शिष्य कहलाने वाले प्रत्येक सिख से हर स्थिति में इन उपदेशों को अपने आचरण द्वारा चरितार्थ करने की अपेक्षा की जाती है।

पंच ककार, पंचअस्त्र एवं रहत मर्यादा के अतिरिक्त गुरु गोबिन्द सिंह ने धार्मिक संस्थानों के मनोवैज्ञानिक प्रभाव को समझते हुए 'खालसा' में प्रवेश करने वाले प्रत्येक सिख के लिए अमृत 'छकना' (का पान करना), जिसे 'पहुल संस्कार' कहा गया, प्रेम, प्यार और सहयोग से जीवन बिताना, कुसंगति से बचना आदि आवश्यक माना। साथ ही निर्बलों, असहायों की सहायता करना, प्रतिदिन शस्त्राभ्यास करना, सही ढंग से आजीविका अर्जित करना, अपनी आय का दसवाँ भाग ईश्वरोपासना

---

११. (a) in addition to these five emblems, the converts werre to observe four rules of conduct Rahat. not to cut hair on any part of their body, not to smoke, chew tobbaco or consume alcoholic drinks, not to eat an animal which had been slaughtered by being bled to death... and not to molest the person of Muslim Women."

—Khuswant Singh, A History of the Sikhs, Vo. 7, P. 84.

((b) हुका न पीवै सीस दाड़ी न मुड़ावै।
सो तो वाहेगुरु जी का खालसा।
—गुरुशोभा, ३०/१७

१२. निज नारी के साथ नेहु तुम नित्त बढैयहु। परनारी की सेज भूलि सपनेहू न जैयहु॥
परनारी के भजे सहस बासवभग पाए। परनारी के भजे चंद्र कालंक लगाए॥
परनारी के हेत सीस दससीस गंवायो। हो परनारी के हेत कटक कवरन को छायो॥
परनारी सौ नेहु धुरी पैनी करि जानहु। परनारी के भजे काल व्याप्यो तन मानहु॥
अधिक हरीफी जानि भोग पर तिय जो करही। हो अंतर स्वान की म्रितु हाथ लेंडी के मरहु॥
—चरित्रोपाख्यान, २२वां चरित्र कथन, ५१-५२

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

में व्यय करना, शुभ कार्यों और सत्य द्वारा ईश्वर का स्मरण करना, गुरु और अकाल पुरुष के अतिरिक्त अन्य किसी के समक्ष शीश न झुकाना आदि को प्रत्येक खालसा का परम कर्तव्य माना गया। इसके साथ ही अन्य धर्मों के तीर्थों, पवित्र भावनाओं और विचारधाराओं का सम्मान करना भी गुरु जी ने खालसा के कर्तव्यों में सम्मिलित माना। इस संबंध में भाई सुखासिंह 'गुरु विलास' में लिखते हैं—

राज जोग तुम कह मैं दीना। परम जो संग परचो कीना।
संत सगुहन को सुख दीजै। अचल राज धरनी महि कीजै।
खालस की चरणी सब लागो। अरम जोत के रस में पागो।

इसके अतिरिक्त गुरु गोबिन्द सिंह जी ने 'खालसा' को कुछ अन्य आवश्यक शिक्षाएँ भी दीं। उन्होंने सत्य की ज्योति को सदैव प्रज्वलित रखने वाले, एक अकाल पुरुष में विश्वास रखने वाले तथा नाम-स्मरण करने वाले उस प्रत्येक व्यक्ति को खालसा माना, जो ईश्वर के निश्छल प्रेम में ही तीर्थ, दान, दया, तप, संयम आदि समाहित मानता है तथा भूलकर भी कब्र, दरगाह, मठ समाधि अथवा मढ़ी आदि में नहीं जाता। ईश्वर की पूर्ण ज्योति से जिसका हृदय प्रकाशित है, गुरु जी की दृष्टि में ऐसा पवित्र व्यक्ति खालसा है। उन्हीं के शब्दों में—

जागत जोत जपै निसि बासर एक बिना मन नैक न आनै।
पूरन प्रेम प्रतीत सजे व्रत गोर मढ़ी मठ भूल न माने।
तीरथ दाना दया तप संजम एक बिना नह एक पछानै॥
पूरन जोत जगै घट में तब खालस ताहि न खालस जानै॥

(तैंतीस सवैये)

ईश्वर में अगाध आस्था स्वयं ही अंधविश्वासों एवं फलित ज्योतिष आदि में अविश्वास को जन्म देती है। अतः अपने शिष्यों को भी गुरुजी ने अंधविश्वासों आदि के प्रभाव से दूर रहने का उपदेश दिया।[१३] 'खालसा' के लिए पुरातन एवं नवीन मूल्यों में समन्वय स्थापित करते हुए उन्होंने ऐसी परंपराओं का निषेध किया जो समाज के लिए उपयोगी नहीं रही थीं। 'मसन्द प्रथा' को खालसा की आचरण संहिता में कोई स्थान न देना इसका एक अन्य उदाहरण है। जैसा कि अन्यत्र भी कहा गया है, गुरु रामदास द्वारा प्रारंभ कीगई इस प्रथा में चूँकि कई दोष आ गये थे और यह अनुपयोगी होने के साथ-साथ उद्देश्य प्राप्ति की राह में बाधक भी सिद्ध हो रही थी, अतः गुरु जी ने न केवल रूढ़िमात्र में तब्दील हो गई इस व्यवस्था का विरोध ही किया, अपितु नई व्यवस्था निर्धारित कर उस पर चल कर यह भी दिखा दिया कि कोई भी नीति अथवा परंपरा ईश्वर प्रदत्त नहीं होती। समाज के लिए अर्थहीन साबित होने पर उसे बदला जा सकता है। निरर्थक हो चुके प्राचीन विचारों के स्थान पर नवीन आदर्शों की स्थापना का गुरु का यह कार्य उनके उद्यम एवं पहल करने की क्षमता के साथ-साथ

१३. Knowing that the hill folk were very superstitious and believed in astrology, the Guru said, "My Sikhs will never be a pray to superstitions. For them one moment is as good as another. He who has faith in God will not like to divine his secrets through astrology or such like superstitons."
—**Dr. Gopal Sirtgh, Guru Gobind Singh, P. 36.**

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उनके समाज सुधारक रूप का भी परिचायक है। 'खालसा' के माध्यम से उन्होंने समाज की अनेकानेक बहुप्रचलित मान्यताओं में संशोधन एवं परिष्कार ही नहीं किया, समाजोपयोगी नवीन मान्यताओं की स्थापना भी की ।

ऐसी ही एक अद्भुत एवं महत्त्वपूर्ण मान्यता से हम तब परिचित होते हैं, जब गुरु पाँच प्यारों को दीक्षा देने के बाद, स्वयं उनके सम्मुख घुटने टेककर, वहीं प्रतिज्ञाएँ करते हैं, जो उन्होंने शिष्यों से करवाई थीं और स्वयं भी अमृतपान कर उनसे दीक्षा ग्रहण करते हैं ।[१४] अपने शिष्यों को दीक्षा देने के बाद गुरु जी ने स्वयं उन से दीक्षा ग्रहण की तथा गोबिन्द राय से गोबिन्द सिंह नाम धारण किया । 'आपे गुरु चेला' बनकर उन्होंने एक नवीन इतिहास की रचना की और अपने शिष्यों को वे सब अधिकार दिये जो उन्होंने अपने लिए रखे । इतिहास से पता लगता है कि कोई व्यक्ति अथवा वर्ग जिसने धर्म संबंधी श्रेष्ठता प्राप्त की हो, अपने विशेष अधिकारों में से किसी को साझीदार नहीं बनाना चाहता । परन्तु गुरु गोबिन्द सिंह, जिनको उनके श्रद्धालु अनुयायी संसार के सभी पीर-पैगम्बरों से बड़ा मानते थे, और ही प्रकृति के बने हुए थे । उनका आचरण भी परंपरागत रीति से एकदम भिन्न एवं अद्वितीय होना स्वाभाविक था । उनकी राजनीतिक अन्तर्दृष्टि ने उन्हें इस बात की अनुमति कदापि नहीं दी थी कि वे स्वयं को अपने अनुयायियों से पृथक् एक अनन्य आसन पर प्रतिष्ठित कर लें । इस प्रकार शिष्यों की ही शिष्यता स्वीकार कर गुरु जी ने अपनी लोकतांत्रिक धारणा का परिचय दिया, जिसमें नेता अथवा मुखिया के लिए भी वही अधिकार थे, जो अनुयायियों के लिए ऐसा करते हुए उन्होंने अपनी आत्मा की उस विनम्रता का परिचय तो दिया ही, जिसे उन्होंने पूर्व गुरुओं से विरासत में प्राप्त किया था तथा जिसका उपदेश उन्होंने स्वयं भी दिया था, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण था—शिष्यों के साथ स्थापित किया गया एकात्म भाव, जिसने यह साबित कर दिया कि अगर शिष्य गुरु के प्रति अपने अन्तरतम से सच्चा है, तो गुरु की शिक्षाओं को आत्मसात कर वह गुरु का स्थान ले सकता है । शिष्यों के अन्तरतम की शुद्धता, उनकी पवित्रता एवं समर्पण भाव के प्रति आस्था दिखाकर उन्होंने अपनी इस धारणा को भी प्रकट किया, जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य के अस्तित्व को महत्त्व देते हुए यह विश्वास रखा जाता है कि प्रत्येक मनुष्य में सत्य को ग्रहण करने तथा उसका अनुसरण करने की शक्ति विद्यमान है, केवल उसे गुरु द्वारा प्रदत्त उचित मार्ग-दर्शन की आवश्यकता होती है । गुरु का ऐसा आचरण उनके इस विश्वास को भी दर्शाता है कि भविष्य में 'पंज प्यारे' किसी भी प्रकार के महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने में समर्थ होंगे तथा उनके निर्णय को सर्वमान्य समझा जायेगा। दूरदर्शी गुरु की लोकतंत्रात्मक वृत्ति का ऐसा उदाहरण अन्यत्र नहीं खोजा जा सकता ।आधुनिक युग में लोकतंत्र के सिद्धांतों का उल्लेख तो अठारहवीं शती के अंत में मानवाधिकारों की घोषणा में प्राप्त होता है, किन्तु उसका व्यावहारिक रूप गुरु गोबिन्द सिंह के उपर्युक्त आचरण में देखा जा सकता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वतंत्रता, समानता आदि प्रजातंत्र के सभी मूल सिद्धान्तों का प्रारंभिक रूप खोजने के लिए गुरु जी के 'खालसा' से बेहतर मूलाधार प्राप्त होना कठिन है । अब्राहम लिंकन ने कहा था कि प्रजातंत्र सत्ता जनता की शासन सत्ता

---

१४. मम स्वरूप तुम अवि भये, हौं मा तुमहि सरूपं ।
ब्रह्म गयान दिढ़ रिदै है, पद अति लीनि अनूपं ॥
—भाई संतोख सिंह, गुरु प्रताप सूरज

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

है; जिसमें सब कार्य भार जनता पर निर्भर होता है और सारी जनता के हित के लिए होता है। गुरु गोबिन्द सिंह ने तो उससे सैकड़ों वर्ष पूर्व शिष्यों के हाथ में सत्ता सौंपकर एकाधिकार सत्ता के विरुद्ध अपने असंतोष को सकारात्मक अभिव्यक्ति प्रदान कर दी थी। इस दृष्टि से लोकतांत्रिक चेतना जागृत करने का ही नहीं, अपितु लोकतंत्र की स्थापना का श्रेय भी गुरु गोबिन्द सिंह को दिया जाना चाहिए।

यह लोकतंत्र में गुरु जी की दृढ़ आस्था का ही परिणाम था कि उन्होंने समाज के सामूहिक विवेक को 'खालसा' के नेतृत्व का उत्तरदायित्व सौंप दिया और पंचों की राय को ईश्वरीय आज्ञा की तरह स्वीकार करने के भारतीय विश्वास को सुदृढ़ किया। उन्होंने कहा कि जहाँ भी मेरे पाँच शिष्य एकत्र हो जायेंगे, मैं स्वयं उनके बीच पहुँच जाऊंगा। शिष्यों को ऐसे सामूहिक जीवन की शिक्षा देना जिसमें सर्व हित को वैयक्तिक हित से अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया हो, लोकतांत्रिक व्यवस्था की ही शुरुआत थी, जिसकी इसके पूर्व कभी कल्पना भी न की गई थी। इतना ही नहीं, जिस प्रकार प्रजातंत्रवादी राष्ट्र में नियमानुकूल शासन प्रबन्ध के लिए धारासभाओं को आवश्यक समझा जाता है और धारासभाओं की इच्छा के अनुकूल लिए गये निर्णय संपूर्ण समाज की उन्नति के लिए चुने जाने वाले सिद्धांतों की रूपरेखा का निर्धारण करते हैं, गुरु जी के उपर्युक्त संगठन में सामूहिक विवेक को दिया गया शासन विधान तय करने का अधिकार लोकतंत्रीय शासन प्रणाली से मेल खाता है। शासन में सहभागिता एवं समानता आदि ने खालसा सैनिकों के संगठनात्मक एहसास को सुदृढ़ कर उनमें राष्ट्रवाद की नई चेतना जागृत करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इससे उनके व्यक्तित्व का अभ्युदय तो हुआ ही, न्याय, आत्मशिक्षा और सत्य की प्रतिष्ठा भी संभव हुई। लोकतंत्र स्वतंत्रता, समता आदि जिन सिद्धाँतों पर आधारित है, गुरु जी के 'खालसा' संगठन में उन सभी का प्रारंभिक ही नहीं, प्रौढ़ एवं परिपक्व रूप देखा जा सकता है। पंचों की राय में परमेश्वर का निवास मानना अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रतीक है तो अपने अधिकारों के हनन के विरोध में शस्त्र-युद्ध की तैयारी तथा उसका प्रयोगात्मक पहलू जीवन एवं अधिकारों की स्वतंत्रता का परिचायक है। साथ ही प्रत्येक समस्या का समाधान खोजने, राजनीति एवं सैन्य-संचालन आदि संबंधी योजना बनाते हुए सभी को समान महत्त्व देना प्रजातंत्रात्मक प्रणाली में राजनीतिक विषयों में भाग लेने के लिए दी जाने वाली स्वतंत्रता का ही दूसरा रूप है। खालसा सैनिकों की दिनचर्या में नियमित रूप से शारीरिक-व्यायाम, शस्त्र-संचालन का अभ्यास, शास्त्रों के पठन-पाठन आदि को दी जाने वाली प्राथमिकता उनकी शारीरिक, नैतिक एवं मानसिक उन्नति के लिए प्राप्त स्वतंत्रता की परिचायक है। कहने का तात्पर्य यह कि 'खालसा' का मंच अपने उपर्युक्त सिद्धांतों के कारण अपने स्वरूप में आधुनिक काल में उदित लोकतंत्र से अत्यधिक साम्य रखता है।

गुरु जी के लोकतंत्रात्मक ढाँचे को यदि आधुनिक लोकतंत्र के ढाँचे से अलगाया जाये तो सर्वप्रथम इसकी गुणात्मकता को हम इसका एक विशिष्ट गुण मान सकते हैं। आज का लोकतंत्र तो संख्या पर आधारित है, गुणवत्ता पर नहीं, आयेदिन गिरती बनती सरकारें जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। रात-रात में निहित स्वार्थों के लिए वोटों की खरीद-फरोख्त, दलबदल लेना, एक पक्ष का दूसरे पक्ष को समर्थन देना अथवा हाथ खींच लेना आदि आज की लोकतांत्रिक प्रणाली में व्याप्त दोष उसके वास्तविक स्वरूप को धीरे-धीरे कलुषित करते जा रहे हैं जबकि गुरु जी द्वारा प्रतिपादित लोकतंत्र गुणात्मक है, क्योंकि यह ऐसे व्यक्तियों द्वारा चालित है, जो वर्ग-विशेष के अथवा व्यक्तिगत स्वार्थों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

से नहीं, अपितु जीवन में ऊँचे मूल्यों के प्रतिरूप हैं। ये देवत्व कें अधिकारी हों, ऐसा नहीं है, किंतु फिर भी प्रत्येक स्थिति में ये मानवीय मूल्यों के संरक्षण के लिए प्रयासरत हैं। यदा-कदा स्खलित हो जाने पर, जिन्हें पुनः शुद्ध मन एवं भक्तिभाव से प्रायश्चित करने के बाद ही स्वीकारा जाता है, जैसे इसके अन्य शिष्यों को भूल होने पर दंड स्वीकार करने पर ही संगठन में सम्मिलित होने की अनुमति दी जाती है। क्योंकि यहाँ गुरु और शिष्य दोनों ही समान महत्त्व के अधिकारी हैं। गुरु ही पंथ है और पंथ ही गुरु है। अतः सिद्धांत बनाने वाला विधान मंडल और उसका अनुपालन करवाने वाली कार्यकारिणी के लिए किसी प्रकार के विशेषाधिकार की व्यवस्था नहीं है। उदाहरणस्वरूप गुरु जी का दादू की समाधि पर तीर झुकाकर श्रद्धांजलि अर्पित करने का प्रसंग देखा जा सकता है। पंथ के सिद्धांतों यथा—मठ, समाधि आदि की पूजा न करना, का उल्लंघन करने के कारण गुरु ने भी शिष्यों के सामूहिक निर्णय को स्वीकार कर एक सौ पच्चीस रुपया जुर्माना चुकाया था। भले ही गुरु से वास्तव में भूल हुई हो अथवा वे शिष्यों की परीक्षा ले रहे हों कि उन्होंने खालसा के सिद्धांतों को कहाँ तक आत्मसात किया है, उससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि गुरु ने जिन सिद्धांतों को 'खालसा' के लिए निश्चित किया, स्वयं शिष्य बनकर आजीवन अपने आचरण द्वारा भी उन्हें चरितार्थ कर शिष्यों के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत किया और आगामी लोकतंत्रात्मक समाज का मार्ग निर्देशन किया। गुरु ने जिन शिष्यों से अपने पद की अदला-बदली कर उनकी सामर्थ्य में आस्था प्रकट की थी, उन शिष्यों ने भी अपना सर्वस्व न्यौछावर करके गुरु के विश्वास की रक्षा की।

पद की अदला-बदली ने गुरु को अधर्म का नाश करने के लिए एक प्राणवान सैन्य-संगठन प्रदान किया, तो ऐसे गुरु की शिष्यता स्वीकार कर उनके शिष्यों ने भी सार्थकता का एहसास किया। इस संबंध में एक शताब्दी से भी पूर्व एक पाश्चात्य लेखक ने उचित ही लिखा है—"इससे भी बढ़कर सौभाग्यशाली वे शिष्य थे, जिन्हें अवसर के अनुकूल नेता का नेतृत्व प्राप्त हुआ था। उस असाधारण नेता ने एक शांतिप्रिय धार्मिक समूह को दुर्जेय योद्धाओं की सेना में परिवर्तित कर दिया। किसी भी ऐसे व्यक्ति को इस रूपांतरण पर आश्चर्य नहीं होगा, जिसने उन सिखों के सुगठित शरीर, उनकी पुरुषोचित शालीनता तथा अनुपम धैर्य का अवलोकन किया हो। यह देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि उन्हें योद्धा बनने के लिए ही बनाया गया था, निःसंदेह धर्म ने उनके सैनिक विकास में सहायता प्रदान की।[१५]

गुरु गोबिन्द सिंह जी ने सांसारिक ऐषणाओं से ऊपर उठकर अपना सर्वस्व इस आदर्श संगठन के लिए होम कर दिया। उन्होंने गुरु की आज्ञा का पालन करने वाले इन शिष्यों को अपने चार

---

१५. "Still more fortunate were they in finding Guru Govind , a leader equal to the occasion. This remarkable man transformed a body of peaceful religionists into an army of redoubtable warriors. No one who has beheld the noble physique, the manly grace and undoubted fortitude of the Sikhs, can much wonder at this transformation, you feel as you gaze upon them that they were made to be soldiers and without doubt, their religion aided their military development."

—Vaugham James—The Trident, the Crescent and the cross, P. 201.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बलिदानी पुत्रों से भी बढ़कर अपनी आत्मा का पुत्र माना और उन्हें अत्यधिक सम्मान दिया, आज भी दैनिक प्रार्थना में सिख धर्मावलंबियों द्वारा 'पंज पियारों ' (पाँच प्यारों) का गुरु जी के चार साहिबजादों से भी पहले किया जाने वाला सादर स्मरण इसका प्रमाण है। गुरु ने 'खालसा' को केवल पुत्र कह दिया हो और उनके व्यवहार में इससे भिन्न कुछ दिखाई देता हो, ऐसा नहीं है। जिस प्रकार पिता की आज्ञा में चलने वाला पुत्र पिता को अत्यंत प्रिय होता है, 'खालसा' ने भी गुरु के आदेशानुसार आचरण करने के कारण गुरु का हृदय जीत लिया। उनकी सेवा ही गुरु को जीवन का लक्ष्य बन गई। गुरु का यह अटूट विश्वास कि —'उन्हीं (खालसा) की कृपा से सजे हम हैं, नहीं मो सो गरीब करोर परे' शिष्यों की मानसिक अभिवृत्ति को और अधिक परिमार्जित बनाने में तथा पितृ आज्ञा के प्रति उनकी अनन्यता में अभिवृद्धि करने में कितना सहायक हुआ होगा, कहने की आवश्यकता नहीं। धन्य हैं ऐसे गुरु। जब गुरु स्वयं 'खालसा' की प्रत्येक आज्ञा को शिरोधार्य करने को तत्पर हों, तो ऐसे शिष्य भला गुरु के किसी भी आदेश की अवहेलना क्योंकर करेंगे ?

गुरु ने अपने निज को व्यापक बनाकर उसे 'खालसा' में ही समाहित कर दिया। उन्होंने 'खालसा' में ही शक्ति का निवास माना, उन्हीं की सेवा तथा उनके द्वारा दिए गये दान को प्रिय माना। उन्होंने स्वीकार किया कि इन्हीं के प्रसादस्वरूप मैंने विद्या प्राप्त की है और इन्हीं की कृपा से सभी शत्रुओं का नाश हुआ है। मेरे घर में, मेरे मन, तन, धन से लेकर मेरा सिर तक सबकुछ इनका है—

जुद्ध जिते इन ही के प्रसादि, इन ही के प्रसादि सु दान करे।
अघ अउघ टरै इनही के प्रसादि, इनही की क्रिपा पुन धाम भरे।
इनही के प्रसादि सु विद्या लई, इन ही की क्रिपा सभ शत्रु मरे।
दान दयो इन ही को भलो, अस आन को दान न लागत नीको।
आगे फले इनही को दयो, जग में जसु अउर दयो सम फीको।

(दशम् ग्रंथ, खालसा महिमा, ३-२)

गुरु द्वारा शिष्यों को ही पाप के उन्मूलन में समर्थ मानना, उन्हीं की कृपा से शक्ति धन-धान्य, विद्या आदि की प्राप्ति को संभव मानना, उन्हीं से स्वयं को युद्धक्षेत्र में सुसज्जित मानना तथा शत्रुओं के उन्मूलन को संभव मानना और स्वयं को भी उन्हीं की कृपा पर निर्भर मानना, अपने आपमें इतिहास में प्राप्त होने वाला एक ऐसा अनोखा उदाहरण है, जिसकी मिसाल मिलना कठिन है। विशिष्टाधिकार एवं स्वामित्व को सुरक्षित रखने के लिए जहाँ मनुष्य नीति-अनीति में भी भेद करना भूल जाता है, सिद्धांत कुछ और बताता है और आचरण ठीक उसके प्रतिकूल करता है, वहाँ गुरु गोबिन्द सरीखे गुरु शिष्य अपनी संपूर्ण क्षमता एवं शक्ति को अपने शिष्यों में स्थानांतरित करना चाहते हैं तथा इसी में आनन्द की अनुभूति करते हैं, क्या यह अपने-आप में अत्यंत आश्चर्यजनक अनुभव नहीं ? आज के युग में छोटे-छोटे पद पाकर अहंकार में डूबे स्वयं को ईश्वर के समकक्ष समझने वाले उन मदान्ध व्यक्तियों के लिए विनम्रता और हलीमी सीखने के लिए इससे श्रेष्ठ उदाहरण कहाँ मिलेगा, जो स्वयं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

को गुरु का सच्चा शिष्य बताने का दंभ तो भरते हैं, किंतु न्यायपरकता से कोसों दूर भागते हैं। गुरु जी के व्यक्तित्व की उज्ज्वलता एवं विराटता तो किसी धर्म, जाति अथवा संप्रदाय विशेष के व्यक्तियों के लिए ही नहीं, अपितु प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के लिए अनुकरणीय है जो सच्चे अर्थों में मानव बनने के इच्छुक हैं।

धर्म, जाति अथवा संप्रदाय को आधार न मानकर, मानव को मात्र मानव के रूप में समादृत करने के गुरु जी के प्रयासों की प्रशंसा भारतीय विद्वानों ने ही नहीं, पाश्चात्य विद्वानों ने भी की है।[१६] भारतीय भाषाओं के अनेक कवियों ने 'खालसा' को अपने काव्य का विषय बना कर इसकी स्तुति की है। सुक्खासिंह ने 'गुरु विलास' में 'खालसा' के जन्म एवं स्थापना के कारणों, उसके स्वरूप, महत्त्व एवं रचना-उद्देश्यों आदि का विस्तार से वर्णन किया है तथा शस्त्र-प्रेम और हरि-नाम स्मरण को 'खालसा' का आदर्श बताया है।[१७] सेनापति 'गुरु शोभा' में 'खालसा' को विशुद्ध ब्रह्म का प्रतीक, सभी प्रकार के भौतिक क्लेश का निवारक तथा दैत्यों के लिए भय दायक बताते हुए गुरु गोबिन्द सिंह और 'खालसा' को पर्याय मानते हैं, क्योंकि 'खालसा' वही कहलाता है, जो इच्छाओं की समाप्ति के उपरांत जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है और विशुद्ध ब्रह्म का जाप करता है। सेनापति के अनुसार गुरु गोबिन्द सिंह ऐसे ही 'खालसा' हैं।[१८] 'खालसा' का यह विश्वास कि सतगुरु मेरे संग हैं, उसे कभी भयभीत नहीं होने देता—

खालस मेरो रूप है, हौं खालस के पासि।
आदि अंत ही होत है, खालस में प्रगास।

(गुरु शोभा-१८/४२/८०९)

शारीरिक सुख खालसा को गुरु की सेवा से विमुख नहीं कर सकते। 'खालसा' का जीवन मानवता के लिए होता है। प्रेम और विश्वास उसके महत्त्वपूर्ण अंग हैं।[१९] वह सांसारिक गृहस्थ भी है और सांसारिकता से निर्लिप्त भी। वह वीर भी है, संत भी, योगी भी और राजा भी। वह संतजनों का रक्षक है तथा लोभ-लालच से मुक्त ऐसा सैनिक है जो शस्त्र धारण कर गुरु चरणों में बलिदान

---

१६. He executed his design with a systematic spirit of a gracian law given
– Elphinstone Mount Stuart, History of India, P. 678.

१७. गुरु विलास,१२८३-८५, ९१,१२१८४, १२१६४।

१८. जहां दूतन को त्रास परत जम जारसा । सांचा नाम पुनीत ओटि भई ढालसा ।
विनसे सगल कलेस गया जंजालसा । चूकि ओ आवन जान मिटी सब लालसा ।
जो खालसा जपि गोविन्द भया है खालसा ।
—गुरु शोभा, ५, ।७२।१८८

१९. प्रभु तह निकटि बखानिए, जिनि अन्तरि प्तीति
प्रीति बिना किन पाइए, जाहि कोटि जुग बीति ।
—गुरु शोभा, ६ ।१० ।२०६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

देने के लिए सदैव तत्पर रहता है। धर्म की रक्षा करना ही खालसा का उद्देश्य है।[२०] यह आकस्मिक नहीं है कि गुरु गोबिन्द सिंह ने अपने धरती पर आने का उद्देश्य भी धर्म की रक्षा करना ही माना था।[२१] कवि अणीराय के अनुसार अत्याचार का उन्मूलन करने के लिए,तेग का आश्रय लेकर विजय प्राप्त करने वाला ही वास्तविक खालसा है।[२२] सेनापति ने भी—

सति गुरु के परताप से लरत खालसा सोई।
सूरा सब तिहं लोक में समान नहिं कोई।

(गुरु शोभा,८/२७/३२३)

कहकर अस्त्र-शस्त्र धारण करके लड़ने वाले शूरवीर को ही सच्चा खालसा माना है।

वस्तुतः 'खालसा' का विशुद्ध आचरण एवं साहसिक कार्य शत्रु को भी उसकी प्रशंसा करने पर विवश कर देने के लिए पर्याप्त थे। गुरु ने 'खालसा' के शूरवीरों के हाथ में जो तलवार सौंपी थी, उसे उन्होंने अकाल पुरुष का रूप माना,उसकी वंदना की तथा अत्याचार एवं उत्पीड़न को मिटाने के लिए अनवरत उसका प्रयोग किया। खड्ग धारण कर अत्याचारियों को सामने देखते ही,ईश्वर का ध्यान कर उन पर टूट पड़ना प्रत्येक खालसा का परम कर्तव्य बन गया। गुरु के प्रयासों से खालसा पंथ आध्यात्मिक रूप से जागरूक एक ऐसे सामाजिक-राजनीतिक संगठन के रूप में उभरा जो न केवल आध्यात्मिक शांति से संतुष्ट हो सकता था और न व्यक्तिगत भौतिक सुखों से ही उसकी तृप्ति हो सकती थी। संपूर्ण पीड़ित एवं त्रस्त समाज के स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व करना जिसका लक्ष्य बन गया।[२३] गुरु के प्रयासों ने प्रत्येक शिष्य को नवीन बल से युक्त कर उन्हें तन,मन, बुद्धि और आत्मा से स्वरूप ऐसे साहसी और तेजस्वी योद्धाओं में परिवर्तित कर दिया, गुरु के आदेश

---

२०. सेनापति, गुरु शोभा ६।१०।२०६

२१. हम इहकाज जगत मो आए, धरम हेत गुरुदेव पठाये,
जहां तहां तुम धरम बिथारो, दुसट दोखियन पकरि पछारो।
—विचित्र नाटक, ६/४२

२२. तेग सुही सिंह दी जिन सभै राजै।
सोहे होइआ खालसा, जिन गैवर गाजै।
फते करी स्री साहिबा, जग में जस छाजै।
—अणीराय, जंगनामा गुरु गोबिन्द सिंह, पृ० ६४

२३. The Distinct conribution of Guru Gobind Singh thus lay in organising a socio-political body of spiritually awakened but earth-aware people who were to spearheaded the moment for the liberation of a whole society and not merely remain content with the self sufficient peace of the spirit or the material well being of an individual. In the transformation of whole corporate society through a well knit, dynamic conscious and frontal organisation delivering authority form and working solely in the interest of the whole people in every detail of their life.
—History of the Sikh People P. 327

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मात्र से जो धरती को दुष्टों के बोझ से मुक्त कराने के लिए मुख में हरि नाम और हाथ में कृपाण धारण कर दुष्ट दलन के कार्य में जुट गये—

धन जीओ तिह को जग मैं, मुखते हरि चित्त में जुधु बिचारै ।
देह अनित्त न नित्त रहै, जसु नाव चढ़ै भवसागर तारै ।
धीरज धाम बनाइ इहै तनु, बुधि सु दीपक जिउं उजीआरै ।
गिआनहि की बढ़नी मनहु हाथ लै, कातरता कुतवार बुहारै ।

(कृष्णावतार, २४९२)

ईश्वर के प्रति आस्था ने उन्हें यह बल दिया कि ईश्वर उनके साथ हैं, इसलिए वे एक होते हुए भी अनेक हैं । दूसरी ओर गुरु द्वारा दिया गया यह विश्वास उनका संबल बना कि वे निर्दोष, असहाय, एवं दीन व्यक्तियों को अधिकार दिलाने के लिए दुष्टों का दलन कर रहे हैं और प्रक़ारांतर से मानवीय मूल्यों की रक्षा कर रहे हैं । यह जानकर कि उनका कर्तव्य ऐसे दुष्टों का संहार करना है जोकि ईश्वर और मनुष्य सभी के सम्मुख उत्तरदायी हैं, उनका मनोबल और भी ऊँचा हो जाता और वे द्विगुणित उत्साह से युद्ध करने लगते । गुरु का आचरण और उनके द्वारा वीरतापूर्वक लड़े गये युद्ध उनके सम्मुख उच्चतम मूल्यों एवं स्वार्थहीन आदर्शों की रक्षा के लिए पुर्जा-पुर्जा कट मरने की प्रेरणा प्रदान करते रहे । संतों का उद्धार एवं दुष्टों का संहार ही उनके जीवन का लक्ष्य बन गया । '**धरम चलावन संत उबारन**'[२४] तथा '**दुसटदेखियन पकरि पछारो**'[२५] जैसी गुरु की ओजस्वी उक्तियाँ उन के लिए ब्रह्म वाक्य बन गईं । गुरु के सिद्धांतों को अक्षरशः अपने आचरण में चरितार्थ कर 'खालसा' ने राष्ट्रीय धर्म, संस्कृति एवं सामाजिक अधिकारों की रक्षा की दिशा में समाज को जो योगदान दिया, इतिहास में वैसी मिसाल अन्यत्र नहीं खोजी जा सकती । सामाजिक न्याय प्रचलन के जिस उद्देश्य से गुरु गोबिन्द सिंह ने पृथ्वी पर जन्म लिया था[२६] उस उद्देश्य को फलीभूत करने के लिए उनके द्वारा स्थापित 'खालसा' संगठन ने कोई कसर नहीं उठा रखी ।

न्याय की स्थापना करने का गुरु जी का महत् कार्य उस विस्तार क्रम का स्वाभाविक परिणाम था, जो आदि गुरु के समय से ही बराबर चला आया था । वह फसल गुरु नानक की बोई हुई थी, जिसे गुरु अंर्जुन देव तथा गुरु तेग बहादुर ने अपने रक्त से सींचा था । गुरु गोबिन्द सिंह के समय में वह पककर तैयार हुई । गुरु के बोये बीज समय आने पर प्रस्फुटित, पल्लवित और सफलीभूत हुए, जिनको चरितार्थ कर 'खालसा' इतिहास के पृष्ठों में सदा-सदा के लिए अमर हो गया ।

---

२४. विचित्र नाटक, ६/४३
२५. वही, ६/४२
२६. था ही काज धरा हम जनमं, समझ लेहु साधु सब मनमं ।
धरम चलावन संत उबारन, दुसट सभन को मूल उपारन ।
—विचित्र नाटक, ६/४२

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

निःसंदेह वह तलवार, जिसने खालसा के मार्ग को साफ़ करके उन्हें विजय का भागी बनाया, गुरु गोबिन्द सिंह की गढ़ी हुई थी, किन्तु उस तलवार के लिए इस्पात गुरु नानक का दिया हुआ था और गुरु नानक ने मानो हिन्दुओं के कच्चे लोहे को पिघलाकर तथा उस धातु से जन समूह की उदासीनता, अंधविश्वास तथा पुरोहितों के कपट और दंभ रूपी मल को जलाकर इस्पात को तैयार किया था।[२७] गुरु गोबिन्द सिंह ने मानव धर्म के परित्राण के लिए इसी इस्पात के ज़र्रे-ज़र्रे का स्वयं भी सार्थक उपयोग किया और अपने शिष्यों को भी न केवल उसका प्रयोग करना ही सिखाया, बल्कि उनमें उसके प्रयोग के लिए आवश्यक उत्साह भी जागृत किया। गुरु के आशीर्वाद के साथ-साथ यह इसी इस्पात का संबल था, जिसने शान्तिप्रिय धार्मिक संप्रदाय को एक ऐसे सुसंगठित योद्धा शक्ति में बदल दिया, भयंकर मृत्यु की यातना भी जिसके समक्ष तुच्छ थी। इतिहास साक्षी है कि हिन्दू धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए इस संगठन ने भयंकर कष्ट एवं यातनाओं का सामना किया, किन्तु वह बलिदान के मार्ग से विमुख नहीं हुआ। मात्र धर्म-युद्ध की चाह ही दिन-रात उसके हृदय को आलोड़ित करती रही—

अवर वासना नाही प्रभु, धरम जुद्ध को चाई।

(कृष्णावतार, २४९१)

'दीनन की प्रतिपालना' और मानवता की स्थापना के महान लक्ष्य को लेकर तैयार की गई 'खालसा' सेनानियों की इस जमात के सरोकार का विषय विश्व मानवता तक व्याप्त था। यही कारण था कि लुप्त होती मानवता की खोज का विशुद्ध उद्देश्य सदैव इसके सम्मुख रहा, गुरु की पवित्र भावना का पुण्य संसर्ग जिसका संबल बना। गुरु की निडरता, उनका दृढ़ विश्वास, अडिग साहस एवं कर्मण्यता उनके सैनिकों में भी अदम्य आत्मबल का संचार करती रही और वे संख्या में अत्यल्प होने के बावजूद बहुसंख्यक शत्रु सेना के दाँत खट्टे करते रहे। विजयश्री सदैव उनके चरण चूमती रही। गुरु ने उन्हें शस्त्र धारणकर रणभूमि में जूझने की ही शिक्षा दी थी, अतः उनकी सोच धर्म युद्ध से इतर हो ही नहीं सकती थी—

ससत्रन सों अति ही रन भीतर जूझि मरो, कहि सांच पतीजै।
संत सहाइि सदा जग माई, क्रिपा कर सयाम इहै वर दीजै।

(कृष्णावतार,१९००)

शिष्यों को इस स्थिति तक पहुँचाने के लिए गुरु ने प्रबोधन के रूप में कोई कसर छोड़ी हो, ऐसा नहीं था। यह गुरु की निर्भयता ही थी, जो उनके शिष्यों के हृदय में अनुकूल वातावरण पाकर अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित हुई थी और प्रत्येक युद्ध के दौरान, रणस्थली को सुवासित करती रही। भले ही वह गुरु जी की सरकशीं को दबाने के उद्देश्य से पैंदा खाँ और दीनाबेग द्वारा लड़ा गया युद्ध हो,

२७. Transformation of Sikhism, P. 25.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अथवा लाहौर और सरहिंद की सम्मिलित सेना द्वारा किया गया आक्रमण हो, या फिर पहाड़ी राजाओं द्वारा लड़े गये युद्ध। शत्रु के सैनिक सैकड़ों की संख्या में हों, हज़ारों या लाखों में, 'खालसा' को सदैव सफलता प्राप्त हुई। इसमें संदेह नहीं कि गुरु गोबिन्द सिंह वास्तव में आश्चर्यचकित कर देने वाली आयोजन क्षमता के स्वामी थे। यह इसी आयोजन क्षमता का परिणाम था कि उनके सैनिक संख्या में अल्प होने पर भी दुश्मन के छक्के छुड़ाते रहे। उनकी इस चामत्कारिक क्षमता से मात्र अभिभूत होने के स्थान पर, यदि उसे बारीकी से समझने का प्रयास किया जाए तो निःसंदेह वह राष्ट्र के स्तर पर ही नहीं, वैश्विक स्तर पर भी अनेकानेक समस्याओं के निराकरण में उपयोगी हो सकती है।

आज जिस संगठन को आदर्श मानकर हम गुरु गोबिन्द सिंह की सूझ-बूझ एवं प्रबन्ध कौशल से प्रेरणा पाने की बात कर रहे हैं, उस युग में वह पड़ोसी राजाओं एवं मुगल सैनिकों के लिए जी का जंजाल बन गया था। उसकी दिनों-दिन बढ़ती शक्ति ने पड़ोसी राजाओं के हृदय में शंका को जन्म दिया। गुरु जी तथाकथित निम्न जातियों के लोगों में भी आत्मविश्वास एवं शौर्य के भाव जागृत कर उन्हें विधिवत् शस्त्रास्त्र की शिक्षा प्रदान कर रहे थे। एक तो निम्न जातियों के लोगों का मनोबल ऊँचा कर उन्हें शस्त्रास्त्र की विद्या में निपुण करने से, पड़ोसी राजाओं को अपनी शक्ति के लिए खतरा प्रतीत हुआ और दूसरे, उन्होंने इसे धर्म विरोधी कार्य माना। जिसका कारण पुनः उनकी अस्तित्व चेतना से आक्रांत मनःस्थिति में अधिक खोजा जा सकता है। उच्चता बोध से ग्रंथिल व्यक्तित्व के स्वामी राजाओं को यह कदापि स्वीकार न हुआ होगा कि जिस शस्त्र-विद्या पर क्षत्रियों का एकाधिपत्य रहा है, निम्न जातियों एवं वर्णों के लोगों के लिए भी वह उतनी ही सरलता से सुलभ हो और वे शक्ति अर्जित कर उच्च वर्ग की बराबरी करने लगें। दूसरे, उनके द्वारा भेजे गये दूत भी गुरु जी के प्रभाव के कारण उनके पास ही रह जाते थे। इससे व्यक्तिगत तौर पर भी गुरु जी के प्रति उनकी ईर्ष्या बढ़ती जा रही थी। इसके अतिरिक्त मुगल शासक के कोप के भय से भी वे आतंकित थे। इतना ही नहीं 'खण्डे दी पहुल' संस्कार में जल द्वारा तैयार किया गया 'अमृत' सभी व्यक्ति समान रूप से चखते, चाहे वे किसी भी जाति अथवा वर्ग के हों। छुआछूत और जूठे-सच्चे को महत्त्व देने वाले लोगों के लिए यह एक अजूबा था।[२८] ब्राह्मण और क्षत्रियों ने गरु की इस समतावादी दृष्टि का विरोध किया ही, जिसका संकेत गुरु जी की रचनाओं में भी दिया गया है। पहाड़ी राजाओं को भी यह गंवारा न हुआ। वे सब मिलकर कोई ऐसी युक्ति खोजना चाहते थे, जिससे गुरु जी की दिनों-दिन बढ़ती शक्ति पर अंकुश लगाया जा सके और उन्हें तथा कथित 'धर्म विरोधी' कार्यों का दंड दिया जा सके।

हालाँकि गुरु जी ने पहाड़ी राजाओं को भी 'खालसा' में दीक्षित होने के लिए आमंत्रित कर अपनी उदारता का परिचय दिया था, किन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। गुरु ने इस बात की चिन्ता नहीं की, न इसे मानापमान का प्रश्न बनाया। इससे संबद्ध विषयों पर जैसा चिन्तन-मनन अथवा तैयारी आवश्यक थी, उस पर उन्होंने अवश्य ध्यान केन्द्रित किया। सबसे पहले कहलूर के

२८. गुरु शोभा, पृ. २९

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

राजा (आनंदपुर जिसके राज्य में पड़ता था) ने हंडूर के राजा की सम्मति से गुरु गोबिन्द सिंह की बढ़ती हुई शक्ति पर अंकुश लगाने के उद्देश्य से सन् १७०० ई. में उन्हें एक पत्र लिखा, जिसमें आनंदपुर की उस भूमि का किराया माँगा, जो गुरु जी के पास थी। अन्यथा उसे छोड़ जाने के लिए कहा।[२९] चूँकि गुरु जी के पिता ने पूरा मूल्य देकर वह भूमि खरीदी थी, गुरु जी ने इस अनुचित माँग को अस्वीकार किया। इस बात पर विवाद होना स्वाभाविक था, क्योंकि किराये की अनुचित माँग करने वाले भी गुरु की अन्याय का विरोध करने वाली प्रकृति को भली-भाँति पहचानते थे, हाँ, उनकी शक्ति को आँकने में उनसे जरूर भूल हुई, अन्यथा वे स्वयं ही युद्ध मोल न लेते। उन्होंने अनेक मुगल और पठान सरदारों की सहायता की और पैंदे खान अैर दीनाबेग के नेतृत्व में लगभग बीस हज़ार योद्धाओं को गुरु पर आक्रमण करने के लिए भेजा। गुरु जी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अजीत सिंह के साथ मात्र आठ हज़ार सैनिकों से भीमचंद, अजमेर चंद, केसरीचंद, घमंड सिंह, राजा जसवालिया आदि राजाओं द्वारा संचालित उस बीस हज़ार सैनिकों की सेना का वीरतापूर्वक मुकाबला किया और मुगल सैनिक पैंदे खान को मार गिराया। दीनाबेग घायल होकर युद्ध भूमि से भाग गया। अजमेर चंद भी भाग निकला और अन्य राजाओं को भी खदेड़ दिया गया। अंत में पराजित सेना भी युद्धभूमि से भाग खड़ी हुई। प्रस्तुत पराजय पहाड़ी राजाओं के लिए ही नहीं, मुगलों के लिए भी लज्जा का विषय थी। हालाँकि औरंगज़ेब उस समय दक्षिण के युद्धों में व्यस्त था, तथापि मुगल सरदारों से गुरु जी की दिनों-दिन बढ़ती सामर्थ्य सम्बन्धी पत्र पाकर उसका माथा ठनक गया। उसने सरहिंद और लाहौर के सूबेदारों को गुरु पर आक्रमण कर उनकी शक्ति को छिन्न-भिन्न करने का आदेश दिया। गुरु जी को आक्रमण के बारे में पहले ही मालूम हो गया। उन्होंने बड़े धैर्य के साथ अपनी सेना एकत्र करने के लिए आवश्यक कार्यवाही शुरू कर दी। उनके साहस, दूरदर्शिता एवं योजनाबद्ध कार्य प्रणाली के कारण हज़ारों शिष्य आनंदपुर में एकत्र हुए। आदेश का पालन करते हुए एक ओर से सम्मिलित सेनाओं ने गुरु जी पर आक्रमण किया तो दूसरी ओर से पहाड़ी राजाओं ने, किंतु दोनों ही को मुँह की खानी पड़ी। इसके बाद भी जब-जब दक्षिण से औरंगज़ेब का संदेश आया, तब-तब सरहिंद और लाहौर के सूबेदारों ने पहाड़ी राजाओं के पास सैनिक शक्ति भेजी ताकि गुरु जी पर नियंत्रण स्थापित किया जा सके, किन्तु हर बार वे पराजित ही हुए।[३०] हर बार गुरु जी द्वारा लड़े गये युद्ध उनकी वीरता एवं निर्भयता के साथ-साथ अनाचार के प्रति उनके विरोध भाव को भी दर्शाते रहे, क्योंकि उन्होंने स्वयं किसी को अपने स्वार्थ के चलते युद्ध का आमंत्रण कभी नहीं दिया। हाँ, अपने सिद्धांतों पर किया गया आक्रमण उन्हें कभी बर्दाश्त न हुआ और न अपने शिष्यों अथवा दीन-हीनों

---

२९. राजन सो रच जुद्ध विरुद्ध को साज कीउ सु चहै कल भारी।
ताते बसी जीअ मै उहि राव के बाध के तेग असवारी।
भेज दियो लिख के उहि ने अब छाड़ों गुरु जी भूमि हमारी।
के कछु दाम दया कर देव के जुद्ध करौ यह बात हमारी।
—गुरु शोभा, पृ ४१

३०. Evolution of Khalsa, P. 120.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पर किया गया अत्याचार ही। हर बार वे अनीति को कुचलने की इच्छा धारण कर युद्ध क्षेत्र में उतरते और हर बार विजयी होते।

गुरु जी द्वारा लड़े गये युद्धों के मूल में समस्त मानवता को संरक्षण देने और अत्याचार के प्रति विद्रोह करने की भावना थी। विद्रोह की चेतना जब जीवन के बड़े मूल्यों से आवेष्ठित हुई, तब गुरु और उनके शिष्यों द्वारा लड़े जाने वाले युद्ध मात्र युद्ध नहीं रहे, एक दर्शन बन गये। युद्ध को दर्शन के साथ जोड़कर उसे जीवनधारा का अंग बना देने की अतुलनीय सामर्थ्य पहली बार गुरु गोबिन्द सिंह में ही देखी गई। अन्याय के विरोध में युद्ध को एक नई संकल्पना के रूप में उभारने का जो कार्य गुरु ने किया, युद्ध क्षेत्र में बारंबार पाई विजय का रहस्य भी उसमें निहित था। प्रत्येक युद्ध में गुरुजी के सफलता प्राप्त करने के कारण राजाओं ने मिलकर एक आवेदन पत्र देकर अजमेर चंद को बादशाह के पास भेजा। जिसमें उन्होंने लिखा कि गुरु ने राजस्व के चिह्न धारण कर लिए है। वह अपने को सच्चा बादशाह कहता है। सहस्त्रों धर्मोन्मत्त अनुयायी प्रतिदिन आ-आकर उसके झंडे के नीचे एकत्रित होते हैं। हमें (राजाओं को) स्वयं गुरु का बल तोड़ने में सफलता प्राप्त नहीं हुई और विजय से फूलकर वे प्रतिदिन अधिक उद्धत तथा भयंकर होते जा रहे हैं। वे सम्राट की प्रभुसत्ता को स्वीकार करने से इंकार करते हैं और अपने अबोध अनुयायियों को प्रोत्साहन देकर उत्तेजित करते हैं कि शीघ्र ही सम्राट का शासन मिट्टी में मिल जायेगा और देश में 'खालसा' का राज्य होगा।[३१] इस समय औरंगज़ेब मराठों को दबाने के लिए दक्षिण में था। मुगल सेना और पहाड़ी राजाओं की बार-बार पराजय के बारे में जानकर उस का चिन्तित होना स्वाभाविक था। प्रतिष्ठा के धूलि-धूसरित होने के साथ-साथ मुगल सत्ता के समानांतर एक ऐसी शक्ति के उदय ने उसकी नींद हराम कर दी, जिसके सैनिक संख्या में अपेक्षाकृत कम होने पर और शस्त्रास्त्र एवं अन्य सामग्री के अभाव में भी प्राण हथेली पर लिए मुगलों पर टूट पड़ते हैं। सोच-विचारकर उसने एक विशाल सेना गुरु पर आक्रमण करने के लिए भेजी और आज्ञा दी कि शीघ्र ही गुरु जी को उसके समक्ष उपस्थित किया जाए।[३२]

इस बार भी खालसा सैनिकों ने मुगल और पहाड़ी सेनाओं को दूर खदेड़ दिया। पहाड़ी राजाओं और मुगल सरदारों की मंत्रणा के पश्चात् आनंदपुर को चारों तरफ से घेर लेने का निश्चय किया गया। यह घेराबंदी इतनी सशक्त थी कि किले से कोई भी बाहर न जा सकता था। हालाँकि दूरदर्शी गुरु जी ने मुगलों से युद्ध की संभावना से किले में काफी युद्ध सामग्री, रसद आदि एकत्र की हुई थी, और वे अपने सैनिकों को रात्रि में शत्रु-पक्ष की सेना में घुसकर खलबली मचाने का आदेश दिया करते थे, जिससे वे आपस में ही एक-दूसरे को मारने लगते तथा साथ ही रसद की समस्या भी एक सीमा तक हल हो जाती। किंतु बाद में जब उनका सेनापति दिलगीर खाँ मारा गया तो उन्होंने अपनी सेना के पड़ाव थोड़ा पीछे कर दिए और क्रोधित होकर पूरे जोर से धावा बोल दिया। गुरु जी

३१. Transformations of Sikhisms, P. 151

३२. The Sikh Religion, Part V. P. 166.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बुर्ज़ पर से ही शाही सेनाओं के दलों को देख रहे थे। उनके नज़दीक आते ही उन्होंने तोपों में आग लगवा दी। तोपें धुआँ उगलने लगी। इससे शाही सेना की अपार क्षति हुई, मुगल सैनिकों को अपने तोपखाने के पीछे जाना पड़ा। यह युद्ध कई दिन तक चलता रहा, आकाश तोपों के गोलों से आच्छादित हो गया, तोपों के गोले जिसे निशाना बनाते उसे धूलि-धूसरित होते क्षणभर भी न लगता।[३३]

पराजित राजा पुनः औरंगज़ेब की शरण में गये। औरंगज़ेब छोटे से समुदाय से अनेक बार पराजित होकर अपमानित हो रहा था। इस बार उसने गुरु जी पर आक्रमण करने के लिए विशाल सेना भेजी, जिसमें सरहिन्द और लाहौर के सेवादारों की सेनाएँ भी शामिल कर लीं। हालांकि आक्रमण करने वाली सेना के सैनिकों की संख्या करीब एक लाख थी और गुरु जी की शक्ति सीमित थी। उसके बावजूद इस युद्ध में भी खालसा सैनिकों ने अद्वितीय वीरता का परिचय दिया और पहाड़ी तथा मुगल सेना के छक्के छुड़ा दिये। किन्तु, एक तो मुगल सेना संख्या में खालसा सैनिकों के मुकाबले बहुत अधिक थी, इधर उसे प्रतिक्षण अस्त्र-शस्त्र पहुँच रहे थे, अतः उसकी ओर से पुनः जोरदार धावा बोल दिया गया, जिससे लगता था कि इस बार शत्रु सेना शहर में प्रवेश कर जायेगी। किंतु इस संभावना ने न तो गुरु जी को हतोत्साहित ही किया और न उनकी अभ्युदयोन्मुखता में कोई अन्तर ही आया। इधर साहिबज़ादा अजीत सिंह अपने दो हज़ार वीरों के साथ मैदान में उतर आया। उसी समय स्थिति की गंभीरता को पहचानते हुए दूसरी ओर से गुरु गोबिन्द सिंह ने भी शत्रु को घेर लिया। दोनों ओर से भयंकर युद्ध हुआ। विजयश्री ने इस बार भी गुरु और खालसा सिहों के चरण चूमे। लगभग एक महीने तक शाही सेना हमले करती रही और खालसा सैनिक वीरतापूर्वक सामना करते रहे किंतु अत्यल्प होने के कारण अधिक समय तक यह स्थिति नहीं चल सकती थी। मुगल सेनापतियों और पहाड़ी राजाओं ने स्थिति का जायज़ा लिया और आनंदपुर को चारों तरफ से घेर कर बाहर से दरवाज़ा बंद कर दिया। रसद की कमी से गुरु जी की सेना को अत्यंत कठिनाई का सामना करना पड़ा। यह किलेबंदी जब आठ मास तक चली तो सैनिकों का मनोबल टूटने लगा। अन्न और जल की भयंकर समस्या उत्पन्न हो गई। सेना के हाथी, घोड़े आदि चारे के अभाव में तड़प-तड़प कर मरने लगे। यहाँ तक कि दुर्ग में पानी आना भी बंद हो गया। इधर औरंगज़ेब की ओर से मुसलमान सैनिकों के 'कुरान' की 'शपथ' तथा हिन्दू सैनिकों के 'गीता' की शपथ से युक्त संदेश आने लगे कि यदि गुरु जी आनंदपुर छोड़ दें, तो उन्हें कुछ नुकसान नहीं पहुँचाया जायेगा।

---

३३. तोप छुट्टे गरजै घन लरजै हियरा मानो बिज कडक्के।
ठउर रहै जिह कै डर लागत होत छाती के पार पडक्के।
या विधि सौ ताहि गोला चलै टिक है नाही सूरमा ताही कै धक्के।
राजन के भवसान गले जब आनंद कोट से तोप छुडक्के।
जिह जिनके गोला लगे रहै जीव सोई ठउर।
मन की मन में ही रहत कहत वचन नहीं अउर।
—गुरु शोभा, पृष्ठ, ५६, ५७

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जनता में हाहाकार मचा हुआ था। फसलें बरबाद कर दी गई थीं। आसपास के नगर उजाड़ दिये गये थे। पहाड़ी राजाओं को भी अपना भला युद्ध विराम में ही दिखाई दे रहा था। हालाँकि गुरु जी को औरंगज़ेब की बातों पर विश्वास न था, किन्तु भूखे-प्यासे सैनिकों का आग्रह बढ़ता जा रहा था। कहा जाता है कि जो शिष्य आनंदपुर छोड़ने के लिए आतुर थे, गुरु ने उनसे कहा कि वे एक कागज़ पर लिखकर दे दें कि वे गुरु-शिष्य सम्बन्ध तोड़ना चाहते हैं। चालीस शिष्यों ने ऐसा ही किया और भाई मोहन सिंह के नेतृत्व में रात के अंधकार में दुर्ग छोड़कर चले गये। लिखने के लिए न कहने पर संभवत: एक-दूसरे का अनुकरण कर छोड़कर जाने वालों की संख्या इससे कहीं अधिक होती अत: यहाँ भी गुरु की मानव मन को समझने की सामर्थ्य प्रभावित किये बिना नहीं रहती।

जब आनंदपुर की पूर्ण सुरक्षा असंभव दिखाई देने लगी और खाद्य सामग्री का संकट भी हल न हुआ, तब गुरु जी की माता गूजरी ने दोनों छोटे पोतों—जोरावर सिंह और फतेहसिंह के साथ आनंदपुर छोड़ने का निश्चय किया क्योंकि वे गुरु जी को मनाने में असमर्थ रही थीं। उन्हें देखकर सैनिकों ने भी आनंदपुर छोड़ना प्रारम्भ कर दिया। अन्तत: गुरु जी ने भी विवश होकर २१ दिसम्बर १७०४ ई. की रात्रि के अंधकार में कुछ मूल्यवान सामग्री, अस्त्र-शस्त्र तथा अपने दरबारी कवियों की और अपनी रचनाएँ लेकर दुर्ग छोड़ दिया। उन परिस्थितियों में लिया गया उनका प्रस्तुत निर्णय भी उनकी सूझबूझ, त्वराबुद्धि एवं निर्णय लेने की अद्‌भुत क्षमता का परिचायक है। शत्रु के घेरे में भूखे-प्यासे दम तोड़ने के आसन्न संकट को अवश्यंभावी जानकर उससे पूर्व ही जो कुछ संभव हो बचा लेने से बेहतर भला और कौन सा निर्णय हो सकता था? गुरु के रहने पर खालसा का पुन: सुदृढ़ हो जाना कठिन न था।

आनंदपुर छोड़ने के पश्चात् गुरु जी किरतपुर, निरमोह से होते हुए रोपड़ पहुँचे। सरसा नदी के निकट पहुँच कर उन्हें ज्ञात हुआ कि जब शत्रु सेना को पता चला कि वे रात्रि में आनंदपुर छोड़ आये हैं, तो उसने अपनी सब शपथें भूल कर आक्रमण कर दिया। पीछे का दल, जिसकी सुरक्षा का भार अजीत सिंह पर था, शत्रुओं पर टूट पड़ा। नदी शीतकालीन वर्षा के कारण बाढ़ग्रस्त थी। इसे पार करना अत्यंत जोखिम का काम था। नदी के दूसरे किनारे पर कुछ स्थानीय रंघड़ और गुज्जर गुरु जी को घेरने के लिए उपस्थित थे। वे गुरु जी को दंड देने का कोई अवसर नहीं खोना चाहते थे। इस हड़बड़ी में गुरु जी का परिवार बिखर गया। वे स्वयं बड़ी कठिनाई से सब कुछ गँवाकर सरसा नदी को पार कर रोपड़ पहुँच सके।[३४] रोपड़ के पास ही गोबिन्द सिंह जी अपने बच्चों तथा माँ से मिले और उन्हें यात्रा जारी रखने के लिए कहा। दिल्ली निवासी, एक अन्य विश्वास-पात्र सिख ने गुरु-पत्नियों को निरापद स्थान पर पहुँचाने की जिम्मेदारी ली। माता गूजरी गंगू रसोइए के साथ उसके गाँव की ओर चली गई। गंगू ने विश्वासघात किया, उसने धन के लोभ में उन्हें सरहिंद के सूबेदार वज़ीर खान को सौंप दिया। वज़ीर खान ने उन्हें मुस्लिम धर्म स्वीकार करने के लिए कहा, किन्तु गुरु के नन्हे वीर साहिबज़ादों ने उत्तर दिया कि वे ईश्वर और गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी के समक्ष शीश नहीं नवायेंगे और न ही मृत्यु के भय अथवा किसी प्रकार के लोभ-लालच से धर्म-विमुख

---

३४. गुरु प्रताप सूरज, ४/४५.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

होंगे। हर तरह से कोशिश करने के बावजूद जब वज़ीर खान उन वीर एवं निर्भय बालकों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए राज़ी न कर सका, तो उसने क्रूरतापूर्वक २७ दिसम्बर १७०४ ई. को उन्हें जीवित दीवार में चिनवा दिया। पुत्रों ने भी पिता एवं स्वर्गीय दादा गुरु तेग बहादुर का अनुकरण कर बलिदान एवं आत्मोत्सर्ग के मार्ग को ग्रहण करना श्रेयस्कर समझा तथा धर्म की रक्षा के लिए प्राणों की आहुति देने में तत्परता दिखाई। माता गूजरी ने भी पोतों के शोक में प्राण त्याग दिए।

इधर शीतकालीन रात्रि में वर्षा के दौरान ही सरसा नदी के तट पर गुरु जी का मुगल सेना से संघर्ष हुआ। गुरु जी किसी प्रकार अपने पुत्रों अजीतसिंह (१९ वर्ष) और जुझार सिंह (१४ वर्ष) तथा कुछ सैनिकों के साथ चमकौर की ओर चल दिये। चमकौर के युद्ध में गुरु जी के दोनों पुत्रों ने वीरतापूर्वक शत्रुओं का सामना किया[३५] और अंत में दोनों ने वीरगति प्राप्त की।

युद्ध करते हुए जब गुरु जी के अधिकांश सैनिक शहीद हो गये तब बचे हुए पाँच सैनिकों की राय पर संत सिंह और संगत सिंह नामक दो सिखों को गढ़ी में ही छोड़कर तीन सैनिकों के साथ गुरु जी ने रात्रि में चमकौर छोड़ देने का फैसला किया क्योंकि पंचों ने उन्हें ध्यान दिलाया कि उन्हीं के निर्देशानुसार पांच सच्चे और आस्थावान सिखों का निर्णय गुरु के निर्णय के समशील होता है। वहाँ से वे तीनों अलग-अलग दिशाओं में चले गये। इधर-उधर भटकते हुए, शत्रुसेना से बचते हुए, गुरु जी ने शीत ऋतु की अनेक रातें माछीवाड़ा के जंगलों में खुले आसमान के नीचे बिताईं। अनेक दिन उन्हें आक के दूध से होंठ तर करके तथा आक के पत्ते खाकर गुज़ारा करना पड़ा किन्तु उन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा। यहीं गुरु जी से नबी खान और गनी खान नामक दो पठान मिले, जो उन पर श्रद्धा रखते थे। मुगल सेना गुरु के पीछे पड़ी हुई है, यह जानते हुए भी उन्होंने उन्हें 'उच्च का पीर' (ऊँचा पीर) बताकर एक पालकी में बैठाकर वहाँ से निकाला।[३६]

पठानों के साथ पालकी में जाते हुए मुगल सैनिकों को संदेह हो गया। उन्होंने मठानों की बात की सत्यता की जाँच करने के उद्देश्य से कादी पीर मुहम्मद नामक काज़ी को भेजा। उसने गुरु जी को पहचान तो लिया, किंतु मुगलों को संतोषजनक उत्तर देकर गुरु जी को चुपचाप वहाँ से निकल

---

३५. तबि अजीत सिहं वीर सांग कर धरि विचरता।
मनहुं घटा बिच दिपहि चंचला चमक सुभता।
जिस के मारि घसाइ शीघ्र ही तिस उथलंता।
लेति निकास, प्रकाश महाबल करि बलवंता।
—गुरु प्रताप सूरज, पृ. २९४९

३६. "The Guru left Chamkaur and proceeded towards the jungle of Machiwara. Being serched by the Mughals on all sides, the Guru somehow reached the town of Machiwara. Fortunately at this crises Guru was helped by the two Pathans namely Ghani Khan and Nabi Khan. They saved the Guru from being captured by the Mughals. The Guru was made to sit in a palaquin by Nabi Khan and Ghani Khan and his own attendants and all enquirers were told that he was Uch Ka Pir."
—The Sikh Religion Vol. V,P. 192.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जाने दिया। सौभाग्य से कादी पीर मुहम्मद वही अध्यापक थे, जिनसे गुरु जी ने फ़ारसी सीखी थी। इस घटना को जान लेने पर गुरु जी के व्यक्तित्व में निहित उदात्त गुणों के प्रति हमारी श्रद्धा और बढ़ जाती है क्योंकि प्रत्येक अध्यापक अपने शिष्य के व्यक्तित्व से अच्छी तरह परिचित होता है। यदि अध्ययन काल में कहीं भी शिष्य गोबिन्द ने अपने गुरु को किसी प्रकार की क्षुद्रता का तनिक भी एहसास दिया होता तो संभवतः संकट की उस घड़ी में गुरु का व्यवहार भिन्न होता।

जैसा कि कहा जा चुका है, गोबिन्द सिंह जी की दृष्टि में सभी धर्मों, सम्प्रदायों एवं वर्गों के लोग बराबर थे। 'खालसा' के द्वार सब के लिए समान रूप से खुले थे। अतः गुरु जी के सभी समान स्नेह एवं श्रद्धा के अधिकारी बने। उनके व्यक्तित्व की विराटता से अभिभूत हो कहीं अनेक मुस्लिम यथा—हफ़ीज़ आदिम, सैफ़ खान, भीखन शाह, काले खाँ, मदार कनौज आदि उनकी शिष्यता ग्रहण करते दिखाई देते हैं, तो कहीं उनके युद्ध-कौशल एवं उदार दृष्टिकोण से प्रभावित हो शत्रु सेना का सिपाही सैयद खाँ उनका शिष्य बन जाता है। भंगाणी नामक स्थान पर हुए युद्ध में मुस्लिम बुद्धूशाह अपने दोनों पुत्रों एवं सात सौ शिष्यों सहित गुरु जी की ओर से युद्ध करने के लिए आता है और अपने पुत्रों के युद्ध में शहीद हो जाने पर गुरु के चरणों में अर्पित सेवा पर संतुष्ट होता है। इधर लाखी जंगल में हम इब्राहिम नामक फ़कीर को उनके हाथों अमृतपान कर सिख धर्म में दीक्षा लेते हुए देखते हैं, तो दूसरी ओर मक्का के बड़े मुफ़्ती प्रभावित होकर उनसे अच्छे सम्बन्ध बनाते हुए दिखाई देते हैं, जो औरंगज़ेब द्वारा भेजे हुए कासद को तो मुँह लगाने से इन्कार करते हैं, किन्तु गुरु गोबिन्द सिंह की सहायता भी करते हैं। ऐसे अन्य अनेक उदाहरण इस बात की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं कि अपनी वाणी में निहित सत्य—'अलह अभेख सोई, पुरान औ कुरान सोई' को गुरु जी ने अपने व्यक्तित्व में भी आत्मसात किया था और प्रत्येक स्थिति में दृष्टिकोण की उदारता, हृदय की विशालता और समजातीय व्यवहार का परिचय दिया था।

हृदय की ऐसी ही विशालता के दर्शन हमें तब भी होते हैं, जब माछीवाड़ा से जतपुरा पहुँचने पर गोबिन्द सिंह जी को पुत्रों तथा माता की करुणाजनक गाथा ज्ञात होती है। इस हृदय-विदारक समाचार को सुनकर भी वे इस बात पर संतोष प्रकट करते हैं कि उनके पुत्रों ने धर्म का सौदा करने से इन्कार कर दिया। अपने चारों पुत्रों एवं माता को खोकर भी जब वे अत्यंत धैर्यपूर्वक अपना आगामी कार्यक्रम निर्धारित करते हैं, तब हम विकट परिस्थितियों में भी मन-मस्तिष्क का संतुलन बनाए रखने की उनकी अद्भुत सामर्थ्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। न वे असफलताओं से विचलित हुए, न सफलताएँ ही उन्हें पथ भ्रष्ट कर सकीं। हर्ष-विषाद दोनों ही स्थितियों में महान आत्मा की भाँति उन्होंने सदा समभाव की ही प्रतीति की।

जतपुरा में बनाये गये आगामी कार्यक्रम की योजना का पहला सोपान दीना नामक स्थान पर पहुँचना था। यहाँ चमकौर छोड़ने पर बिछुड़े हुए तीनों साथी भी मिल गये। अन्य और अनेक शिष्य भी गुरु जी से आ मिले। यहाँ से गुरु जी खिंदराणा नामक स्थान की ओर चले, जो आज मुक्तसर के नाम से जाना जाता है। वहाँ के सूखे तालाब को सामरिक दृष्टि से उपयुक्त जानकर गुरु जी ने उसके निकट के घने जंगलों में मोर्चा बनाया और पुनः सैन्य शक्ति संग्रह का कार्य प्रारम्भ किया। सब कुछ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

खोकर भी वे हतोत्साहित नहीं हुए, अपितु नए सिरे से अपने लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में जुट गये। उनकी सफलता का सारा रहस्य तो उनकी अदम्य आशावादिता तथा तरुण उत्साह में छिपा हुआ था, जो मानो उनके समूचे अस्तित्व में व्याप्त था। ऐसी बेचैन आत्मा सदैव किसी लोकोत्तर उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न रहती है और यही आकांक्षा सद्‌जीवन का यथार्थ उत्स मानी जा सकती है।

सरहिंद के सूबेदार वज़ीर खान की सेना निरंतर गुरु का पीछा कर रही थी। खिंदराणा में ही २१ वैशाख सं. १७६२ (१७०५ ई.) में मुगल सेना ने फिर गुरु जी पर आक्रमण किया किंतु इस युद्ध में भी उन्हें मुँह की खानी पड़ी। गुरु जी ने अपने सैनिकों की विस्तृत संख्या की भ्रांति उत्पन्न करने के लिए पेड़ों पर चादरें डलवा दीं। जिससे मुगल सेना उन्हें शिविर समझकर उसी ओर बढ़ चली। इस युद्ध में महत्त्वपूर्ण बात यह भी हुई कि जो चालीस सैनिक क्षुधा से पीड़ित होकर आनंदपुर छोड़कर चले गये थे, उन्होंने भी युद्ध में मुगलों के छक्के छुड़ा दिये और अंत में लड़ते-लड़ते वीरगति प्राप्त की। गुरु का साथ छोड़ने का इससे बढ़कर और प्रायश्चित क्या होता? प्रतिवर्ष खिंदराणा में माघ मास में लगने वाला मेला उन्हीं मुक्तों को दी जाने वाली श्रद्धांजलि का रूप है।

भाई मोहन सिंह ने अपने अंतिम क्षणों में गुरु जी से वह पुर्ज़ा मांगा, जिस पर लिखकर वे गुरु का साथ छोड़ गये थे। कितने आश्चर्य की बात थी कि अपना सब कुछ— घर-बार, पुत्र, माता, पत्नी आदि खोकर भी गुरु जी उस पुर्ज़े को अपनी आत्मा की तरह सावधानीपूर्वक सुरक्षित रखे हुए थे।[३७] 'खालसा' ही को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करने का इससे बड़ा उदाहरण और कौन सा हो सकता है? उन्होंने मोहनसिंह का खून से लथपथ चेहरा पोंछा और उसके कंधे थपथपाए तथा माथा चूमते हुए कागज़ के उस पुर्ज़े को फाड़कर फेंक दिया। गुरु जी के उस व्यवहार से अंतिम यात्रा के लिए प्रयाण करते हुए शहीद को इस बात का संतोष हो गया कि उसने भगोड़े सिपाहियों का नेता बनकर नहीं बल्कि चालीस मुक्तों का नेता बनकर वीरतापूर्ण मृत्यु को अंगीकार किया है। उस की अंतिम मुस्कान इस बात का संकेत दे रही थी कि उसने अलौकिक आनंद की अनुभूति की है। चालीस सैनिकों को आशीर्वाद देते हुए गुरुजी ने उन्हें 'चालीस मुक्ते' कहा। उन्हीं की याद में खिंदराणा का नाम मुक्तसर रखा गया है। गुरु जी के सिवा अन्य कौन अपने हृदय में इतनी विशालता समेट सकता था, जो विपत्ति के समय साथ छोड़ जाने वाले अनुयायियों के लौट आने पर उन्हें पुनः हृदय से लगा ले और मुक्त की पदवी प्रदान करे। अन्य किस का हृदय अनुयायियों के प्रति ऐसे प्रेम से सराबोर हो सकता है? उनका पुनः लौट आना इस विश्वास का सूचक है कि जिन मूल्यों के लिए गुरु ने युद्ध का आयोजन किया है, वे सब प्रकार से उत्तम हैं, उन मूल्यों के लिए वे अपना आत्म-बलिदान भी देने को तत्पर हैं। उन्हें अपने पूर्व-पापों से मुक्ति भी प्राप्त करनी है। यही अपने आप में 'खालसा' द्वारा किये जाने वाले उन उच्चतम सिद्धांतों के संरक्षण का प्रमाण है, जो उसकी

---

३७. Bhai Mohan Singh who while bleeding and breathing his last begged for tearing away the disclaimer to pardon them. What a wonder of History, although the Guru had lost all his kith and kin including his sons, mother and wife, yet that piece of paper was intact in his pocket, carefully preserved like his own soul
—Sher Singh Sher, Glimpses of Sikhism & Sikhs, P. 271.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्थापना के आधार थे। गुरु द्वारा उन्हें पश्चाताप का अवसर देकर उनकी आत्मा को मुक्ति की दशा तक पहुँचाने का कार्य गुरु की उदारता के साथ अनुयायियों के प्रति अतिरिक्त स्नेह, विश्वास और मानवीय सरोकार का भी सूचक है। ये चालीस मुक्ते ही नहीं, गुरु गोबिन्द सिंह की प्रेरणा से अन्य अनेक ऐसे व्यक्ति भी जीवन मुक्त हो गये, जिनकी चर्चा भले ही मुक्तों के साथ न की जाती हो, किंतु जिनके निराश हृदय में गुरु ने आत्म-बलिदान की दिव्य ज्योति जलाई और उन्हें धर्म की रक्षा के लिए रक्त की अंतिम बूँद तक वीरतापूर्वक युद्ध करने तथा हँसते-हँसते मुक्तिदायिनी मृत्यु को स्वीकार करने की अवस्था तक पहुँचाया—

कहा भयो मम और ते सूर हने संग्राम,
लरिबो मरबो जीतबो, इहि सुभटनि के काम।

(कृष्णावतार, १८४७)

खिंदराणा युद्ध के पश्चात् गुरु गोबिन्द सिंह अनेक स्थानों से होते हुए तलवंडी साबों पहुंचे, जिसे आज दमदमा के नाम से जाना जाता है। यहीं उनकी अपने घनिष्ठ मित्र डल्ला से मुलाकात हुई। डल्ला ने अपने सैनिकों की निर्भयता की अत्यधिक प्रशंसा की। गुरु जी ने इस बात की सत्यता जाननी चाही। उन्होंने अपनी नई बंदूक के निशाने की जाँच करने की इच्छा जाहिर की और डल्ला से कहा कि निशाना बनने के लिए वह अपने सैनिकों को बुलाये। डल्ला झूठ बोलने पर बहुत शर्मिन्दा हुआ, वह गुरु जी के चरणों पर गिर गया, उसने भी अमृतपान कर डल्लासिंह बनने की इच्छा ज़ाहिर की, जिसे गुरु जी ने स्वीकार कर लिया।

दमदमा साहिब में ही गुरु जी से उनकी बिछुड़ी पत्नियाँ मिलीं और चारों पुत्रों को न देखकर आश्चर्यचकित हुईं। गुरु जी ने जब यह बताया कि चारों पुत्र पंथ की रक्षा के लिए शहीद हो गये हैं, तो माताओं का हृदय चीत्कार कर उठा। किंतु मनोविज्ञान के पारखी गुरु प्रत्येक अवसर का इस्तेमाल मानवता के हित में करना जानते थे। उन्होंने शीघ्र ही उन्हें ढाढ़स बँधाते हुए हरि इच्छा को धारण करने के लिए कहा और कहा कि उनके चार पुत्रों के बलिदान से उनका पाँचवाँ पुत्र 'खालसा' प्रतिदिन शक्तिशाली होगा।[३८]

'इन पुत्रन के सीस पे वार दिए सुत चार, चार मुए तो क्या हुआ जीवित कई हज़ार'—कहकर गुरु जी ने अपने चार पुत्रों की आत्मा को अपने हजारों शिष्यों की आत्मा में प्रक्षेपित कर उनके साथ

---

३८. इसी भांति सतगुरु कह जानहु हरख सोग है एक समानहु।
आ को निज हरख न करे। गये पदार्थ चिन्त न धरै।
अजब चाहत तब करत पसारा। जो खेचत तब एक ओंकारा।
हुक्म सति सति गुरु का सिरे। जो भावे सो भावन करे।
जादे और हम आप। जुदे न होसन इक प्रताप।
नास मलेछन करने काज। लाए सीस गरीब निवाज।
हरख सोग चिन्ता नहीं लोभ मोह तै पाक।
तासौ सतिगुरु जानिए अद्भुत जाके वाक।
—गुरु विलास, पृ. ४६१

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जिस एकात्म भाव की अनुभूति की, निःसंदेह उसने शिष्यों में अद्भुत बल का संचार किया होगा। गुरु के इस कथन से माँ के संतप्त हृदय को भी सांत्वना मिली होगी कि पुत्रों का बलिदान महान आदर्श को जीवित रखने के लिए हुआ है। उन्हें अपनी ममता का अवलंब जीवन से बड़े मूल्यों से ओत-प्रोत 'खालसा' में दिखाई दिया होगा। अपनी वैयक्तिक क्षति के समय भी ईश्वरेच्छा को शांतिपूर्वक शिरोधार्य करने की सामर्थ्य के साथ-साथ कर्तव्यपरायणता का ऐसा परिचय गुरु गोबिन्द सिंह जैसे महान व्यक्तित्व का स्वामी ही दे सकता है। सब कुछ बलिदान कर देने के पश्चात् भी उनका पोर-पोर धर्म-युद्ध की पुकार लगता है और वे 'जीवित कई हज़ार' में उसकी संभावनाएँ तलाशते रहते हैं।

गुरु द्वारा आयोजित धर्म युद्धों के मूल में मानवीय मूल्यों के संरक्षण का भाव था। इन्हीं मूल्यों से संबद्धता उत्पन्न करने के लिए उन्होंने काव्य रचना भी की और पूर्व गुरुओं द्वारा प्रदत्त सांस्कृतिक विरासत को ठीक उसी रूप में शिष्यों तक सौंपने की जिम्मेदारी भी महसूस की। अतः उन्होंने तलवंडी निवास के दौरान ही भाई मनीसिंह को मौखिक रूप से 'गुरु ग्रंथ साहिब' लिखवाया था, जिसके १४३० पृष्ठ हैं। मौखिक रूप से लिखवाने का कारण था कि उसकी मूलप्रति धीरमल के पास थी और उसने उसे देने से इन्कार कर दिया था, जबकि गुरु के शिष्य उसकी गुरु द्वारा प्रमाणित प्रति चाहते थे। इसमें पहले पाँच गुरुओं के शब्द तथा फरीद, कबीर, रविदास, नामदेव, मीराबाई, भीखन आदि सूफ़ी और भक्त कवियों की रचनायें थीं, बाद में उन्होंने इसमें गुरु तेग बहादुर की रचनाएँ भी सम्मिलित कर लीं। भाई मनीसिंह ने ही गुरु जी के देहावसान के उपरांत उनकी प्राप्त वाणी को संकलित किया। बाद में यह ग्रंथ 'दशमग्रंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[३९] 'दशम ग्रंथ' में भक्ति परक रचनाओं तथा वीर काव्य के अतिरिक्त गुरु जी द्वारा औरंगज़ेब को फारसी भाषा में लिखा गया वह पत्र भी संकलित है जो 'ज़फ़रनामा' शीर्षक से प्रसिद्ध है। गुरु जी ने यह पत्र दमदमा निवास से पूर्व भाई दयाल सिंह द्वारा औरंगज़ेब को उस समय भिजवाया था, जब वह अहमदनगर में था।[४०] प्रस्तुत पत्र संभवतः उन्होंने औरंगज़ेब द्वारा भेजे गये किसी लिखित अथवा मौखिक संदेश को प्राप्त करने के पश्चात् लिखा था, क्योंकि वे अपने पत्र में इस बात का जिक्र करते हैं।[४१] इस संदेश के माध्यम से औरंगज़ेब ने उन से भेंट करने की इच्छा व्यक्त की थी।[४२] और ऐसा जान पड़ता है कि उसने गुरु जी को आमंत्रित किया था और साथ ही संभवतः यह भी लिखा था कि वे न आ सकें तो औरंगज़ेब स्वयं उनसे मिलने आना चाहेगा, यदि गुरु तक पहुँचने के मार्ग में उसे किसी प्रकार का भय न हो। चूँकि गुरु जी औरंगज़ेब का आश्वासन पाकर आनंदपुर छोड़ने के बाद उसकी कसमों की वास्तविकता जान चुके थे, इसलिए ऐसे झूठे व मक्कार बादशाह के पास जाने में उन्हें कोई तथ्य नहीं दिखाई दिया। हाँ, उन्होंने लिखा कि औरंगज़ेब अगर आना चाहे तो अवश्य आये, ताकि वे बात करके उस पर मेहरबानी करें।[४३]

---

३९. भाई केसर सिंह छिब्बर, वंशावलीनामा, पृ. २२३-२४

४०. ज़फ़रनामा, पृ. ८८

४१. न विशतह रसीदो बगुफतह जुबं। बिबायदकि ई कार राहत रसां
—**ज़फ़रनामा, पृ. ५४**

४२. सिख इतिहास बारे, डा गंडासिंह, पृ. ३५

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गुरु के पत्र से एक बात और भी प्रकाश में आती है, वह यह कि औरंगज़ेब ने संभवतः उन से संधि करने की इच्छा से उन्हें आमंत्रित किया था क्योंकि उन्होंने पत्र में लिखा है— (तुम्हारा यह कहना कि) एक हज़ार रुपए की कीमत का एक सुन्दर घोड़ा ले आओ और मेरे पास से यह इलाका (जागीर रूप में) हासिल कर लो, मैं सम्राटों के सम्राट का बंदा एवं गुलाम हूँ, अगर उसकी आज्ञा होगी तो मैं जान समेत हाज़िर हो जाऊँगा।[४४] यहाँ गुरु जी ईश्वरीय शक्ति के समक्ष सिर नवाने की और उसकी आज्ञा से प्रत्येक कार्य करने की बात भी कह रहे हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि औरंगज़ेब की शक्ति से उन्हें तनिक भी भय नहीं अपितु वे 'खालसा' की सामर्थ्य से आश्वस्त हैं। तभी तो वे उसे दृढ़तापूर्वक अपने निश्चय से परिचित कराते हुए कहते हैं कि क्या हुआ यदि चार पुरुषों (चारों पुत्रों) को मार दिया, अभी कुंडलाकार सर्प (खालसा) तो मौजूद है।[४५]

'जफ़रनामा' कहीं-कहीं गुरु गोबिन्द सिंह एवं 'खालसा' के प्रति औरंगज़ेब की क्रूर एवं कट्टर नीतियों में परिवर्तन का भी संकेत देता है। किस कारण से, यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता किंतु संभवतः औरंगज़ेब ने इस बार कहीं गुरु से उनके शिष्यों के हित के लिए कुछ करने का वायदा किया था, ऐसा जान पड़ता है। क्योंकि गुरु लिखते हैं कि अब तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम अपने काम को पूरा करो, लिखे हुए के अनुसार करो, अच्छा हो यदि यह काम सबके लिए सुखदायक हो। मर्दों को बात का धनी होना चाहिए—अगर तुझमें सच्चाई है तो खुद चलकर यहाँ आ।[४६] यह काम सबके लिए सुखदायी हो—इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि शिष्यों के लिए कुछ भी कर गुज़रने वाले गुरु के लिए वही काम सुखदायी होगा, जिसमें शिष्यों के हित-चिन्तन को दृष्टिगत रखा गया हो। वे जब यह कहते हैं कि यह कार्य अच्छा है, धर्म के नाम का है, ईश्वर को जानने का है और प्राणों के लिए बेहतर है[४७] तो स्पष्ट हो जाता है कि जिस कार्य को करने का वायदा औरंगज़ेब द्वारा किया गया है, वह 'खालसा' की बेहतरी के लिए तो है, किन्तु वे औरंगज़ेब की प्रकृति को समझते हुए उसे विशेष महत्त्व नहीं दे रहे। उन्हें अधिक अंदेशा इस बात का है कि पहले दिए गये आश्वासन की भाँति यह भी कोरा आश्वासन ही होगा। वे उसे फटकारते हुए, निर्भीकतापूर्वक उसका आमंत्रण ठुकराते हुए कहते हैं कि वह दौलत का पुजारी, ईमान को परे धकेलने वाला तथा करारनामे तोड़ने वाला मक्कार पुरुष है, इसलिए उसकी बात का यकीन नहीं किया जा सकता बताया और कहा कि तुझे यदि अपनी सल्तनत और दौलत का अहंकार है तो मुझे अपने अकाल पुरुष के आश्रय पर अभिमान है—

---

४३. ज़फ़रनामा, पृ ८८

४४. यके असप शाइसतए यक हज़ार। बिया हा बगीरी मनईं दियरि।
शहिनशाह रा बँदहे चाकरेम। अगर हुक्म आयद बजां हाज़रेम
—ज़फ़रनामा, पृ. ६१-६२

४५. ज़फ़रनामा, पृ ७८

४६. नविशतह रसीदो बगुफ़तह जुबां। बिबायद कि ई कार राहत रसाँ।
हमूं मरद बायद शब्द सुखनवर न शिकमें दिगर दर दहानि दिगर॥
काज़ी मरा गुफ़त बेरू नयम। अगर रासती खुद बियारी कदम॥
—ज़फ़रनामा, पृ. ५४-५६

४७. वही, पृ. ७८

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नन दानम कि ई मरदि पैमां शिकन। कि दउलत परसत सतु ई मां फिकन।
अगरचि तुरा इअतबार आमदे। कमर बसत पेशवा आमदे।
कि ऊ रा गरुर असत बर मुलकु माल। व मारा पनाह असतु यजदाँ अकाल

(ज़फ़रनामा, ४५, १०६)

औरंगज़ेब से यह कहने की हिम्मत गुरु गोबिन्द सिंह में ही थी कि तू कुरान की कसम भी खा ले, तो भी मुझे तुझ पर रत्ती-भर विश्वास नहीं क्योंकि दौलतपरस्त व्यक्ति न खुदा की पहचान कर सकता है, न अपने दिये वचन का पालन ही कर सकता है। यदि तुम्हें अपने ही दिए गए वचनों का यकीन होता, तो तुम कमर बाँधकर स्वयं मेरे सामने आ जाते—

चु कसमे कुरं सदं कुनद इखतियार। भरा कतरह नायद अजो इअतबार।
हहमूँ मरद बायद शवद सुखनवरु। न शिकमे दिगर दर दहानि दिगर।

(ज़फ़रनामा ४९, ५५)

किंतु प्रशंसनीय बात यह है कि सब समझने के बावजूद वे औरंगज़ेब से बातचीत की संभावना समाप्त नहीं कर रहे। उनकी उदारता एवं विस्तीर्ण दृष्टिकोण का परिचय तब भी मिलता है, जब वे 'खालसा' के हित-चिन्तन को मद्देनज़र रखकर औरंगज़ेब को आने के लिए कहते हैं। बुरे से बुरे व्यक्ति में भी कहीं कोई अच्छाई निहित होती है अथवा कभी-कभी क्रूर से क्रूर व्यक्ति भी किसी क्षण विशेष में पश्चाताप और सद्‌भावों के प्रवाह में कहीं कोई सत्कर्म करने का निर्णय ले बैठता है—गुरु संभवतः इस संभावना को दृष्टिगत रखते हुए ही उसे बार-बार यह चेतावनी देते हैं कि तुम्हारे ऊपर 'कुरान' की कसम का बोझ है, इसलिए तुम अपने दिए वचन के अनुसार काम को भली-भाँति करो।[४८] उपलब्ध सूत्रों से भी ज्ञात होता है कि अपने अंतिम दिनों में अपने कुकृत्यों के लिए औरंगज़ेब के हृदय में बहुत पश्चाताप था। इसी भावना के वशीभूत होकर उसने अपने पुत्रों तारा आज़म और कामबख्श को लिखा था कि मुझे नहीं मालूम मैं कौन हूं, कहाँ जाऊँगा, पापों से भरी मेरी पापी रूह का क्या होगा। मेरी जिन्दगी बेमकसद ही बीत गई। खुदा मेरे दिल में था पर अंधेरे में डूबी मेरी आँखें उसके नूर को न देख सकीं। अब आगे मुझे कोई उम्मीद नहीं है। मैंने बेइंतहा पाप किए हैं और नहीं जानता कि (दोजख में) कौन सी सज़ा मेरा इंतज़ार कर रही है।[४९]

गुरु जी द्वारा लिखा पत्र ज़फ़रनामा' जब औरंगज़ेब के पास पहुँचा तो वह उसकी अन्तर्वस्तु से प्रभावित हुआ और उसने यह आदेश जारी किया कि गुरु जी को अधिक परेशान न किया जाये।[५०]

---

४८. ज़फ़रनामा पृ., ७६

४९. "I know not who I am, where I shall go and what will happen to this sinner full of sins. My years have gone by profitless. God has been in my heart but my darkened eyes have recognised not his light. There is no hope for me in the future.... I have greatly sinned and know not what torment awaits me (in the here after)"
–quoted in 'History of India', (Oxford), Vincet Smith

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उसने यह फ़रमान भी जारी किया कि गुरु जी को सम्मान सहित उसके सम्मुख लाया जाये। इस सम्बन्ध में औरंगज़ेब द्वारा जारी किया गया फ़रमान बादशाह के खास मुंशी मिर्जा इनायतुल्ला खान 'इमसी' द्वारा संपादित 'अहिकामि आलमगीरी' (हस्तलिखित) की एक प्रति रामपुर के पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसके सातवें-आठवें पृष्ठ पर शाहज़ादा मुहम्मद मुअज्ज़म (बहादुरशाह) सूबेदार पंजाब, मुलतान और काबुल के दीवान और नायक सूबेदार लाहौर मुनइम खान के लिए बादशाह का फ़ारसी में जो हसबुल-हुक्म दर्ज़ है, उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

"इस समय बादशाह की ओर से वज़ीर साहब को लिखने की आज्ञा हुई है कि नानक पूजों के सरदार गोबिन्द की ओर से वकील के द्वारा बादशाह के दरबार में हाज़िर होने का इरादा और शाही फरमान प्राप्त करने की इच्छा के विषय में अर्जदास्त पहुँची थी। बादशाह ने आज्ञा प्रसारित कर उन्हें सम्मान दिया है। गुरज़बरदार और मुहम्मद यार मनसबदार, जो फ़रमान लेकर आ रहे हैं, को यह हुक्म आप तक पहुँचाने की आज्ञा दी गई है। आपको चाहिए कि उनको दिलासा और तसल्ली देकर अपने पास बुलाओ और फरमान पहँचने के पश्चात् एक विश्वासी व्यक्ति जो मिलनसार और चतुर हो, गुरजबरदार और मनसबदार के साथ देकर उन्हें बादशाह के हुज़ूर में पहुँचाओ। इस संबंध में बादशाह की ओर से अत्यंत ताकीद समझना।[५१] सेनापति ने भी 'गुरु शोभा' में इस बात की पुष्टि की है।[५२] गुरु जी तक यह फ़रमान पहुँचा या नहीं, इस बारे में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि भाई दयासिंह की ओर से कोई समाचार न पाकर उन्होंने अक्तूबर १७०६ ई. को अचानक दक्षिण जाने का विचार कर लिया। इस यात्रा के उद्देश्य के बारे में उन्होंने अपने शिष्यों से भी कुछ ज़िक्र नहीं किया।

कतिपय लेखक यह भी मानते हैं कि वे औरंगज़ेब तक 'ज़फ़रनामा' ले जाने वाले दयासिंह की खोज करने निकले होंगे, क्योंकि उससे पूर्व उन्हें दयासिंह की ओर से यह सूचना मिल चुकी थी कि उसे वह पत्र औरंगज़ेब तक पहँचाने में कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। इन लेखकों का यह मानना है कि गोबिन्द सिंह जी ने यह विचार किया होगा कि संभवतः औरंगजेब ने दयासिंह के साथ दुर्व्यवहार किया हो।[५३] कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि वे औरंगज़ेब से मिलकर उसे उसकी ओर से शिष्यों पर हुए अत्याचारों से प्रत्यक्षतः अवगत कराना चाहते थे अथवा अपने संदेशों से

---

५०. It is said that Aurangzeb was apparently moved by the contents of the letter and issued orders that Guru was not be molested;
– Khushwant Singh, The History of the Sikhs, Vol. II, P. 94.

५१. उद्धृत 'गुरु गोबिन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता', पृ. ५१

५२. गुरजदार फुरमान लै दयासिंह के संगि।
.बिदा किये ताही समे बादसाह औरंग।
—गुरु शोभा, पृ. ७८

५३. बहुत दिवस बीतिउ तहा प्रगट करो बीचार।
दया सिंघ इत तै चलिए उत तै सिरजनहार।
दया सिंघ दच्छन दिसा लागी बहुत अपार।
सिंघन को साहिब कहिउ सबै होतु तहयार
—गुरु शोभा, पृ. ८१

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

संपूर्ण भारत में जन-जागृति का प्रसार तथा धर्म का प्रचार करना चाहते थे।[५४] लतीफ़, फास्टेट, कनिंघम आदि इतिहासकार मानते हैं कि गुरु जी ने औरंगज़ेब से संधि करने का अथवा उसकी सेना में उच्च पद प्राप्त करने का या इस्लाम स्वीकार करने का मन बना लिया था। सत्य कुछ भी रहा हो, इस यात्रा के दौरान राजपूताने में बघौर नामक स्थान पर ही औरंगज़ेब की मृत्यु का समाचार सुनते ही गुरु जी का वापिस पंजाब लौटना, उनकी दक्षिण यात्रा के इस उद्देश्य को अवश्य स्पष्ट कर देता है कि संभवतः औरंगज़ेब से मिलना ही उनका प्रमुख उद्देश्य रहा होगा, किन्तु इससे यह साबित नहीं हो जाता कि वह किसी तुच्छ पदवी की प्राप्ति के लिए उस आततायी शासक के पास समर्पण करने के लिए जा रहे थे। गोबिन्द सिंह जैसे देशभक्त, महान दानी, मानवता के मुक्तिदाता, स्वतंत्रता के सेनानी से हँसते-हँसते मृत्यु का वरण करने की आशा तो की जा सकती है, किन्तु क्षुद्र लाभ के लिए ऐसे किसी अत्याचारी से सन्धि करने की नहीं। आजीवन उसी के अन्याय के विरुद्ध युद्ध करते हुए अपना सब कुछ खो देने के बाद उनके पास अपने पाँचवे पुत्र 'खालसा' के सिवा और कोई दौलत न थी। ऐसी स्थिति में 'खालसा' के हित के सिवा अन्य कोई आकर्षण नहीं हो सकता, जिससे प्रेरित होकर वे औरंगज़ेब से मिलने गये हों। खालसा सैनिकों के स्वाभिमान की कीमत पर वे किसी से कुछ मांग सकते थे, ऐसा सोचना भी पाप है और फिर वह भी औरंगज़ेब जैसे अत्याचारी से, जिसकी दुष्ट नीतियों की खिलाफ़त वे वर्षों से करते आ रहे थे। अपना संपूर्ण जीवन मानवता को सुरक्षित रखने के लिए आयोजित यज्ञ में होम कर देने वाले गुरु से परिचित शिष्य उनके सम्बन्ध में उथली जानकारी रखने वाले लेखकों के ऐसे आरोपों की अप्रामाणिकता की जाँच करने का औचित्य ही नहीं समझते क्योंकि वे निश्चयपूर्वक इन्हें बे-बुनियाद और असत्य कह सकते हैं। प्रो. कर्त्तार सिंह की पुस्तक 'जीवन कथा श्री गुरु गोबिन्द सिंह' विस्तारपूर्वक ऐसे आरोपों की मिथ्यात्मकता एवं अप्रामाणिकता की जानकारी प्रदान करती है।[५५]

मानवता का समर्थन करने की उनकी नीति से मात्र उनके शिष्य ही नहीं, अन्य धर्म एवं संप्रदाय यहां तक कि शत्रु के परिवार भी प्रभावित थे। इसका एक बड़ा प्रमाण तब मिलता है, जब २० फरवरी, सन् १७०७ ई. को औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् उसके छोटे पुत्र शाहआज़म ने अपने बड़े भाई शहज़ादा मुअज़्ज़म (बहादुर शाह ज़फ़र) की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर जब स्वयं को सम्राट घोषित कर दिया और शहज़ादा मुअज़्ज़म ने इस अन्याय का प्रतिकार लेने के लिए गुरु गोबिन्द सिंह को पत्र लिखकर[५६] सहायता माँगी। गुरु जी ने उसे भी हर संभव सहायता का आश्वासन दिया—

तेई बात प्रभु ने सुनि पाई। लिखिउ दिलास तहि पढ़ाई।

---

५४. Teja Singh& Ganda Singh, A Short History of Sikhs, P. 76.

५५. कर्त्तार सिंह, जीवन कथा श्री गुरु गोबिन्द सिंह, पृ. ३८३

५६. जब ते न उरंग साह सिधाना। आज़म राज अपनो जाना।
छत्र आपने सीस झुलायो। डंका देत हिंद को धायों।
ताकी खबर साहि सुनि पाई। कूच कउ कछु बिलम न लाई।
दिल्ली निकटि आप जब आयो। लिखा किउ-प्रभु पास पठायौ।
करि जोरे ऐसे कहिउ। निमख विलम न लाइ।
इह सुलतानी जंग में तुम प्रभु होत सहाइ।
—गुरु शोभा, ६/६८०, ७/६८१, ८/६८२, पृ. ८९-९०

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शंका नैक जीव नहीं आनी। निहचे राज अपनां जानी ।।

(गुरु शोभा, पृ.९०)

अपने पिता के शत्रु से सहायता माँगना यह दर्शाता है कि शत्रु-पुत्र भी गुरु जी की न्यायप्रियता, वीरता, विशाल हृदयता एवं मानवतावादी दृष्टिकोण से अभिभूत था। इतना ही नहीं, वह उनसे प्राप्त होने वाली सहायता के प्रति आश्वस्त भी था। गुरु का बहादुरशाह जफ़र की सहायता के लिए धर्म सिंह को विश्वसनीय सैनिकों के साथ भेजना तथा साथ ही पांच सौ खालसा सैनिक भेजना, पुनः इस बात की पुष्टि करता है कि उनकी शत्रुता अन्याय से रही, जाति, धर्म, संप्रदाय आदि से नहीं। न्याय का समर्थन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति उनसे सहायता प्राप्त कर सकता था, भले ही वह दुश्मन का संबंधी क्यों न हो और सहायता प्रदान करते हुए दुष्ट की शक्ति संपन्नता अथवा अन्य किसी प्रकार की विशिष्ट सामर्थ्य गुरु जी को उनके सिद्धांतों से जौ भर भी न हिला सकती थी। बहादुरशाह को दी गई सहायता ही नहीं, ऐसे अन्य अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।

बहादुरशाह ने जब आगरा के निकट जाजऊ नामक स्थान पर १८ जून, १७०७ ई. को हुए युद्ध में अपने भाई शाहआज़म को मारकर विजय प्राप्त कर ली, तब उसने गोबिन्द सिंह जी द्वारा दी गई सहायता से प्रभावित होकर उनसे अपने दरबार (आगरा) में आने के लिए प्रार्थना की।[५७] आने पर उसने वहाँ उन का सत्कारं एवं धन्यवाद किया तथा अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट कीं।[५८] वह जब उन्हें आगरा में एक बहुत बड़ी जागीर भेंट करने लगा ताकि वे सदैव उसके पास ही बने रहें, तब गुरु जी ने स्पष्ट इंकार कर दिया। वे जानते थे कि जागीर स्वीकार कर लेने का अर्थ होगा, अपने लक्ष्य से वंचित रहना और मात्र बादशाह का मुख्य सरदार बनने तक सीमित रहना। उन्हें तो बहादुरशाह से उसके पिता द्वारा सताई जनता के गहरे घावों पर मरहम लगाने की आशा थी, साथ ही वे चाहते थे कि बहादुरशाह सरहिंद के नवाब वज़ीर खाँ को उनके हवाले कर दे, जो गुरु द्वारा अब तक लड़े गये युद्धों में सर्वाधिक दोषी था।

बादशाह के सिंहासनारूढ़ होते ही उससे ऐसी माँग तो की नहीं जा सकती थी। कुछ समय बाद ही ऐसा संभव जानकर गुरु जी ने कुछ समय और आगरा रहना स्वीकार किया होगा। आगरा निवास के दौरान भी बादशाह से धार्मिक चर्चा करते हुए गुरु जी धर्म, अध्यात्म, नीति आदि विषयों पर अपने विचार अत्यंत आग्रहपूर्वक प्रकट किया करते थे। यदि बादशाह की उचित नीति का समर्थन करते, तो अनुचित बात को अस्वीकार भी करते थे। एक दिन बहादुरशाह ने कहा कि इस्लाम धर्म ही मनुष्य को नरक से बचाने की सामर्थ्य रखता है। गोबिन्द सिंह जी ने असहमति प्रकट करते हुए कहा कि मनुष्य कोई भी धर्म अपना ले, किन्तु यदि पाप करना न छोड़े तो धर्म उसका उद्धार नहीं कर सकता। जैसे हर सिक्के पर अंकित बादशाह की मोहर के बावजूद खोटे सिक्के के बदले बादशाह ही के राज्य में कोई व्यक्ति सौदा देने को तैयार नहीं होता, क्योंकि मूल्य धार्मिक मुहर का नहीं, उस सिक्के के ठीक अथवा खोटे होने का है। इसी प्रकार ईश्वर किसी धर्म विशेष का आदर

---

५७. The Sikh Religion, Part-V, P. 232.

५८. Willam IrvinS, Later Mughals, Vol. I, P. 90.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नहीं करता, व्यक्ति के हृदय की दया को महत्त्व देता है। उन्होंने कहा कि ईश्वर एक है, उसे न मानने वाला काफ़िर है। बहादुरशाह के समक्ष गुरु जी द्वारा प्रकट किये गये ऐसे विचारों से उनकी स्पष्टवादिता, निर्भीकता, दृढ़ता आदि विशेषताएँ तो दिखाई देती ही हैं, आगरा निवास के दौरान उनके राजनीतिक उद्देश्य की भिन्नता भी ज़ाहिर हो जाती है। यह स्पष्ट हो जाता है कि बहादुरशाह को दिया गया उनका सहयोग किसी विशिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ऊपरी तौर पर दिया जाने वाला अस्थायी सहयोग था; बादशाह की प्रत्येक नीति का समर्थन अथवा उसके विचारों का अन्धानुकरण नहीं। ऐसी स्थिति में उन पर लगाये गये आरोपों यथा—बहादुरशाह की सेना में उन्होंने कोई उच्च पद प्राप्त कर लिया था अथवा इस्लाम ग्रहण कर लिया था आदि की निरर्थकता स्वयं प्रकट हो जाती है। 'खालसा' हितचिन्तन, और 'खालसा' की प्रगति के अतिरिक्त गुरु जी की कोई इच्छा शेष न रही थी, जिसकी पूर्ति के लिए उन्हें कुछ और आयोजन करने की आवश्यकता थी।

गुरु जी के आगरा निवास से सम्बन्धित अन्य अनेक ऐसी घटनाओं के विवरण प्राप्त होते हैं, जो बहादुरशाह से उनके दृष्टिकोण की भिन्नता एवं उनकी स्वतंत्र अस्मिता, चारित्रिक दृढ़ता एवं स्पष्टवादिता के उदाहरण हैं। एक दिन बादशाह के दरबारियों में से सरहिंद के एक विद्वान सैयद ने जब गोबिन्द सिंह जी से कहा कि वे कोई चमत्कार दिखाएँ ताकि वह उन्हें अलौकिक पुरुष मानने की अपनी धारणा को पुष्ट कर सके। तब गुरु जी ने जेब से सोने का सिक्का निकाल कर कहा—"यह भी एक चमत्कार है, जो मैं दिखा सकता हूँ, मुझे जो ललकारता है, मैं उसकी गर्दन उड़ा सकता हूँ।" दरबारी सहम गया। बादशाह के दरबार में, उसी के दरबारी को इस तरह धमकाने की हिम्मत करना गुरु गोबिन्द जैसे निर्भीक सिंह के अतिरिक्त अन्य किस के बस की बात थी? जो बादशाह के दरबार में किसी उच्च पदवी के लिए लालायित हो, उससे कहीं ऐसी बातों की आशा भी की जा सकती है? गुरु जी के आगरा निवास के दौरान ऐसी अनेक घटनाएँ प्रकाश में आती हैं, जो पुनः इस बात की पुष्टि करती हैं कि गोबिन्द सिंह जी का आगरा निवास संभवत: बादशाह से अपनी बात मनवाने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का निर्माण करने के लिए तथा उसके लिए समुचित अवसर की खोज करने के लिए ही था।

संभवत: बादशाह से बातचीत का अवसर प्राप्त करने की आशा में ही उन्होंने १२ नवम्बर, १७०७ ई. को उसके साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान करने का निर्णय लिया, जब वह अपने भाई कामबख्श के विद्रोह से निबटने के लिए जा रहा था। बादशाह के साथ यात्रा करते हुए भी गोबिन्द सिंह जी ने अपनी स्वतंत्रता बनाये रखी। कभी वे उसके डेरे से अलग हो जाते और इच्छित स्थान पर कई-कई दिनों तक धर्म-प्रचार करते। ऐसी स्थिति में कभी-कभी बादशाह उन्हें दर्शन के लिए बुला लेते।[५९] अपने उच्च उद्देश्य को सम्मुख रखते हुए, वे उन मुगल सैनिकों के सिख सैनिकों के साथ किये गये दुर्व्यवहार को भी क्षमा करते रहे, जिन्होंने औरंगज़ेब के शासन काल में उनकी शक्ति को नष्ट करने के यथासंभव प्रयास किये थे। चूँकि वे गुरु के प्रति बहादुरशाह के नम्र व्यवहार को

---

५९. किते दिवस बीते चला साह आगे। प्रभु कउ किते दिवस तउ ठहर लागे।
लिखा साह फरमान नहि ढील कीजै। हमैं आनके आपनी दरस दीजै।
—गुरु शोभा, ११७७०, पृ. १००

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पचा पाने में असमर्थ थे,अतः अवसर पाते ही वे गुरु व शिष्यों के प्रति अपना क्रोध प्रकट करते रहते। व्यवहारकुशल गुरु जी ने बड़े लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन छोटी-छोटी बातों की उपेक्षा करना उचित समझा,जिनके द्वारा जान-बूझकर उन्हें भटकाने का प्रयास किया जा रहा था। इन बातों में उलझने का मतलब होता सिख एवं मुगल सैनिकों के संबंधों की कटुता उजागर करना,जिससे उत्पन्न अप्रियता से कोई भी ईर्ष्यालु अनुचित लाभ उठा सकता था। हो सकता था इससे बादशाह को गुरु जी की बात को अस्वीकार करने का एक बहाना मिल जाता। क्योंकि सत्ताधारी वर्ग की यह खासियत होती है कि कोई भी कार्य यदि नियम अथवा नीति के अनुकूल तो सही बैठता हो किन्तु वह उसे करने की इच्छा न रखता हो,तब संबंधित व्यक्ति विशेष को उलझाना अथवा उसके सामान्य आचरण में से भी खोज-खोजकर खामियाँ निकालना एवं उनका प्रचार करना,जिन्हें वे काम न करने के बहाने के रूप में इस्तेमाल कर सकें,उसकी दिनचर्या में शामिल हो जाता है। भले ही साधारण स्थिति में वही खामियाँ उस व्यक्ति के गुणों के रूप में सराही जाती हों,किन्तु सत्ताधारी वर्ग उन्हें अपने उद्देश्य के अनुरूप ऐसा मोड़ देकर प्रस्तुत करने की फ़िराक में रहता है,जिससे उसे अपनी अनुचित नीति को ढँकने के कवच के रूप में उनका इस्तेमाल किया जा सके, गुरु जी सत्ता के इस मनोविज्ञान को भली-भाँति समझते थे, अतः उन्होंने संयम बनाये रखा।

किन्तु एक लम्बे समय तक इतना संयम एवं इतनी सब सावधानियाँ बरतने के बावजूद गुरु गोबिन्द सिंह ने अन्ततः यह अनुभव किया कि सम्राट एक दुर्बल व्यक्ति है, जो दोष की भली-भाँति जाँच करने के बाद भी दोषी को परखने की हिम्मत नहीं रखता, अपितु अपनी दुर्बलता छिपाने के लिए बहाने बनाता रहता है। यह उसके व्यक्तित्व की दुर्बलता ही थी कि वह सरहिंद के नवाब वजीर खाँ को गुरु साहिब द्वारा माँगे जाने पर उन्हें सौंपने के लिए तैयार न था। जिस प्रकार के बहानों की अपेक्षा मेरुदंड विहीन,ऐसे शासक वर्ग से की जा सकती है जो मृदुभाषी भी बना रहना चाहता है, किन्तु उचित कार्य भी नहीं करना चाहता,वैसे ही बहानों का प्रयोग बहादुरशाह ने भी किया। वह कभी और अधिक शक्ति अर्जित करने की बात कहकर और कभी सैनिकों में विद्रोह होने की आशंका ज़ाहिर कर गुरु जी से कुछ देर और प्रतीक्षा करने के लिए कहता रहा। भला कौन स्वाभिमानी ऐसे व्यक्ति के साथ अधिक समय तक निर्वाह कर सकता है, जो ऊपर से मधुर संबंध दर्शाये और भीतर ही भीतर ईर्ष्या रखे या व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व से इतना आतंकित हो कि किसी की जायज़ माँग को पूरा करने की सामर्थ्य रखते हुए भी किसी बड़ी आशंका से पूरा न करे। न कारण ही न बताये, न कार्य ही करे अथवा स्पष्ट रूप से मना ही करे। ऐसे व्यक्ति की दोस्ती स्पष्टवादी दुर्जन की दुश्मनी से भी अधिक खतरनाक हो सकती है,जिसकी संभावित चोट का कम से कम अनुमान तो किया जा सकता है। गोबिन्द सिंह जी ने भी उस की ढुलमुल नीति को समझ लिया और उन्होंने अनुभव किया कि उस के साथ अधिक समय व्यर्थ करना उचित नहीं, अतः अगस्त, सन् १७०८ ई. में दक्षिण में गोदावरी के तट पर, नन्देड़ में पहुँचकर उन्होंने बादशाह से अलग हो जाने का निर्णय लिया।

जब बहादुरशाह ने उनसे मराठों को दबाने में सहायता माँगी, तब गुरु जी ने उसे स्पष्ट इन्कार कर दिया, क्योंकि उनका विश्वास था कि सिख और मराठों की लड़ाई का उद्देश्य एक ही है। वह है—अत्याचार का विरोध करना, उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि दुष्टों का दमन करने वालों के विरुद्ध वे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

किसी की सहायता नहीं कर सकते । उनके स्पष्ट इन्कार के पश्चात् सम्राट वहाँ से हैदराबाद की ओर चला गया । गुरु के इस इन्कार में गुरु का किसी भी स्थिति में लक्ष्याभिमुखता से परे न हटने के साथ-साथ बादशाह सम्बन्धी उनके विचारों में आई स्पष्टता को भी लक्षित किया जा सकता है ।

नन्देड़ पहुँचकर गुरु जी अपने शिष्यों सहित माधोदास वैरागी को मिलने गये, जिससे मिलने की सलाह उन्हें बुरहानपुर में दादूपंथियों के महंत जैतराम ने दी थी । उससे बातचीत के दौरान ज्ञात हुआ कि वह एक राजपूत का पुत्र था और उसका वास्तविक नाम लक्ष्मणदास था । शिकार के शौक में एक दिन उसने एक गर्भवती हिरणी को निशाना बनाया, जिसके पेट में दो बच्चे थे । इस दर्दनाक दृश्य से लक्ष्मणदास इतना दुःखी हुआ कि ग्लानिवश उसने इस पीड़ा एवं दर्द से भरे संसार में न रहने का निर्णय किया । वह वैष्णव साधु जानकीदास का शिष्य हो गया । तत्पश्चात् उसने योगाभ्यास किया और सिद्ध पुरुषों की कोटि में उसकी गणना होने लगी ।[६०] गुरु जी ने उसे प्रवृत्ति का उपदेश दिया और कर्म करने के लिए प्रोत्साहित किया । उनके हृदयग्राही वक्तृत्व से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने स्पष्ट कह दिया कि मैं आपका बंदा हूँ और आज से आप की आज्ञा का पालन करूँगा ।[६१] वह व्यक्ति, जो संसार से वैराग्य लेकर मोह-माया से दूर अपनी अलग ही दुनिया में निवास करने लगा था, गुरु जी के प्रेरणात्मक वचनों से इस सीमा तक प्रभावित हुआ कि ३ सितम्बर, १७०८ ई. को कि अमृत-पान कर वह सच्चे शूरवीरों के संगठन 'खालसा' में दीक्षित हो गया । यदि गुरु जी के उन वचनों की खोज की जा सके, जो उन्होंने बंदा से कहे, तो निःसंदेह वह आधुनिक युग की 'गीता' के रूप में हमारे सामने आदर्श स्थापित कर सकते हैं । बंदा सिंह के बैरागी अनुयायियों द्वारा 'खालसा' में दीक्षा लेने की संभावना को मद्देनज़र रखते हुए गुरु जी ने घोषणा की कि भविष्य में 'गुरु के लंगर' में केवल सभी शाकाहारी भोजन ही सभी जातियों, धर्मों अथवा संप्रदायों के अनुयायियों में समान भाव से बांटा जायेगा ।

गुरु गोबिन्द सिंह जी ने बंदा को अपना उत्तराधिकारी बना कर अपने द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्यों को आगे बढ़ाने के लिए पंजाब की ओर भेजा ।[६२] बंदा ने गुरु के चरणों का स्पर्श कर शपथ ली कि वह उनके आदेशों का पालन करेगा और उन्हीं के बताये मार्ग पर चलेगा । उसने पंजाब पहुँच कर गुरु की आज्ञा का अक्षरशः पालन कर दिखाया । वह आततायियों की सेना पर काल बनकर टूट पड़ा । उसके वीरतापूर्ण कार्यों से मुगल साम्राज्य की जड़ें हिल गईं । उसने सरहिंद को तहस-नहस कर दिया और नवाब वज़ीर खाँ को युद्ध में परास्त करके उसका सिर धड़ से अलग कर गुरु गोबिन्द सिंह की इच्छा पूरी की । बंदा ने पहाड़ी राजाओं को भी खोज निकाला और उनका भी वध करके गुरु जी के साथ किये गये अन्यायों का पूरा प्रतिशोध लिया ।[६३]

---

६०. The Sikh Religion, Part-V, P. 237.

६१. Transformation of Sikhism, P. 164.

६२. A short History of Sikhs, P. 78.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नंदेड़ में आये हुए गुरु जी को करीब एक महीना हो चुका था। उन्होंने गोदावरी किनारे सुंदर एकांत स्थल पर डेरा डाला था, जहाँ वे प्रतिदिन सुबह धार्मिक दीवान लगाकर संगत को उपदेश दिया करते। पाठ, कथा, कीर्तन आदि भी चलता रहता था। वे शिकार खेलने भी जाया करते। अपने आचरण द्वारा वे सभी अनुयायियों के समक्ष 'खालसा' के उच्च आदर्शों का उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयास करते। धीरे-धीरे नन्देड़ में भी आनंदपुर का सा दृश्य दिखाई देने लगा था, यहाँ भी उनके अनुयायियों की संख्या दिनों-दिन बढ़ती चली गई थी।

यहीं कार्तिक सुदी ३ सं. १७६५ (५ अक्टूबर, १७०८ ई.) को, जिस दिन गुरु जी ने बंदा को पंथ का जत्थेदार बना कर पाँच अन्य शिष्यों के साथ पंजाब भेजा, उनके पास जमशेद खान नाम का एक पठान युवक आया। वास्तव में वह सरहिंद के नवाब वज़ीर खाँ का व्यक्ति था। वज़ीर खाँ को जब यह विश्वास हो गया कि गुरु के शिष्य गुरु के मासूम बच्चों का बदला अवश्य लेंगे, तब वह विरोधियों को चुन-चुन कर मारने पर उतर आया। दूसरे, सम्राट बहादुरशाह की गुरु गोबिन्द सिंह से मित्रता भी उसकी आंखों में खटक रही थी। इसलिए भी वह शीघ्रातिशीघ्र गुरु जी को मार्ग से हटा देना चाहता था। अतः उसने उन्हें मारने के उद्देश्य से उक्त पठान को उनके पास भेजा, ताकि मौका देखकर वह उन पर वार कर सके। ५ अक्टूबर की शाम को जब गुरु जी अकेले लेटे हुए थे और उनके आसपास एक सेवक के अतिरिक्त कोई न था, वह भी सो रहा था। वह पठान गुरु जी के खेमे में आया उसने छुरा निकाल कर गुरु जी के पेट में भौंक दिया, उसके दूसरा वार करने से पूर्व ही गुरु जी ने तलवार निकाल कर उसे वहीं ढेर कर दिया। कोल नाम के अंग्रेज़ सर्जन ने घाव सीकर मरहम पट्टी तो कर दी,[६४] किंतु घाव भरा नहीं। संगतसिंह के अनुसार घाव के भर जाने तथा दुर्भाग्यवश एक बहुत बड़ी कमान पर चिल्ला चढ़ाने का प्रयास करने के दौरान अधिक जोर लगाने के कारण घाव के टांके टूट जाने से उनकी दशा गंभीर होने का जो वृत्तांत प्रचलित है, वह केवल कल्पना मात्र है[६५]।

अपने अंतिम समय का पूर्वानुमान कर, गुरु जी ने विशेष दीवान लगाया, जिसमें उन्होंने अपने शिष्यों को धार्मिक उपदेश दिया और कहा कि उनकी मृत्यु पर कोई दुःखी न हो। जहाँ कहीं शिष्यों में से पाँच ईश्वर भक्त रहेंगे, वहीं गुरु का निवास होगा। 'खालसा' ही गुरु होगा और गुरु ही 'खालसा'। उन्होंने कहा कि उन्होंने 'गुरु ग्रंथ साहब' और 'खालसा' में ही अपनी आध्यात्मिक भावना और शारीरिक आत्मा तिरोहित कर दी है।[६६] गुरु जी ने 'गुरु ग्रंथ साहिब' खोलकर पाँच

---

६३. The Sikh Religion, Part-V, P. 239.

६४. Ganda Singh, The Sikhs, Vol. XVI, P. 47.

६५. The stories about the healing of the Guru's wound ripped it open are not based on facts

—Sangat Singh, The Sikhs In History, P. 83

६६. "Hence forth the Guru shall be the Khalsa and the Khalsa Guru. I have infused my mental and bodily spirit into the Granth Sahib and the Khalsa"

—The Sikh Religion, Vol. V, P. 244.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पैसे और एक नारियल उसके सामने रखा और उसे अपना उत्तराधिकारी जानकर शीश नवाया और 'गुरु मानियो ग्रंथ' कहते हुए यह समझाया कि आज से 'गुरु ग्रंथ साहब' को ही गुरुओं का पार्थिव रूप समझना। जो कोई मुझे 'गुरु ग्रंथ साहब' के शब्द में ढूँढ़ेगा, मैं उसमें मिलूँगा। शब्द ही आपका पथ प्रदर्शक गुरु और शरणदाता होगा। गुरु-गद्दी को लेकर चलते आ रहे विवादों से वे यह जान चुके थे कि गद्दी का कितना अनुचित उपयोग किया जा सकता है; और इससे ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि में वृद्धि की सँभावना अधिक है, इसलिए उन्होंने उत्तराधिकार की परंपरा को ही खत्म कर दिया। लेनिन ने इस प्रकार का जो काम किया, गुरु जी ने वह दो सौ साल पहले ही कर दिखाया।[६७] इतना ही नहीं, उन्होंने उसके स्थान पर स्थापित नवीन परंपरा को ऐसे मनोवैज्ञानिक आधार से संपुष्ट किया, जिसके कारण आज भी सिख धर्म में 'गुरु ग्रंथ साहब' को ही गुरु मानने की परंपरा का अत्यंत श्रद्धापूर्वक पालन किया जाता है। स्वयं को परमेश्वर मानने वालों को तो गुरु जी ने पहले ही आगाह कर दिया था कि ऐसा करने पर वे सब नरक के अधिकारी होंगे—"जो हम को परमेसर उचरिहैं, ते सब नरक कुंड में परिहैं।"[६८]

अपना सर्वस्व 'खालसा' को समर्पित कर देने वाले गुरु के मुख से निकले अंतिम शब्द भी खालसा ही की जय-जयकार से संबद्ध थे। 'वाहे गुरु जी दा खालसा, वाहे गुरु जी दी फतह'—का उच्चारण करते हुए अगले ही दिन, कार्तिकसुदी ५, सं. १७६५ (१७०८ ई.) को उस नश्वर देह को त्याग दिया—

संवत सत्रह सहस भनीजै। अर्द्ध सहस धित अवर गणीजै।
कार्तिक सुदी पंचमी जान। वीरधार निस चढ़े विमान।

(गुरु विलास, पृ ५९९.)

गुरु के स्वर्गलोक प्रस्थान करने के पश्चात् सिखों को एक ऐसे शून्य का एहसास हुआ जो गुरु नानक से लेकर अब तक संपूर्ण गुरु-परंपरा के इतिहास में उनके लिए अकल्पनीय था। उन्हें गुरु के शब्दों का स्मरण हो आया, जिन्होंने स्वयं को 'गुरु ग्रंथ साहब' में समाहित करते हुए इसे सर्वोच्च बना दिया था।

कलम से निःसृत शब्द को देवत्व का स्थान देकर वाणी में प्रकट की गई गुरु की आस्था ने सिखों को एक नया प्रेरणादायक संदेश दिया जो भविष्य में किसी भी समस्या का समाधान प्राप्त करने के लिए बहुत बड़ा आश्वासन था —

गुरुवाणी कहे सेवकजन माने, परतखि गुरु निस्तारे।

गुरु वाणी के रूप में राह दिखाने के लिए मानो प्रत्यक्ष रूप से गुरु जी सदैव उनके संग-संग हैं, इस जीवन्त अनुभूति ने गुरु जी की उपस्थिति से वंचित सिखों को अपूर्व बल प्रदान किया। वाणी

६७. Ornald Tayanbi, A study of History, Oxford Abridgement, P. 1960, P. 745.

६८. विचित्र नाटक, ६/३२

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ही गुरु का रूप धारण कर प्रत्येक स्थिति में उनका मार्ग दर्शन करने के लिए तत्पर हो गई—

वाणी गुरु, गुरु है वाणी, विच वाणी अमृत सारे ।[६९]

वाणी देवत्व की अधिकारिणी हो गई । गुरु की कलम से निःसृत शब्दों ने ही गुरु का रूप ले लिया । यह कलम से निःसृत शब्द ही थे, जिन्होंने युद्ध का दर्शन गढ़ा था और 'खालसा' के हाथ में पवित्र तलवार सौंप कर उसे उसकी स्तुति की ओर प्रेरित किया था और 'खालसा' ने भी उसे प्रभु का रूप मानकर उससे अन्याय के उन्मूलन और धर्म की स्थापना की प्रार्थना की थी । स्वर्गलोक की ओर प्रस्थान करते हुए गुरु द्वारा अपनी आत्मा को 'गुरु ग्रंथ साहब' में तिरोहित करना, शब्द ही में उनके अद्‌भुत विश्वास का परिचायक है । वह विश्वास आज भी 'खालसा' का संबल है और आगामी पीढ़ियों के लिए भी रहेगा ।

■■■

६९. राग नटनाराइन, गुरु ग्रंथ साहब, पृ. ९८२

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

एक युग पुरुष का संदेश

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

''जब तक लोग अपने में एक प्रकार के ध्येय का अनुभव नहीं करेंगे, तब तक सभी एक सूत्र में आबद्ध नहीं हो सकते। जब तक उनका ध्येय एक न हो तब तक सभा, समिति एवं वक्तृता से साधारण लोगों को एक नहीं किया जा सकता। गुरु गोविन्द सिंह ने उस समय क्या हिन्दू, और क्या मुसलमान, सभी को समझा दिया था कि वे लोग कैसे घोर अविचार के राज्य में बस रहे हैं।''

—विवेकानंद साहित्य, षष्ठ खंड, पृ. 68.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

एक युगपुरुष का संदेश

गुरु गोबिन्द सिंह जी ने पूर्व गुरुओं से प्राप्त मानवतावादी दृष्टि को एक संवेदनशील मनुष्य की तरह आत्मसात् ही नहीं किया, उसका संवर्द्धन एवं पोषण कर, युगीन परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में उसे एक नवीन अर्थ भी प्रदान किया। अन्य समकालीन धर्म मत जहाँ उत्तरदायित्व की चेतना को नकार कर व्यक्तिवाद का नारा बुलंद कर रहे थे, वहीं गुरु गोबिन्द सिंह ने धर्म को एक व्यापक सामाजिक अर्थवत्ता प्रदान की और निष्ठावान लोगों की एक ऐसी जमात तैयार की, जिनका कर्तव्य आत्मनिग्रह, व्यक्तिगत साधना आदि तक ही सीमित नहीं था, बल्कि समग्र विश्व मानवता का सरोकार जिनकी चिन्ता का विषय था। अपनी आध्यात्मिक भावना में उन्होंने व्यक्ति की आध्यात्मिक एवं नैतिक शुद्धता को स्वीकार तो किया, किन्तु उन्हें उस समाज के केन्द्र में रखा जहँ शोषित-पीड़ित मानवता की सेवा को महत्त्वपूर्ण समझा गया तथा जाति की सर्व स्वीकृत मान्यताओं का निषेध किया गया। इस वैशिष्ट्य ने उसे अन्य समकालीन आध्यात्मिक आंदोलनों की अपेक्षा सामाजिक ही नहीं, राजनीतिक क्षेत्र में भी अत्यधिक प्रभावशाली एवं सशक्त बनाया। उनका यही मानवतावादी दृष्टिकोण उस युग की महान उपलब्धि—'खालसा' का जनक बन गया, जिसने हिन्दू धर्म के अस्तित्व को सुरक्षित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। जैसा कि कहा जा चुका है, धर्मानुराग को शौर्य में परिणत करना और वह भी विशुद्ध शौर्य में नहीं, भक्ति मिश्रित शौर्य में तथा एक पुनीत धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए वीरतापूर्वक युद्ध करते हुए रणभूमि में प्राप्त की गई मृत्यु को सर्वाधिक शुभ कर्म के रूप में स्थापित करना सरल कार्य न था। वह भी ऐसे समाज के समक्ष जिसे राजनीति, युद्ध आदि से कोई सरोकार न था। अस्त्र-शस्त्र से जिसका दूर-दूर तक वास्ता न था। यह किसी ऐसे महामानव द्वारा ही संभव था जो मानवता की स्थापना के मार्ग में सर्वस्व समर्पित करने के लिए कटिबद्ध हो। गुरु गोबिन्द सिंह ऐसे ही महामानव थे, मानवता की रक्षा को जिन्होंने अपने जीवन का धर्म बना लिया। 'खालसा' ऐसे ही व्यक्तियों की जमात तैयार करने का महाप्रयास था, जो सही अर्थों में मानव कहलाने के अधिकारी हों।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मानव वही है, जिसमें मानवता हो। दया, दान, प्रेम, परोपकार, सत्य, अहिंसा, क्षमा, सदाचार, सच्चरित्रता आदि जिन भिन्न-भिन्न तथ्यों के द्वारा विभिन्न शास्त्रों एवं महामनीषियों ने मानव का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयास किया है, उन सभी के मूल में मानवता है। मानवता एक उत्कृष्ट स्वभाव या धर्म है, जिसे अर्जित किया जाता है, जो आनुवंशिकता से प्राप्त नहीं होता। आनुवंशिकता मानवीय रूप प्रदान कर सकती है, मानवता नहीं। अतः वेदों ने कहा—'मनुर्भव'—मनुष्य बनो। इसे ही ग्रीस के एक सुप्रसिद्ध दार्शनिक के उदाहरण से समझ जा सकता है, जो दिन के समय लालटेन ले कर भीड़भाड़ वाले इलाकों से गुजरता हुआ जंगल की ओर जा रहा था। कुछ लोगों ने पागल समझ कर ध्यान नहीं दिया, कुछ ने पूछा—"आप सूर्य के प्रकाश में भी लालटेन जलाकर गहरी निगाहों से क्या ढूँढ रहे हैं?" दार्शनिक ने उत्तर दिया—"ऐ एथेन्सवासियो, मैं मनुष्य की तलाश कर रहा हूँ।" प्रश्न आया, "क्या हम मनुष्य नहीं हैं?" दार्शनिक ने उत्तर दिया—"नहीं तुम मनुष्य नहीं हो, तुममें से कोई व्यापारी है, कोई सरकारी अफसर, कोई किसान है, कोई अध्यापक अथवा विद्यार्थी, किन्तु मनुष्य नहीं है।" दार्शनिक के कथन का भाव यह है कि मनुष्यता व्यक्ति के पद, ओहदे, व्यवसाय आदि के अतिरिक्त होती है। मानवता के लक्षण धारण करके कोई भी व्यक्ति सही अर्थों में मानव बनने का प्रयास कर सकता है, भले ही उसका कुल अथवा जाति कोई भी हो, वह शिक्षित हो अथवा अशिक्षित। गुरु जी का 'खालसा' ऐसे ही मानवों की संस्था थी जिसमें नाई, छीपा, लुहार, मोची, ठठेरे, साबुनगीर आदि नीची समझे जाने वाली जातियों और व्यवसायों के ऐसे सभी लोग सम्मिलित थे, जिनके हृदय में सत्य एवं न्याय के लिए बलिदान की भावना विद्यमान थी। अन्याय और अत्याचार का विरोध करने के लिए जो प्राण हथेली पर लिए घूमते थे। उदात्त मूल्यों के लिए जो सिर दे देते, लेकिन मुँह से उफ़ न उचारते थे। मानवता की सेवा करने वाले ऐसे बलिदानियों की संस्था के रूप में 'खालसा' ने जन्म लिया था, जिसमें कुल, गौत्र, जाति, व्यवसाय आदि का कोई महत्त्व न था। मानवता के प्रति सच्चे हृदय से समर्पण ही, जिसके प्रवेश का आधार था।

स्मृतियों में मानव धर्म के जो दस लक्षण बताये गये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्म लक्षणम्।

इनमें से यदि एक भी लक्षण व्यक्ति में पूर्णतः निहित हो, तो अन्य नौ स्वतः समाहित हो जाते हैं तथा व्यक्ति सच्चा मानव बन जाता है और मानवता सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाती है। उपर्युक्त दस धर्मों—धृति, (धैर्य), क्षमा, दम (बाह्य इन्द्रियों का निग्रह), अस्तेय (चोरी अथवा आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना), शौच, इन्द्रियनिग्रह, (सद्) बुद्धि, विद्या, सत्य तथा अक्रोध—के दस आदर्श मानव महर्षि दधीचि, महर्षि वशिष्ठ, अर्जुन, लिखितमुनि, देवमाता अदिति, अद्रोहक, महाराज जनक, महर्षि व्यास, हरिश्चन्द्र, श्रीमन्नारायण क्रमशः तत्तद् धर्मों में हमारा मार्ग दर्शन करते हैं। इन्होंने अत्यंत विकट परिस्थितियों में भीषण विपत्तियों के दौरान भी मानवता का साथ नहीं छोड़ा। मध्यकाल में गुरु गोबिन्द सिंह भी ऐसे महामानव के रूप में उदित हुए, जिनके

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

व्यक्तित्व में मानव के उपर्युक्त सभी लक्षणों की छवियाँ आद्यंत स्पंदित हैं। सत्य, दम, इन्द्रिय निग्रह, शुचिता और पवित्रता तो उनके व्यक्तित्व के कूट-कूटकर भरी हुई थी। विकट से विकट परिस्थिति में भी धैर्य सदैव उनका संबल बना। पिता की शहादत हो अथवा चारों पुत्रों के बलिदान का क्षण, मुगलों की असंख्य सेना द्वारा किये गये आकस्मिक आक्रमण हों अथवा विपत्ति के समय चालीस सैनिकों द्वारा साथ छोड़ने का निर्णय— किसी भी परिस्थिति में गुरु गोबिन्द सिंह अधीर होते दिखाई नहीं देते। 'खालसा' की प्रगति की कामना ही उनके हृदय में शेष रहती है—'चार मुए तो क्या हुआ, जीवित कई हज़ार'—केवल कथन में ही नहीं, उनके आचरण में भी सर्वोपरि स्थान पर दिखाई देता है। सत्य, और धर्म आजीवन उनके प्रत्येक कार्य का आधार रहा। धर्मपरक आचरण द्वारा ही उन्होंने अद्‌भुत सफलताएँ हासिल कीं। धर्म से पाई गई सिद्धि ही स्थायी होती है—अधर्म द्वारा पाई सफलताएँ बहुत शीघ्र ही समाप्त हो जाती हैं। वह मनुष्य को आत्मसंतोष तो दे ही नहीं सकती, उसकी मानवता का भी समूल नष्ट कर देती है। इसे गुरु जी बहुत अच्छी तरह समझते थे। अतः उन्हेंने स्वयं/तो धर्मपरक आचरण किया ही, 'खालसा' को भी यही शिक्षा दी। धर्म के मार्ग पर चलते हुए यदि असफलता भी प्राप्त हो, तो वह भी एक अनुभव होता है जो आगे बढ़ने के इच्छुक राही के लिए मार्ग दर्शकसिद्धांत तय कर देता है, और अन्ततः सफलता प्राप्त होती ही है, गुरु जी का संपूर्ण जीवन जिसके प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया जा सकता है। धर्म मार्ग पर चलते हुए बुद्धि सदैव गुरु जी की मार्गदर्शिका बनी। भीषण से भीषण परिस्थितियों में भी अपनी सूझ-बूझ और त्वराबुद्धि से शीघ्र आगे बढ़ने की राह तलाश लेना गुरु जी के ही बस की बात थी। लक्ष्य सिद्धि के लिए विद्या अध्ययन और अध्यापन ही नहीं, सर्जनात्मक कौशल का भी आश्रय लिया और काव्य रचना भी की। ऐसे योद्धा द्वारा, जिसका एक पाँव रणभूमि में हो अभीष्ट प्राप्ति के लिए किया गया, अध्ययन, अध्यापन एवं लेखन—तीनों का अद्‌भुत प्रयोग आश्चर्यचकित कर देता है। उस समाज में, जिसमें पीढ़ियों से चले आने वाले धार्मिक संस्कार भक्तों की मानसिकता में रच-बस गये हों, किसी भी धार्मिक आख्यान में किए गये परिवर्तन के दौरान हल्की से भूल भी महँगी पड़ सकती थी, किन्तु गुरु जी ने मानव मन को समझने की अपनी अनोखी सामर्थ्य, कल्पनाशीलता और रचनात्मक कौशल से पौराणिक कथाओं को इस रूप में ढाला कि जनता उनकी सत्यता पर भी संदेह न करे और स्वयं भी वैसा ही आचरण करने के लिए प्रयत्नशील हो जाये। ये सभी विशेषताएँ उन्हें तो सच्चा मानव साबित करती ही हैं, सच्चे मानवों की उनकी खोज को भी निर्देशित करती हैं, जो उन्होंने 'खालसा' के माध्यम से आजीवन जारी रखीं। इस दृष्टि से गुरु गोबिन्द सिंह शास्त्रों के अनुसार निर्धारित मानव की चार कोटियों में से आदर्श मानव की कोटि के अधिकारी माने जा सकते हैं। आदर्श मानव, वे मानव हैं जो तेज, शौच, क्षमा प्रभृति अपने गुणों से मानवता को अलंकृत करते हैं। गुरु जी ऐसे ही आदर्श मानव थे, जिन्होंने संपूर्ण जीवन मानवता को बचाने के लिए समर्पित कर दिया। "ऐसे ही आदर्शों के लिए स्कन्दपुराण में कहा गया है—

सः नरो मण्डनंभूमेर्देशस्यनगरस्य च"।

शास्त्रों में निर्धारित मानव की शेष तीन कोटियाँ—मानव, पशु मानव या अमानव और दानव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

में से सत्त्व प्रधान, दैवी संपदा से युक्त मानव, मानव कोटि में आते हैं, जबकि निहायत स्वार्थी रजोगुण प्रधान आसुरी एवं दैवी संपदाओं के बीच में स्थित मध्यम व्यक्ति अमानव या पशु मानव कहलाते हैं, जो मात्र अपने लिए जीते हैं, अपने से इतर जिन्हें किसी से कोई सरोकार नहीं होता। काम, क्रोध, लोभ, मोह प्रभृति विकारों के आगे विवश होकर अपनी मानवता को खो देने वाले, विषय को देखते ही आसुरी व्यवहार करने वाले, तपोगुण प्रधान अधम श्रेणी के व्यक्ति, दानव की संज्ञा के अधिकारी हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि गुरु गोबिन्द सिंह ने 'खालसा' के माध्यम से सच्चे मानवों को तो श्रेणीबद्ध किया ही, पशु मानवों को भी मानव की श्रेणी तक पहुँचाने के लिए अनथक प्रयास किए। यह सारा आयोजन राष्ट्र को दानवों के चंगुल से मुक्त कराने के लिए किया गया। तद्युगीन अत्याचारी शासक और उसके क्रूर दरिन्दे दानव ही की संज्ञा के अधिकारी हैं। मानवता को अपमानित करने का कोई अवसर जिन्होंने हाथ से नहीं जाने दिया। आसुरी प्रवृत्ति वाले ऐसे ही दानवों के आधिक्य से विश्व मानवता जब-जब पथ-भ्रष्ट होती हैं, तब-तब उसके मार्ग प्रदर्शनार्थ प्रथम कोटि के आदर्श मानव अथवा महापुरुष का अवतरण भी होता है, जो पीड़ित मानवता को समुचित मार्ग ही नहीं दिखाते, अपितु मानव को आदर्श मानव की और पशु मानव को मानव की कोटि तक पहुँचाने के लिए प्रयासरत रहते हैं। हमारे देश में भी जब-जब मदान्ध, असहिष्णु दानवों द्वारा मानवता को कुचला गया, संकट की उन घड़ियों में "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम" के पावन उद्देश्य से यहाँ सदैव किसी न किसी बलिदानी पुरुष अथवा आदर्श मानव का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने सूर्य की भँति उदित होकर, निराशा और असंतोष के घने अंधकार को चीरकर, समूचे परिवेश को नवीन आलोक एवं नई आभा से मंडित कर दिया और मानवता को संरक्षण प्रदान किया। गुरु गोबिन्द सिंह ऐसे ही आदर्श मानव थे, जिनमें मानव मात्र के कल्याण का पथ प्रशस्त करने की अपूर्व सामर्थ्य निहित थी। अभिशप्त मानवता को पुनर्स्थापित करने में जिसका उन्होंने भरपूर उपयोग किया।

नीत्शे ने कहा था—"जीवन का आज मनुष्य है, कल सुपरमैन होगा", किन्तु गुरु नानक ने मनुष्य को ही जीवन का आज बताया था और जीवन का कल भी मनुष्य को ही माना था। मनुष्य ही गुरु गोबिन्द सिंह की दृष्टि का केन्द्र बना। उन्होंने स्वयं तो भ्रातृत्व, प्रेम, समानता एवं न्याय के विरुद्ध आतंक मचाने वाले दानवों के दमन का प्रण किया ही, 'खालसा' सैनिकों को भी इसी ओर प्रवृत्त किया। यही कारण है कि मानवीय मूल्यों की स्थापना 'खालसा' के उद्देश्यों में सदैव सर्वप्रथम स्थान की अधिकारिणी बनी। यह ठीक है कि आज हम निपट व्यावसायिक और उपभोक्तावादी युग में जी रहे हैं। हमारी बुनियादी मर्यादाएँ, निष्ठाएँ और मूल्य ध्वस्त होते जा रहे हैं, तो भी केन्द्र में तो मनुष्य रहेगा ही। मानवीय चिन्ता के दायरों को सीमित नहीं किया जा सकेगा। आज के समाज में व्याप्त अराजकता, भटकाव, निराशा, अन्याय, दुराचार, असत्य आदि के चलते मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा के लिए अद्भुत विशेषताओं से सांमजसित आदर्श मानवों की आवश्यकता है। गुरु गोबिन्द सिंह के व्यक्तित्व में ऐसी ही विविध किन्तु अद्भुत दिखाई देने वाली विशेषताओं का समन्वय दिखाई देता है, जिनके अभाव में राष्ट्र का उत्थान संभव न था। उच्चतम मानव मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लिए गुरु गोबिन्द सिंह का व्यक्तित्व आज भी हमारे सामने मशाल की तरह खड़ा है। आज मृत-प्राय होती जा रही संस्कृति में नए प्राण फूँकने के लिए आवश्यकता है गुरु गोबिन्द सिंह जैसे त्यागी पुरुषों की, जो तली पर सिर रखकर सर्वस्व बलिदान की कामनाएँ से सामने आयें और मूल्यों की तलाश का जोखिम उठायें। राष्ट्र के विकास की भूमिका का निर्माण तभी संभव है, क्योंकि मानवता की बुनियाद पर खड़ा राष्ट्र ही आकाश में चमकने वाले सूर्य के समान अपने आलोक से संपूर्ण विश्व को आलोकित कर सकता है। इस संदर्भ में डा. एलेक्सी कारेल का कथन अत्यंत समीचीन जान पड़ता है—"जब, तन, मन, बुद्धि और प्राण पर मानवता का नियंत्रण हो जायेगा, तभी राष्ट्र का निर्माण हो सकेगा।" कहने की आवश्यकता नहीं कि आदर्श राष्ट्र के निर्माण के लिए देशवासियों का आदर्श मानव होना जरूरी है। जिसके लिए गुरु गोबिन्द सिंह का व्यक्तित्व हमारा पथ आलोकित कर सकता है।

ऋग्वेद में कहा गया है, "इन्द्र (पुरुषार्थी मानव) उल्लू के समान प्रकाश (ज्ञान) विरोधी आचरण, भेड़िए के समान क्रूरता, कुत्ते के समान लड़-झगड़कर दुम हिलाकर जीवन यापन, चकवे के सदृश अतिरिक्त काम विकार, गरुड़ के समान घमण्ड और गिद्ध जैसा दूसरे का मांस (संपत्ति) नोच-नोंच कर खाना छोड़ दे तथा इन दुष्ट राक्षसों (दुष्प्रवृत्तियों) को पत्थरों से मारकर भगा दो। अर्थात् इन राक्षसों को दूर कर देने वाले व्यक्ति में तेज, शौच, अद्रोह, आदि सद्गुण स्वतः ही विकसित हो जाते हैं; काम, क्रोधादि अमानवीय व्यवहारों से बचकर ऐसा व्यक्ति समाज और राष्ट्र की सीमा को पार करता विश्वमानव—अतिमानव बन जाता है। वह ईश्वर से अधिक जीवन की उपासना करता है क्योंकि उसे प्रत्येक प्राणी ईश्वर का स्वरूप प्रतीत होता है। ऐसा ही व्यक्ति राष्ट्र निर्माण की भित्ति में मजबूत पत्थर का स्थान ग्रहण कर सकता है। गुरु गोबिन्द सिंह ऐसे ही अतिमानव थे, जिन्होंने आज से करीब तीन शताब्दी पूर्व सभी प्राणियों को एक ही ज्योति से उत्पन्न मानकर, मनुष्य को मनुष्य के नाते ऊपर उठाया और राष्ट्र को ऐसा सुदृढ़ आधार प्रदान किया जिसके परिणामस्वरूप आज वह अपने इस रूप में दिखाई दे रहा है।

पिता के बलिदान के पश्चात् अपने समाजगत परिवेश के प्रति जिस गुरु-गंभीर उत्तरदायित्व को निभाने का संकल्प गुरु ने धारण किया था, उसके लिए बड़े से बड़ा बलिदान देने में भी वे पीछे नहीं हटे और अपने अथक प्रयासों से उन्होंने राष्ट्रवासियों की मनोवृत्ति का रूपांतरण कर, उन्हें मानवता के पथ पर अग्रसर किया। उनका यह प्रयास आगामी पीढ़ी की भी श्रद्धा और आदर का अधिकारी होगा।

आज मूल्यों के क्षरण के इस काल में, जबकि भौतिकता की चकाचौंध से चुँधियाई हुई युवा पीढ़ी निरंतर निपट व्यवसायी होती जा रही है, सामाजिक प्रतिबद्धता को हाशिए का विषय बना कर वह अपने-अपने अस्तित्व की चिंता में रत है, उसकी चित्तवृत्तियों के परिष्कार की आवश्यकता पुनः बनी हुई है। एक-दूसरे को नरक मानने वाली इस पीढ़ी ने सामूहिक चेतना को अनावश्यक मानकर, अपने एकाकीपन में स्वयं को सुरक्षित महसूस कर यह कवच ओढ़ा अवश्य था, किंतु धीरे-धीरे इस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

एकाकीपन ने इसकी जड़ें खोखली कर, इसे एक प्रकार से नरक की यातना भोगने को विवश कर दिया। मानसिक असंतुलन, फ्रस्ट्रेशन, भय, कुंठा आदि जिसके परिणाम के रूप में दिखाई दे रहे हैं। ऐसे समाज की कटी पतंग को संभाल कर, उसमें अनुशासन एवं सामुदायिक चेतना से सनी डोर देने के लिए आज पुनः गुरु गोबिन्द सिंह जैसे महामानव की आवश्यकता है, जो एकल रूप से अपनी स्वायत्तता से चिपटे युवा वर्ग को 'खालसा' की सामूहिक चेतना से युक्त कर सकें। सामूहिकता की भावना ने जिस प्रकार 'खालसा' सैनिकों को अद्‌भुत बल प्रदान कर उन्हें विकट परिस्थितियों से जूझने के लिए तत्पर किया, सामूहिकता का वह भाव हमें आज भी समाज और राष्ट्र से संबद्धता का एहसास देकर हमारी जड़ें मज़बूत कर सकता है। 'खालसा' के मानव प्रेम के आदर्श आज भी हमें नया चिंतन और संदेश दे सकते हैं।

इसी संदर्भ में सामूहिकता से जुड़ी 'खालसा' की दोनों परंपराओं—'संगत' और 'पंगत'—का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। संगत सामूहिक जीवन में जीवन की सार्थकता की प्रतीति कराने में समर्थ है तो पंगत सब प्रकार के भेदभाव भूल कर प्रेम भाव से एकसाथ भोजन करने और अनुशासनबद्ध जीवन बिताने की महत्ता का प्रतीक है। आज के विघटनकारी युग में, जब हमारा देश संकट के दौर से गुज़र रहा है, हिन्दू-मुस्लिम, सिख-ईसाई सब अपनी शक्तियों को परस्पर एक-दूसरे को हानि पहुँचाने में अपव्यय कर रहे हैं, धर्म, जाति, स्थान आदि विभिन्न आधारों पर जब सांप्रदायिक शक्तियाँ पूरी ताकत से भारत को विघटित करने में लगी हुई हैं, इन दोनों परंपराओं का अनुकरण सांस्कृतिक एकता एवं धार्मिक अखंडता की स्थापना के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण साबित हो सकता है। यहीं यह उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा कि इन परंपराओं को समय की माँग के अनुरूप हल्के फेरबदल के साथ भी स्वीकारा जा सकता है।

नवीन के ग्रहण और पुरातन के त्याग का संकेत हमें स्वयं गुरु जी के आचरण से ही मिल गया था, जब उन्होंने सत्ता की पिपासा से व्यक्ति के अधःपतन की संभावना को समझकर मसन्द प्रथा को खत्म किया था तथा 'गुरु मानियो ग्रन्थ' की नवीन स्वस्थ परंपरा का सूत्रपात किया था। यह रूढ़ियों से न चिपके रहने तथा युगीन आवश्यकता के अनुरूप नूतन प्रथाओं के प्रचलन के स्वीकार का संदेश है। यों भी 'खालसा' स्वयं सामाजिक उत्तरदायित्व की अनुभूति का साकार रूप था। उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका अपने भीतर अनारोपित सामाजिक दायित्व का स्वयं अनुभव करने वाले मनुष्यों की प्रतिष्ठा करने में होनी चाहिए, न कि किसी प्रकार के दबाव से परिवर्तन को स्वीकार करवाने में। आरोपित रीतियाँ तो अपना महत्त्व खो बैठती हैं, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी हम इसे समझ सकते हैं।

संगत-पंगत ही नहीं, खालसा के सभी सिद्धांतों को बार-बार समझना, एक आत्मीय एहसास से होकर गुज़रना है। सकारात्मक सोच, लक्ष्य-निर्धारण, आत्म-नियंत्रण, कठिन श्रम, अध्यवसाय, दृढ़ आत्मविश्वास एवं इच्छा शक्ति, समय के महत्त्व एवं कर्तव्य की पहचान, समदर्शिता का भाव आदि 'खालसा' की सफलता के ये सभी बिन्दु अपने समग्र प्रभाव के रूप में आज के युवा वर्ग के लिए सफलता के वाहक बन सकते हैं। यदि इन विभिन्न बिन्दुओं के प्रत्येक पहलू का भली-भाँति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अध्ययन कर, उसे आचरण में उतारने का प्रयास किया जाये तो इसमें कोई संदेह नहीं कि निराश व्यक्ति भी आशान्वित हो उठे। गुरु गोबिन्द सिंह ने आत्मविश्वास एवं स्वाभिमान के जिस मंत्र से प्रत्येक शिष्य की निराशा को आशा में बदला था, वह आज के युवाओं की कथनी और करनी, सिद्धांत और आचरण में ऐक्य लाने तथा उनके जीवन को सँवारने में, अपूर्व योगदान देने में समर्थ है। आज का युवा वर्ग जैसे जीवन के हर मोड़, दिशा के हर चौराहे पर उचित राह की तलाश में दिग्भ्रमित दिखाई देता है। समुचित लक्ष्य चयन के लिए धैर्य, सामर्थ्य अथवा आत्मविश्वास के अभाव में वह इसी चौराहे की किसी एक राह को चुनकर बिना सोचे-समझे उस और चल देता है ऐसे में उसका मार्ग निर्देशन कर, उसमें न केवल आत्मविश्वास एवं भले-बुरे के विवेक की क्षमता उत्पन्न करने के लिए बल्कि आत्मावलंबन रूपी ज्योति जलाने और उसके प्रकाश में सफलता की उड़ान भरने का संदेश देने के लिए 'खालसा' के सिद्धांतों की अहम् भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। आवश्यकता केवल उन्हें सही-सही आत्मसात् करने की हैं जिस प्रकार असंभव सी प्रतीत होने वाली समाज के रूपांतरण की प्रक्रिया को गुरु जी ने बुद्धिकौशल, सूझबूझ, धैर्य एवं कठिन अध्यवसाय से संभव कर दिखाया, वह आज के युवावर्ग में सकारात्मक सोच उत्पन्न करने के लिए अनुकरणीय है

किसी भी स्थिति को असंभव न मानने की तो भारतवर्ष की प्राचीन परंपरा रहा है। 'महाभारत' में महर्षि वेदव्यास ने समुद्रमंथन का वर्णन किया है। विराट महासागर का भी मंथन संभव है क्या? वह कैसे संभव होगा? मंथन से निकलने वाली वस्तुएँ कौन-कौन प्राप्त करेगा? मंथन के दौरान क्या-क्या समस्याएँ एवं बाधाएँ आ सकती हैं, आदि प्रत्येक बिन्दु का विवेचन इस आख्यान में प्राप्त होता है। जो इस बात का प्रमाण है कि हमने समुद्र मंथन को भी असंभव नहीं माना, हम हताश होकर नहीं बैठ गये कि यह कैसे संभव होगा। इसी प्रकार गुरु गोबिन्द सिंह जी भी यदि हार मान लेते, पूरे समाज की निष्क्रियता, तटस्थता एवं उदासीनता के समक्ष यही सोचकर समर्पण कर देते कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता तो शायद समाज आज जिस रूप में दिखाई दे रहा है, वह न होता। उस समय, जब प्रत्येक हिन्दू राजनीतिक चेतना से शून्य मान-अपमान से रहित, शासकों के अत्याचार का शिकार बना चुपचाप मार खाने को ही अपनी नियति समझकर जी रहा था, यहाँ तक कि धर्म परिवर्तन के लिए होने वाले बल प्रयोग का विरोध करने की सामर्थ्य भी उसमें न थी, ऐसे समाज के रूपांतरण को यदि गुरु गोबिन्द सिंह भी असंभव समझते, तो मानव की चार कोटियों में से पशुमानव और दानव ही शेष बचे होते। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। गुरु जी आदर्शमानव का रूप धारण करके ऐसी शक्तिशाली दानवी राजनीतिक सत्ता के समक्ष लौह दीवार की भाँति सीना तान कर खड़े रहे, मानव व्यक्तित्व को निरर्थक एवं नगण्य सिद्ध करने की जिसे आदत पड़ चुकी थी। किसी भी तरह का आर्थिक-राजनैतिक अवलंब न होने के बावजूद गुरु विशाल जनसमूह को साथ स्वनिर्दिष्ट दिशा में ले चलने में सफल हुए। उन का व्यक्तित्व एवं आचरण यह प्रेरणा देते हैं कि असंभव कुछ भी नहीं होता, उत्साह, लग्न, विश्वास और सम्यक् तैयारी से प्रत्येक समस्या से निपटा जा सकता है।

नेपोलियन बोनापार्ट के शब्दों में कहें तो असफलता और असंभव शब्द केवल मूर्खों के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शब्दकोश में मिलते हैं। इस संबंध में कारलाइल का यह कथन ध्यान आता है कि "प्रत्येक अच्छा कार्य पहले असंभव नजर आता है।" असंभव को संभव करने की ठान लेने पर भीतर से एक जुनून उत्पन्न होता है। यही जुनून मनुष्य के विकास का प्रथम चरण है। गुरु गोबिन्द सिंह के साथ भी यही हुआ। इस भीतरी जुनून ने ही उन्हें मानवता की सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ने की सामर्थ्य प्रदान की।

समाज के रूपांतरण की जिस प्रक्रिया से गुरु जी को गुजरना था, उसके पूर्व उनके द्वारा की गई समुचित तैयारी विभिन्न प्रबन्धन पाठ्यक्रमों के लिए ही नहीं, प्रत्येक उस वर्ग के लिए अनुकरणीय है, जो आयोजन से ताल्लुक रखता है। 'खालसा' की सर्जना से पूर्व करीब ढाई दशक तक की गई नियोजना, नीति के प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म बिन्दु पर दृष्टिपात्, उसके स्वरूप, प्रस्तुति, प्रभावादि के आकलन के साथ-साथ उसके पक्ष-विपक्ष दोनों पहलुओं को मद्देनजर रखकर प्रतिपक्ष की योजना का निर्माण, आकस्मिक संयोगों एवं अनियमितताओं से निपटने के पूर्व प्रावधान आदि के निर्धारण के पश्चात् सही समय पर सही वातावरण में की गई उसकी उद्घोषणा, आज के मैनेजमेंट के युग में संपूर्ण साधनों एवं सुविधाओं, प्रशिक्षित कुशल आयोजकों अथवा निर्देशकों के पर्यवेक्षण में राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित विभिन्न उच्चस्तरीय योजनाओं के लिए भी अनुकरणीय हो सकती है। वैज्ञानिक आविष्कारों के लिए अपनाई जाने वाली वैज्ञानिक पद्धति से भले ही आधुनिक युग का परिचय बहुत बाद में हुआ, किंतु 'खालसा' पंथ के निर्माण के क्रम में गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा अपनाई गई नीति के विविध सोपान, उनके नियोजन एवं समुचित निष्कर्ष तक पहुँचने की प्रक्रिया आदि से आज के वैज्ञानिक भी दिशानिर्देश ग्रहण कर सकते हैं तथा आधुनिक युग के योजना आयोगों तथा अन्यान्य आयोगों के लिए भी यह अध्ययन अनुसरण, अनुकरण एवं अनुसंधान की एक महत्त्वपूर्ण सामग्री बन सकती है।

प्रबन्धन की इस कला से आज के उन राजनीतिज्ञों को भी परिचित होना चाहिए, जो निहित स्वार्थों के चलते देश के प्रशासन का प्रबन्ध कर पाने में असफल रहते हैं और उनकी अनीति, अदूरदर्शिता तथा स्वार्थान्धता का परिणाम सामान्य जनता को भुगतना पड़ता है। जिन मूल्यों की स्थापना के लिए गुरु जी आजीवन संघर्ष करते रहे, आज की राजनीति उन्हीं मूल्यों की कब्र पर खड़ी है, जिसमें भ्रष्टाचार को तिलांजलि देने वाला, सत्य का आश्रय लेने वाला, मूल्यों से चिपका आदमी उपहास का पात्र बनता है और अधिक देर तक टिक नहीं पाता। उसकी इंसानियत कराह उठती है। 'खालसा' के सिद्धांत ऐसे ही व्यक्ति के विद्यमान रहने का सामान जुटाते हैं, साथ ही मानवीय मूल्यों को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक चरित्रबल, दृढ़ संकल्प तथा तपस्वी की-सी साधना की ओर संकेत करते हैं। मानवता की खातिर जीने और मानवता की खातिर प्राण देने वाले गुरु गोबिन्द सिंह की राजनीतिक चेतना आज की मानवता की संभावना की कड़ी दर कड़ी तोड़ते चले जाने वाली राजनीति के लिए प्रेरणा का स्रोत हो सकती है। सत्ता से चिपके इन राजनीतिज्ञों को गुरु गोबिन्द सिंह के सत्ता को शिष्यों को सौंप देने तथा कोई भी विशेषाधिकार अपने पास न रखने के निर्णय से भी शिक्षा लेने की आवश्यकता है। जाति प्रथा वाले इतिहास से जुड़े देश में, जहाँ विशेषाधिकार ग्रहण करने अथवा बनाये रखने के लिए संघर्ष की परंपरा रही है, अपने अधिकारों को शिष्यों को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सौंपकर, उन्हीं से दीक्षा ग्रहण करना , गुरु जी की एक नवीन एवं मौलिक राजनीतिक अन्तर्दृष्टि का परिचायक तो है ही, उनके व्यक्तित्व की विराटता, विशालता एवं उदारता का भी सूचक है, जिसका अणुमात्र भी आज के राजनीतिज्ञों में खोजना कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से आधुनिक राजनीति लोकतंत्र के जिस सुदृढ़ आधार पर टिकी हुई है, उसकी नींव रखने का श्रेय गुरु गोबिन्द सिंह को ही दिया जाना चाहिए।

आधुनिक राजनैतिक लोकतंत्र संख्या पर आधारित है, गुणवत्ता पर नहीं, किंतु गुरु द्वारा प्रतिपादित लोकतंत्र गुणात्मक है क्योंकि यह ऐसे व्यक्तियों द्वारा चालित है, जो उत्तम मूल्यों के प्रतिरूप है। आज की लोकतांत्रिक व्यवस्था में, जहाँ चुनाव जीतने के बाद नेता यह समझता है कि कानून व्यवस्था, नियम नैतिकता से उसका सरोकार जन्म-जन्मांतर के लिए छूट गया है। करोड़ों का घोटाला करके, कानून व्यवस्था में से कुछ न कुछ विशिष्ट प्रबन्ध कर लिए जाने पर वह विशिष्ट व्यक्तियों की जमात में बना रह सकता है। ऐसे नेताओं को 'खालसा' के उन लोकतांत्रिक सिद्धांतों को समझने की आवश्यकता है, जहाँ गुरु ने अपना सर्वस्व जनसामान्य को अर्पित कर दिया। गुरु ने जिन आदर्शों पर चलकर इतिहास रच दिखाया, उस जनसामान्य की अवहेलना लम्बे समय तक नहीं की जा सकती। उसकी आतुर पुकार सुनने के लिए, उसका मार्ग दर्शन करने के लिए, उसे विद्रोह के मार्ग पर लाने के लिए जिस दिन किसी गुरु गोबिन्द सिंह का अवतरण हो गया, उस दिन ऐसे नेताओं का अस्तित्व स्वयमेव समाप्त हो जायेगा।

स्वेच्छा से शिष्यों को सत्ता सौंपकर उनमें कुशल संचालक बनने की संभावना तलाशते हुए प्रदर्शित की जाने वाली गुरु गोबिन्द सिंह की आस्था राजनीतिज्ञों के साथ-साथ शिक्षक वर्ग के लिए भी अनुकरणीय है। आज शिक्षक वर्ग भी यदि गुरु गोबिन्द सिंह की तरह निःस्वार्थ भाव से अपने को शिष्यों की सेवा में अर्पित कर सके और मानवतावादी चेतना के प्रचार-प्रसार को ही शिक्षा का उद्देश्य बना लें तो समाज की कायापलट हो सकती है। ऐसा गुरु, जो अपनी प्रत्येक सफलता का श्रेय शिष्यों को ही दे, अपने जीवन तक को शिष्यों की ही देन माने, उसका शिष्य गुरु के आदर्शों की तुला पर सहर्ष तुलने के सिवा और कुछ चुन ही नहीं सकता। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में गुरु और शिष्य सम्मिलित प्रार्थना करते हैं—

ओम् सहनाववतु, सहनौ भुनक्तु।
सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनां
अधीतम् अस्तु। मा विद्विषावहै।

हम दोनों की रक्षा करो। साथ-साथ हमारा पालन पोषण करो। साथ-साथ कार्य करते हुए हम एक-दूसरे के बल में वृद्धि करें। हम दोनों का पठन-पाठन प्रभावोत्पादक हो। हम कभी द्वेषभाव से युक्त न हों। गुरु गोबिन्द सिंह जब '**सेवक शिष्य हमारे तरयहि**' तथा "**सुखी बसै मेरो परिवारा**" जैसी प्रार्थनाएँ करते हैं, साथ ही "**इन्हीं की कृपा सु खड़े हम हैं**" कहकर शिष्यों को सम्मानित करते हैं, तब वे उपनिषदों में वर्णित गुरु-शिष्य के आदर्श संबंध से भी एक कदम आगे बढ़े हुए दिखाई देते हैं। जब शिष्यों की शिष्यता शिरोधार्य कर वे उनकी आज्ञा की अपेक्षा करते हैं, तब ऐसे गुरु की महानता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

की मिसाल संपूर्ण जगत् में खोजनी कठिन हो जाती है। आज के राजनीतिकरण के जाल में फँसे गुरु, जिनके संचालन सूत्र किसी और के हाथ में हैं, गुरु गोबिन्द सिंह की गुरुता के अंश मात्र को ही यदि अपने व्यक्तित्व में उतारने की चेष्टा करें तो युवा पीढ़ी को सही नागरिक बनाने, सही मूल्यों की पहचान कराने तथा उन्हें जीवन संघर्षों से जूझने के लिए व्यावहारिक रूप से तैयार करने के अपने कर्तव्य को सही अंजाम दे सकते हैं। मनुष्य की अंतरंग सद्प्रवृत्ति के प्रति ऐसी आस्था आज के संदेह, भ्रम और शंकाओं के कुहरे में लिपटे मानव के हृदय में विश्वास के सूत्र टटोलने में हमारी मदद कर सकती है। यह मानवीय अस्तित्व में प्रदर्शित गुरु के अगाध विश्वास का ही परिणाम था कि उनका प्रत्येक शिष्य उनकी जीवन दृष्टि को आत्मसात् कर मानव, धर्म, संस्कृति और सामाजिक अधिकारों के लिए निरंतर जूझता रहा। गुरु जी ने उन्हें अविद्या के अंधकार से निकालकर ज्ञान के प्रकाश की ओर प्रवृत्त किया। यही गुरु का कार्य है। यदि वही अपनी भूमिका भूल जाये तो समाज का पतन अवश्यंभावी है।

विश्व में अनेक महापुरुष, अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन गुरुओं की ही बदौलत हो पाये हैं। सिकंदर को अरस्तू जैसा गुरु प्राप्त न हुआ होता अथवा चंद्रगुप्त को चाणक्य का आशीर्वाद नहीं मिलता तो क्या सिकंदर विश्वविजयी और चंद्रगुप्त भारत के प्रथम साम्राज्य का संस्थापक होने का गौरव प्राप्त कर सकता था? निःसंदेह नहीं। समाज को ऐसे महापुरुष गुरुओं द्वारा ही प्राप्त हुए। इससे भी आगे बढ़कर, कल्पना की जाये यदि हिन्दुओं को गोबिन्द सिंह जैसे गुरु प्राप्त न हुए होते तो क्या आज उनका अस्तित्व होता? जाति के मूल को बचाकर सुरक्षित रूप में आगामी पीढ़ी को सौंपने की दृष्टि से गुरु गोबिन्द सिंह का योगदान अतुलनीय है। गुरु की महिमा का यह अद्भुत उदाहरण आज के गुरुओं के लिए अनुकरणीय है जोकि अपने पद की गरिमा की रक्षा करने में समर्थ नहीं रहे हैं। आज शिक्षा के आधुनिक स्वरूप में जिस प्रकार की अराजकता व्याप्त है, उसमें गुरु की भूमिका के समक्ष एक प्रश्न चिह्न उपस्थित हो गया है। इतिहास और पुराण भी साक्षी हैं कि जब-जब गुरु अपने दायित्व से विमुख हुए हैं, तब-तब हमारी संस्कृति पर भारी संकट आया है। महाभारत काल में गुरु द्रोण का वध उन्हीं के एक शिष्य धृष्टद्युम्न द्वारा किया गया। गुरु द्रोण ने भी कहीं संघर्ष अथवा कलह को रोकने के लिए कठोर रुख अपनाया हो, ऐसा कोई प्रसंग 'महाभारत' में नहीं आता। आज भी शिक्षक शिक्षण से कम सत्ता से अधिक जुड़ा हुआ गुरु द्रोण के पदचिह्नों पर चल रह है। इतना ही नहीं, वह इससे भी आगे बढ़ गया है। जब नौकरी पाने के लिए ही वह झूठ एवं अनुचित साधनों का आश्रय लेता है, तो उसे सुरक्षित रखने के लिए भी आजीवन स्वाभिमान बेचकर सत्ता के तलुए चाटना उसकी मजबूरी बन जाती है। ऐसे शिक्षकों से मूल्यों के संरक्षण की आशा भला क्यों कर की जा सकती है। इन्हें आवश्यकता है गुरु गोबिन्द सिंह जैसे महान गुरु के व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त करने की, जिन्होंने मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया, किन्तु न अपना स्वाभिमान ही बेचा, न कोई अनुचित समझौता ही किया। शिक्षक ही नहीं उन्होंने अपने शिष्यों के प्रशिक्षक, नेता और आध्यात्मिक गुरु की भी भूमिकाओं को अदा करते हुए समाज का नवीकरण कर दिया।

गुरु जी ने स्वयं अपने शिष्यों को संस्कृत पढ़ने के लिए काशी भेजा। चूँकि शिष्य नीची कहे जाने वाली जातियों के थे, और संस्कृत को ब्राह्मणों की बपौती माना जाता था, अतः इस संदर्भ में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उन्हें तीव्र विरोध का सामना भी करना पड़ा, लेकिन उन्होंने अपने निर्णय में फेर-बदल नहीं किया। स्वयं काव्य रचना द्वारा मानवीय मूल्यों एवं संस्कृति के संरक्षण के महत्त्वपूर्ण कार्य को तो संपादित किया ही, इसी दिशा में प्रवृत्त कवियों को भी आश्रय दिया। आज जबकि साहित्य संस्कृति रहित होता जा रहा है, लेखन में तेजी से पनप रही व्यवसायिकता और आपाधापी की प्रवृत्ति उसे मानवीय मूल्यों से कोसों दूर ले जा रही है, ऐसी स्थिति में गुरु गोबिन्द सिंह का संपूर्ण साहित्य लेखकों को यह प्रेरणा दे सकता है कि साहित्य में सांस्कृतिक मूल्यों का समावेश किस प्रकार किया जाये। प्रख्यात कवि, कथाकार, आलोचक अज्ञेय ने कहा था—"उस साहित्य की कोई सांस्कृतिक प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, जिसमें कोई सांस्कृतिक अस्मिता नहीं बोलती। जिस साहित्य में देश नहीं बोलेगा उस साहित्य की संसार में कोई प्रतिष्ठा नहीं होगी।" संस्कृति से संबद्ध होने के कारण ही गुरु गोबिन्द सिंह के साहित्य की उस युग में युगांतरकारी परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

अपने साहित्य में संस्कृति की स्वस्थ परंपराओं के ग्रहण, जड़ परंपराओं के त्याग अथवा उनमें युगानुकूल परिवर्तन पर गुरु गोबिन्द सिंह की दृष्टि सदैव केन्द्रित रही। कहने की आवश्यकता नहीं कि युगीन आवश्यकता को मद्देनजर रखकर उन्होंने ईश्वर के प्रचलित विभिन्न रूपों के स्थान पर जिस प्रकार एक अकाल पुरुष की परिकल्पना की तथा अकाल पुरुष को शस्त्रों से संबद्ध कर, उसके शस्त्रधारी रूप की वंदना की, उसने उस युग में भी समाज का बल बन कर उन्हें अन्याय का विरोध करने के लिए प्रेरित किया था, आज के युग में भी उसकी प्रासंगिकता अक्षुण्ण है। तथाकथित आधुनिक वैज्ञानिक युग के लिए गुरु जी के ईश्वर की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ जाती है, जबकि मनुष्य अधिकांश प्राकृतिक रहस्यों को अनावृत्त कर चुका है, और प्राकृतिक शक्तियों को भी पहले की अपेक्षा नियंत्रित कर चुका है किंतु उस सारे क्रम में वह मानव से दूर होता चला गया है। उसकी आत्मा अब अपने आपसे भी बुरी तरह त्रस्त है, और आस्था नदारद है। ऐसे में शस्त्रधारी ईश्वर की संकल्पना पीड़ित एवं भयभीत मानवता को भयमुक्त कराने तथा पुनः निष्ठावान बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। गुरु गोबिन्द सिंह और उनका ईश्वर शस्त्र द्वारा शक्ति अर्जित करने की प्रेरणा तो देते हैं, किंतु साथ ही हमारी अन्तरात्मा को यह निर्देश भी देते हैं कि हम उस शक्ति का प्रयोग बुरे कार्यों के लिए न करें। समाज की भलाई के लिए, मानवता की सुरक्षा के लिए भी उसका उतना ही उपयोग करें, जितना वैयक्तिक हित के लिए। उस स्थिति में जब सभी उपाय शेष हो गये हों, न्याय की स्थापना के लिए तेग की शरण ही बल प्रदान कर सकती है तथा प्रतिपालना कर सकती है—

जय जय जग कारण, सृष्टि उबारन मम प्रतिपारण जय तेगम्

(विचित्र नाटक, १/२)

अत्याचारी के अन्याय को जब बिना शस्त्र प्रयोग के न मिटाया जा सके, ऐसी स्थिति में बिना किसी हिचकिचाहट के "**नमस्कार श्री खड्ग को, करौ सो हितु चितु लाई**"[१] को मन में धारण कर

१. विचित्र नाटक, १/१

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उसे 'अब रक्षा मेरी तुम करो' प्रार्थना कर दुष्ट दलन के कार्य में जुट जाना चाहिए। इसके लिए गुरु जी ने पूरा युद्ध दर्शन प्रदान किया है। किंतु शस्त्र के इस विशिष्ट दर्शन में गौर करने की बात यह है कि परिस्थितियों से उत्पन्न विवशता भले ही सशस्त्र क्रांति का मार्ग प्रशस्त कर रही हो, फिर भी आध्यात्मिक शक्ति की उपयोगिता को हाशिए में नहीं डाला जा सकता। गुरु जी ने भी शस्त्र-प्रयोग की अनुमति अवश्य दी किंतु एक तो केवल दुष्टों के विरोध में ही, दूसरे स्थिति विशेष में ही, जब शेष जब उपाय चुक गये हों और वह भी प्रभु नाम स्मरण के बाद ही। 'मुख ते हरि, चित्त में जुधु बिचारने" वाले योद्धा को भी इसी कारण धन्य माना गया क्योंकि उसके द्वारा लड़ा जाने वाला युद्ध धर्म-युद्ध है, किसी क्षुद्र भाव से प्रेरित युद्ध नहीं और साथ ही युद्ध-क्षेत्र में कूदने से पूर्व वह मुख से हरि नाम का उच्चारण करता है। इसमें निहित भाव को ठीक-ठीक समझने की अनिवार्यता जितनी उस युग में थी, संभवतः आज के युग में उससे कहीं अधिक है। विशेष तौर पर उस समुदाय के लिए जो, गुरु द्वारा प्रदत्त प्रेरणा के रूप में शस्त्र धारण कर मनमाने रूप से उसका उपयोग कर अपने आचरण को धर्म सम्मत ठहराना चाहता है। उसे यह समझना होगा कि गुरु जी की दृष्टि में भुजबल आध्यात्मिक-नैतिक बल से समन्वित होकर ही प्रयोग का अधिकारी समझा गया। प्रकारांतर से आगामी पीढ़ियों के लिए भी शक्ति के दुष्प्रयोग को सीमित कर देना पुनः गुरुजी की दूरदर्शिता को दर्शाता है। जब गुरु स्थिति विशेष में ही आध्यात्मिकता से शून्य शक्ति प्रयोग को अपना समर्थन नहीं दे रहे, तो सोचने की बात है कि सामान्य स्थिति में इसे किस प्रकार धर्म सम्मत माना जा सकता है। मानव प्रकृति के पावन-अपावन, उदात्त-अनुदात्त भावनाओं के ज्ञाता गुरु जानते थे कि शक्ति को धर्म के साथ समन्वित करने पर ही उससे वांछित परिणाम हासिल किये जा सकते हैं। गुरु की दूरान्वेषी दृष्टि आगामी काल में भी उसके सदुपयोग की संभावना तलाशती प्रतीत होती है। आज का निष्प्राण, निरीह समाज कल शस्त्र एवं शक्ति संपन्न होने पर अपने से दुर्बल को ठीक उसी तरह अपने अत्याचार का शिकार न बनाये, जिस तरह आज स्वयं वह क्रूर शासकों द्वारा रौंदा जा रहा है, इस संभावना को भी निर्मूल करने की चिन्ता गुरु जी को अवश्य रही होगी, अन्यथा आपात् स्थिति में प्रत्येक उपाय को अपनी सम्मति प्रदान करने वाले गुरु की शिक्षा परिस्थिति विशेष में मात्र शक्ति-प्रदर्शन भी हो सकती थी, भले ही उसका अर्जन किसी भी प्रकार किया गया हो।

गुरु गोबिन्द सिंह धूम्राच्छादित हिन्दू समाज में एक ऐसे अंशुमाली की तरह उदित हुए, जिन्होंने अपने दिव्य प्रकाश से विषसिंचित राहों के हलाहल को अमृत में परिवर्तित कर दिया। मानवता की मुक्ति की राह पर बढ़ते हुए उन्होंने एक सच्चे कर्मयोगी की तरह इतिहास की भीषणतम चुनौतियों का साक्षात्कार किया, किन्तु प्रत्येक स्थिति में उन्होंने अपने अद्भुत व्यक्तित्व एवं विशुद्ध आचरण का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत किया। जीवन के जिन शाश्वत और सार्वभौम मूल्यों को उनकी पैनी दृष्टि ने विकटतम परिस्थितियों में भी कभी अनदेखा नहीं किया, आज के युग में उनकी पुनप्रतिष्ठा की आवश्यकता बनी हुई है। इस दिशा में गुरु गोबिन्द सिंह का चरित्र और संदेश समाज को एक नई दिशादृष्टि दे सकता है।

■■■

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शब्दानुक्रमणी

अकबर	४६,४७,४९,६७,६९
'अकालउस्तत'	१७,३४,१११
अकालपुरुष	२३,२६,२७,२८,५५,१०६,१३१,१३२,१३४,१३९,१५८
अजमेरचंद	१४९
अजीतसिंह	१४९
अज्ञेय	१८१
अणीराय	१४५
अद्रोहक	१७२
अध्यात्म	२६
'अध्यात्म रामायण'	११६
अनंगपाल	७२
अब्राहम लिंकन	१४०
अमृतराय	३६
अरफ़दीन,पीर	८७
अर्जुन,मुनि	१७२
अरस्तू	१८०
अवतार	२२,२३,१०४,१३५
'अवर ओरियंटल हेरिटेज'	७३
'अहिकामि आलमगीरी'	१६०
आध्यात्मिक (चिन्तन) धारा	२२,५१
आध्यात्मिक भावना	१३३
आध्यात्मिक मूल्य	३२,१०७,१३४
आध्यात्मिक शक्ति	२७
आलिफ खाँ	२०,११३
इन्द्र	१७५

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

इफ़तिखार खाँ, गवर्नर ७७,९०
इब्राहिम फ़कीर १५४
ईसा मसीह ४१
औरंगज़ेब १५,१६,५३,५४,५६,५७,५८,६५,७२,७४,७६,७७,८५,
९०,९१,९९-१०२,११३,११४,१४९,१५१,१५७-१६१,१६३.
कनिंघम १६०
कबीर १९,४८,१२७,१२८,१५७
कर्त्तार सिंह, प्रो. १०३,१६१
कादी पीर मुहम्मद काजी ८८,१५३,१५४
कामबख्श १५९,१६३
कालिका, देवी १३४
काले खाँ १५४
'कुरान शरीफ़' ६६,६९,१५९
कुवरेश ३६
कुश ११६,११७
कृष्णदास २४,१३२
'कृष्णावतार' ३२,१०७,१०९,११६,१४६,१४७.
केशवराय ७०
केशो पंडित १२९,१३०
केसरीचंद १४९
क्राँति ६०,९४,१२०,१२८,१३०,१३३.
खुसरो ४९
गुमान मिश्र २४
गुरु अंगद देव ४५,४६,६१.
गुरु अमरदास ४५,४६.
गुरु अर्जुन देव ४७-५०,५५,८८,१४६.
'गुरु ग्रंथ साहब' ४३,४४,४५,४८,५५,५६,५७-५९,६०,९१,१२७,१५७,
१६७,१६८.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गुरु तेग बहादुर ५२,५५,५६,५७,५८,५९,६०,६१,७७,८३,८६,८९,
९०-९४,९७,१२०,१२६,१३६,१४६,१५३,१७३.
गुरु द्रोण १८०
गुरु नानक १७,२०,४१,४२,४३,४४,४५,५१,१२७,१७४.
'गुरु प्रताप सूरज' १०२
गुरु रामदास ४६,४७,४८.
'गुरु विलास' १४४,९०
'गुरु शोभा' ६२,१०५,१४४,१४५,१६२.
गुरु हरकृष्ण ५४,६१.
गुरु हर गोबिन्द ५१-५४,६१.
गुरु हर राय. ५३,५४.
गुलाबराय १०९
गूजरी, माता ८३,८६,१११,१२९,१३०.
गोकुल चंद नारंग ७२
गोपाल, राजा २०
घमंडसिंह १४९
चक्रध्वज ८३
चंडी, देवी ३२,११८.
'चंडी चरित्र उक्ति विलास' ३२,३४,१०६,११८,१३२,१३४.
'चंडी चरित्र (द्वितीय)' ३२,३४,११८.
'चंडी दी वार' ३२,३४,११८.
चंद्रगुप्त १८०
चाचा हितवृन्दावन दास २४
चाणक्य १८०
'चाणक्य नीति' ३६,१११.
'चौबीस अवतार' ३०
छत्रप्रकाश ७५
छत्रसाल ७१,७४.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जनक महाराज १७२
'जपुजी' १२७
'ज़फ़रनामा' २०,३४,८८,१३०,१५८-१६०.
जमशेद खां १६६
जयसिंह, राजा ७३
जसवंत सिंह राठौर, राजा ७३
'जापु साहब' ३४,१११,१२७.
जीतमल ११०
जीतो देवी १०५,११५,११६.
'जीवनकथा श्री गुरु गोबिन्द सिंह' १०३,१६१.
जुझार सिंह १५३
जुलफ़िकार खाँ ११२
जेता १३६
जैतराम, महंत १६५
जैदेव जसरोटिया ११३
जोरावर सिंह ११६,१५२.
झंडू मसंद ८७
टोडरमल ४९
डल्लासिंह १५६
तारा आज़म १५९
'तुज़क-ए-जहांगीर' ५०
'तुज़क-ए-बाबरी' ५०
तुलसी ११६
'तेत्तिरीयोपनिषद्' १७९
त्रिलोचन ४८
दयाराम खत्री १२५
दयालसिंह ११३
'दशम ग्रंथ' १३८,१४३,१५७.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'दस सवैये'	१२७
दादू	१४२
दारा शिकोह	५३,६८,६९.
दिलगीर खां	१५०
दिलावर खां	२०,११४.
दीनाबेग	१४७,१४९.
दुर्गा,देवी	२५,११६.
दुर्गाराज	७१
देवमाता अदिति	१७२
'धम्मपद'	५१
धर्मदास	१२५
धर्मयुद्ध	३३,१०७,१०८,११७,११९,१३२,१३३,१५७.
धीरमल	५५
नवलसिंह	७६
नवाब करीम बख़्श	८३
नवाब रहीम	८३
नागरीदास	२४
नानकी	५२
नामदेव	४८,१५७.
नीत्शे	१७४
नेपोलियन बोनापार्ट	१७७
परमानंद	४८
परशुराम	८२
पीपा	४८
पृथ्वीचंद	११३
पैंदा खां	१४७,१४९.
प्रजातंत्र	१४०
प्रजातंत्रात्मक प्रणाली	१४१

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

फ़तेहचंद मैनी	८२
फ़तेह शाह	१०९,११०.
फ़तेह सिंह	११६,१५२.
फ़रीद	४८,१५७.
फ़ास्टेट	१६१
बंदा बैरागी	१६५
बलिदान	१७,१९,२०,३०,४१,४५-६२,७८,९४,९७-१०१,१०४, १०५,१२३,१२४,१२५,१२६,१५३,१५५,१५७.
बहादुर शाह	१६१,१६२,१६३,१६४,१६५,१६७.
ब्रजवासी दास	२४
ब्रह्मा	१३२
बाबर	४२,४३.
बाबा बुड्ढा	४७
बाबा सुन्दर जी	४८
बीरबल	४९
बुद्धू शाह	११०,१५४
भगवंत राय खींची	७६
भगवान कृष्ण	२४,३०,८३,१०८,११५,११८.
भगवान दास	४९
भगवान राम	२४,८२,८३,११६,११७,११८.
भर्तृहरि,राजा	३७
भाई दयालदास	५९,९१.
भाई दयासिंह	१६०,१६१.
भाई नंदलाल	११४
भाई मतीदास	५९,९३.
भाई मरदाना	४८
भाई मोहनसिंह	१५५
भाई सतीदास	५९,९१.
भीखन,कवि	४८,१५७.
भीखन शाह	१५४

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भीमचंद	२०,११३,१४९.
भूषण	७५
मक्खनशाह	५५
मतीदास	९१
मदार कनौज़	१५४
मनीसिंह	१५७
महर्षि दधीचि	४१,१७२.
महर्षि वशिष्ठ	१७२
महर्षि व्यास	१७२
महर्षि वेदव्यास	१७७
'महाभारत'	३५,३६,१०५,१११,१७७.
महावत खाँ	६८
महाकाल	२९,३१.
महामानव	१६,१७,३२,३३,७८,१३०.
महेश	१३२
माधोदास बैरागी	१४१
मानवधर्म	१८,१९,४७.
मानवता	१५,१९,२३,२४,२५,२६,२८,२९,३०,३१,३२,४४,४५, ६२,८४,९८,९९,१०१,१०८,१३५,१५०,१५६,१७४.
मानवतावाद	३,२३,१३२,१३५.
मानवतावादी चेतना	१३८
मानवतावादी दृष्टिकोण	२८,११०.
मियाँ खाँ	११२
मियाँ मीर	४९
मिर्ज़ा इनायतुल्ला खान इमसी	१६०
मिर्ज़ा बेग	११५
मीराबाई	१५७
मुरतज़ाखान	५०
मुराद	६५
मैकालिफ़	३५

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मैथिलीशरण गुप्त ९४
युद्ध दर्शन १०७,११९,१२०,१३३,१५०.
'योगवासिष्ठ' ३६
'रघुवंश' ११६
रविदास ४८,१५७.
राजसिंह, महाराजा ७१
राजा राजाराम ८३
राधा २४
'रामचंद्रिका' ११६
'रामचरितमानस' ११६
रामधारी सिंह दिनकर १६८
रामप्रिया शरण ७६
रामराय ५३
रामशरन १०९
रामसिंह ११३
रामानंद ४८
'रामायण' ३५,१०५,१११,११५.
'रामावतार' ११६
रावण ११६
रुस्तमखाँ ११४
लक्ष्मण दास १६५
लतीफ़ १६१
लव ११५
लाल ७६
लालचंद १०९
लिखितमुनि १७२
लेनिन १६७
लोकतंत्र १२६,१४०,१४१.
लोकतांत्रिक (शासन) प्रणाली १२७
लोकतांत्रिक व्यवस्था १४१

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लोकतंत्रात्मक वृत्ति	१४०,११७.
वज़ीरखान	१५२,१५३,१५५,१६२,१६४,१६५.
वृत्रासुर	३९
'विचित्र नाटक'	१८,२८,३४,५९,८७,९२,९३,१००,१०२,१०७,११०, ११३,११४,११७,११८,१३२,१८१.
विद्याधर	३६
विद्यासागर	३६
विद्रोह	५७,६०,६१,८४,८५,९२,९३,९४,९५,१२०.
विरासत	१७,१८,६०,६१,८४,९२.
'विरुद्धों का सामंजस्य'	१५,२०,२३,२५,२६,२९,३१,३३,८०,८२.
विलडूरंट	७३
विवेकानंद	१७,३७.
विश्वामित्र	११६
वीरसिंह बुंदेला	७०
वेणी	४८
शस्त्रनाममाला	१११,१३४.
शहज़ादा मुअज्ज़म	१६१,१६२.
शायस्ता खाँ	७१
शाह आज़म	१६२
शाहजहाँ	५३,६५.
शिवजी	३९
शिवदत्त पंडित	८२
'शिवराज भूषण'	७५
शिवाजी	६७,६८,७१.
'शिवाबावनी'	७५
शुजा	६५
शेर अफ़गान खां	७७,८९.
'श्रीमद्भागवद्गीता'	९१;१११,१६५.
श्रीमन्नारायण	१७२
संगतसिंह (लेखक)	१६६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

संगतसिंह	१५३
संगतिया	१०९
संगोशाह	११०
संतसिंह	१५३
समतावादी दृष्टिकोण	१०६,११०,१२४,१३०.
समाजवाद	१०४,१०५.
सरमद, फ़क़ीर	६८
'स्कन्द पुराण'	१७३
साहबचंद	१२५
सिकंदर	१८०
सिकंदर लोदी	४२
सुन्दरी देवी	१०९
सुक्खासिंह	१३९,१४४.
'सुखमनी'	४८
सुजान चरित्र	७५
सुभिखिया क्षत्री	१०५
सुलेमान शिकोह	६५
सूदन	७५
सूरदास	४८
सेन (भक्त कवि)	४८
सेनापति	१४४,१४५,१६२.
सैफ़ खाँ	१५४
सैयद (विद्वान)	१६३
सैयद खाँ (सिपाही)	१५४
सैयद भीखन	८३
'हनुमन्नाटक'	११६
हरिचंद	११०

■■■

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पिछले फ्लैप का शेष...

इस पुस्तक की धुरी बेशक खालसा पंथ की स्थापना है तो भी इसके ज़रिए गुरु जी के विराट युगाँतरकारी व्यक्तित्व का एक समग्र प्रभाव पैदा होता है। इसमें लेखिका ने अत्यंत अध्यवसाय और मनोयोग से अपनी विश्लेषणात्मक और आलोचनात्मक क्षमता का सार्थक प्रयोग कर जहाँ गुरु जी की जीवन-दृष्टि के सुपरिचित पहलुओं को अपनी नई शैली और नए अंदाज़ में हमारे सामने प्रस्तुत किया है, वहीं उसके अनेक अनछुए पहलुओं को भी उजागर करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से हिन्दी आलोचना जगत् में अब तक जो प्रयत्न हुए हैं, उनमें यह पुस्तक विशेष रूप से रेखांकित करने योग्य है।

आज के समय में, निरंतर तेजी से बदलती परिस्थितियों में, संस्कृति के बदलते हुए समीकरणों में यह पुस्तक समाज के सभी वर्गों के लिए एक नयी चेतना का वाहक बन सकती है और एक नए साँस्कृतिक बोध का सूचक भी, विशेष तौर पर आज की युवा पीढ़ी में प्रेम, करुणा, सहानुभूति, समानता, सेवाभाव आदि नैतिक और मानवीय विशेषताओं और मूल्यों का संचार करने, उनमें सकारात्मक सोच पैदा करने तथा आत्मावलंबन की ज्योति जगाने के लिए **'गुरु गोबिन्द सिंह और खालसा पंथ की स्थापना'** पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय तो है ही, एक साहित्यिक दस्तावेज़ के रुप में भी इसका महत्त्व अन्यतम है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

डॉ. वीणा अग्रवाल

डॉ. वीणा अग्रवाल जविगत डेढ़ दशक से श्री गुरु तेग बहादुर खालसा कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में कार्यरत हैं। 'साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में व्यक्तिवादी चेतना' पर दिल्ली विश्वविद्यालय ने इन्हें पी.एच.डी. की उपाधि प्रदान की।

'चित्रलेखा: सृजनात्मक अनुकृति' (आलो.) तथा 'आधुनिक काव्यधारा' (संपा.) इनकी प्रकाशित कृतियाँ हैं। हिन्दी की महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं एवं संपादित पुस्तकों में इनके कुछ लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

उच्चतर शोध कार्य के लिए इन्होंने [illegible]ल की अपनी रुचि के क्षेत्र-सिख गुरुओं के अध्ययन को आधार बनाया है। पिछले एक दशक से ये दशम गुरु, गुरु गोबिन्द सिंह के बहुआयामी व्यक्तित्व के विविध पक्षों का अवगाहन कर रही हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE